ध्यान-सम्प्रदाय

ध्यान-सम्प्रदाय

लेखक
डॉ० भरतसिंह उपाध्याय

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२१ ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मूल्य १०.००

मुद्रक
लीला प्रिंटर्स
मोहन गली, नई दिल्ली-१

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२१ ए, चन्द्रलोक जवाहरनगर दिल्ली
बिक्री केन्द्र नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मूल्य १०.००

मुद्रक
शीला प्रिंटर्स
मॉडल बस्ती, नई दिल्ली-५

ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक



बोधिधर्म

जापानी चित्रकार सेस्यु (१४२० १५०६)

भूमिका

ध्यान-सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की महायान शाखा का एक सम्प्रदाय है। बौद्ध धर्म के अन्य रूपों की भांति इसका भी उद्गम भगवान बुद्ध की बोधि से हुआ। परन्तु एक विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप में इसके संस्थापक योगी बोधिधर्म थे। बोधिधर्म का आविर्भाव पांचवीं-छठी शताब्दी ईसवी में दक्षिण भारत में हुआ। यहां से वे चीन गये जहां उन्होंने ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की। चीन से यह साधना-विधि कोरिया और जापान गई, जहां अपने जीवन्त रूप में यह आज तक विद्यमान है।

ध्यान-सम्प्रदाय एशिया की एक महान् आध्यात्मिक उपलब्धि है। यह एक ऐसे वृक्ष का फल है जिसकी जड़ें भारतीय भूमि में हैं जो पुष्पित और पल्लवित चीन में हुआ और जापान में जिसमें फसल आई। बौद्ध धर्म का यह सम्प्रदाय इतना मौलिक, विलक्षण और कुछ बातों में इतना बीहड़ या अनगढ़ भी है कि धर्म और दर्शन की सभी रूढ़ियों परम्पराओं विवेचन-पद्धतियों और तर्क-प्रणालियों से ऊबा और थका मानव-मन इसमें एक विशेष ताजगी विश्रान्ति और सान्त्वना का अनुभव करता है। ध्यान-सम्प्रदाय एक अनुभवमूलक साधना पद्धति है। अतः साधकों और अध्यात्म जिज्ञासुओं के लिए उसका विशेष महत्व और उपयोग है। उसकी साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्तियां भी इतनी महान् और जीवन के लिए सृजनात्मक हैं कि उनके किसी अंश का भी किसी भाषा के साहित्य में आना उसके विचारात्मक पक्ष के पुष्ट होने का सबूत दे सकता है। विशेषतः अपने साहित्य और विचार-परम्परा के सन्दर्भ में तो हम ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के ज्ञान की उपेक्षा कर ही नहीं सकते।

ध्यान-सम्प्रदाय का मनोवैज्ञानिक महत्व है। इसका कारण यह है कि उसकी साधना की मुख्य प्रक्रिया अपने स्वभाव के अन्दर देखना या अपने मन के द्वार को खोलना है। 'मन का अध्ययन' उसके लिए कोई सिद्धान्त नहीं, बल्कि साक्षात् अनुभूत प्रयोग है। मन की चिकित्सा का एक पूरा विधान ध्यान-सम्प्रदाय में मिलता है और अन्त में तो वह मन को ही छुट्टी दे देता है। इस सबके मनोवैज्ञानिक अभिप्राय हैं। और वे इतने गम्भीर और दूर तक जाने वाले हैं कि प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता युंग को भी ध्यान-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में यह देना

पड़ा है कि कोई खाली दिमाग का आदमी इसके पास आने का साहस नहीं कर सकता।"

साधना और सत्यानुभूति में प्रकृति का क्या उपयोग है इसे हम ध्यान सम्प्रदाय के अध्ययन से भली प्रकार समझ सकते हैं। प्रकृति ही जापानी सन्तों का दर्शन है। ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया को वे प्रकृति के सहारे ही छोड़ते हैं और उसी के निगूढ़ प्रभाव के परिणामस्वरूप चेतना में सत्य का आकस्मिक अवतरण सम्भव मानते हैं। ज्ञान और गरीबी के सम्बन्ध के लिए भी जापानी सन्तों के जीवन उदाहरण-स्वरूप हैं।

ध्यान-सम्प्रदाय का सबसे बड़ा महत्त्व हमारे लिए इस कारण है कि उसकी अनेक समानताएं भारतीय सहजानुभव और विशेषतः सन्त-मत से हैं। सब प्रकार के द्वैत का भेद का निरसन करते-करते जापानी सन्त थकते नहीं। और ऐसे वे तर्क से नहीं बल्कि अन्तर की अनुभूति से प्राप्त करते हैं जिसे वे 'प्रज्ञा' या 'महा प्रज्ञा' कहकर पुकारते हैं। मध्ययुगीन भक्ति-साधना के अनेक पक्षों में ध्यान-सम्प्रदाय की अद्भुत समानताएं हैं। विशेषतः सन्त-मत के समान ही ध्यान-सम्प्रदाय सहज विश्वास और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित है। कबीर और गोरख को कई ऐसे अनुभव हुए थे जिन्हें हम जापानी सन्तों के अनुभवों से मिला सकते हैं। इतना ही नहीं नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ की बानियों में विशेषतः मन व निरञ्जन-सम्बन्धी कई ऐसे प्रसंग हैं जिनकी व्याख्या हम जापानी सन्तों की बानियों से अच्छी प्रकार कर सकते हैं। योग और निर्गुण-साधना की गूढ़ बातें तो ध्यान-सम्प्रदाय की साधना से और भी अधिक समीप हैं। इन सबके ऐतिहासिक और तात्त्विक अभिप्राय हैं जो अपने आप मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि जो साधना धारा हमारे देश में प्रचलित रह सैकड़ों वर्षों नाथ-योगियों और निर्गुणपन्थी सन्तों के रूप में रही उसी का एक अलग बहता हुआ प्रवाह ध्यान-सम्प्रदाय है। ध्यान-सम्प्रदाय एक विलक्षण प्रकार का योग ही है और उसके अनुयायी उसके साहित्य में योगी कहे गये हैं। यह आश्चर्यजनक न लगेगा कि ध्यान-सम्प्रदाय का एक प्राचीन नाम चीनी भाषा में 'यंग-ची' सम्प्रदाय भी था। 'यंग् ची' शब्द का अर्थ योगी है क्योंकि यह ('यंग्-ची') शब्द संस्कृत योगी की चीनी अनुकृति ही है। जापानी ज्ञानी आचार्य कक्कन् (१२७३-१३६० ई०) ने यंग् ची सम्प्रदाय के नाम से ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है और कहा है कि उसके गुरु दाइ-ओ (१२३५-१३०८ ई०) चीन से इस योगी-सम्प्रदाय को जापान में लाये और इसका उन्होंने वहाँ प्रचार किया। आजकल 'याँगी-सम्प्रदाय' ध्यान सम्प्रदाय

की रिंजाई शाखा का सम्प्रदाय माना जाता है। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के प्राचीन इतिहास की खोज से उसका सम्बन्ध भारतीय योग की धारा से, जिसे हम बौद्ध योग की धारा से, स्थापित होता है जिसकी पुष्टि उसकी साधना के रूप और सिद्धान्तों से भी होती है। मध्ययुगीन हिन्दी कविता में बहने वाली नाथ-योग की धारा से इस प्रकार बौद्ध सिद्धों के माध्यम से ध्यान-सम्प्रदाय अनायास ही सम्बद्ध हो जाता है जिसकी तात्त्विक और ऐतिहासिक रूपरेखा को स्पष्ट करना आवश्यक है।

इसी प्रकार छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र (सातवीं आठवीं शताब्दी ईसवी) के अनुशीलन से भी एक नई बात हमारे सामने आती है जिसका निर्देश या महत्त्व-विवेचन अब तक ध्यान सम्प्रदाय पर लिखने वाले किसी विद्वान् ने नहीं किया है। यह महत्वपूर्ण बात है यह तथ्य कि हुइ-नेंग् ने यहां ध्यान सम्प्रदाय को 'धर्म-सम्प्रदाय' कहकर पुकारा है। हम जानते हैं कि ठीक इसी नाम वाला अर्थात् 'धर्म-सम्प्रदाय' या 'धर्म-मत' ही भारत के पूर्वी भाग में (विशेषतः पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा के कुछ भागों में) बौद्ध धर्म की एक अवशिष्ट या भग्न शाखा के रूप में अब तक विद्यमान है। इस प्रकार यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या हमारे इस 'धर्म-सम्प्रदाय' का ध्यान-सम्प्रदाय के रूप में 'धर्म-सम्प्रदाय' से (जो चीन में 'योगी'-सम्प्रदाय भी कहलाता है) क्या कोई वास्तविक ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्ध भी है या कि यह नाम साम्य केवल आकस्मिक और संयोग-वश ही है? यह समस्या अपने अन्दर गहरे अभिप्राय छिपाये हुए है पूरी मध्ययुगीन रहस्य-साधना के सम्बन्ध में, उसके स्रोतों और नये सम्बन्धों के सम्बन्ध में और मुझे तो लगता है कि इसके समाधान से इस दिशा में एशियाई अध्ययन का भी एक नया परिच्छेद खुलता है। मैंने इस समस्या का अवतरण इस पुस्तिका में किया है और उसके कुछ फलितार्थों को सुझाया है।

ध्यान-सम्प्रदाय एक ऐसी साधना-धारा है जो बुद्ध रूपी मूल स्रोत से निकल कर करीब एक हजार वर्ष तक तो निगूढ़ रूप से धरती के अन्दर ही अन्दर भारतीय भूमि में बहती है और फिर छठी शताब्दी ईसवी से लेकर चीन और तदनन्तर कोरिया और जापान की भूमियों को रस सींचती है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इसकी फसलों को इन देशों के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के सर्वश्रेष्ठ युगों में पाते हैं। इस साधना-धारा का अध्ययन और मनन हमारे सम्पूर्ण साहित्यिक और साधनात्मक जीवन के लिए कितना उपयोगी

होगा और कितना विचार का उत्कर्ष वह देगा, यह बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

भारतीय साधना के साथ ध्यान-सम्प्रदाय के तुलनात्मक पक्ष पर, जहाँ तक मैं जानता हूँ अब तक किसी भी चीनी, जापानी या यूरोपीय विद्वान् ने प्रकाश नहीं डाला है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इनका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य में उद्‌भासित साधना विशेषतः योग और रहस्य की साधना से है। कुछ भी हो यह हमारा अपना काम है कि हम एशियाव्यापी सन्त धाराओं का अध्ययन करें और यथासम्भव अपनी साधना की पृष्ठभूमि और सन्दर्भ में उन्हें समझने का प्रयत्न करें। ध्यान-सम्प्रदाय हमें इसके लिए उचित अवकाश और सामग्री प्रदान करता है। मैंने पहली बार इसकी ओर इंगित 'सम्मेलन-पत्रिका' (त्रैमासिक) के भाग ४१ संख्या ३ सम्वत् २०१२ (आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा) के अंक में 'ध्यान-पीठ धर्म' शीर्षक लेख में किया था। बाद में भारतीय महाबोधि सभा के अंग्रेजी मासिक मुखपत्र 'महाबोधि' के सन् १९५८ के मई-अंक (वैशाख अंक) में 'कबीर एण्ड दि मिस्टिक वे' शीर्षक लेख में भी मैंने इस पर कुछ विचार किया था। सन् १९६१ ई० में प्रकाशित 'जेन् बुद्धिज्म एण्ड नाथ कल्ट' शीर्षक लेख में मैंने ध्यान-सम्प्रदाय और नाथ-पन्थ के सम्बन्ध का विवेचन एक प्रतीक की व्याख्या के माध्यम से किया था। तब से मेरे अन्य कई लेख भी इसी विषय सम्बन्धी इधर प्रकाशित हुए हैं। इस पुस्तक के एक परिच्छेद में मैंने यह काम कुछ अधिक विस्तार से किया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है ध्यान-सम्प्रदाय एक ऐसी साधना-पद्धति है जो भारत से चीन और फिर जापान गई। अतः उसमें ताओ-मत, कन्फ्यूशसवाद और शिन्तो-धर्म के साथ समन्वय और सम्मिश्रण है जो महायान की उदार भावना के अनुरूप था। इसके साथ ही भारतीय तत्त्व भी उसमें विद्यमान हैं। अतः उसके माध्यम से हम यह अच्छी प्रकार समझ सकते हैं कि मूलतः भारतीय भूमि में उत्पन्न यह साधना-विधि किस प्रकार पूर्वेशिया में जाकर वहाँ के लोगों की आध्यात्मिक शान्ति का कारण बनी उनकी संस्कृतियों के जो स्वर्ण-युग हैं उनको इसने जन्म दिया और किस प्रकार उनकी मानसिक बनावट के अनुसार वह स्वयं भी परिवर्तित हो गई। इस सबके सांस्कृतिक अभिप्राय तो हैं ही मानव-विकास की दृष्टि से भी परिवर्तन या ठीक कहें तो 'परिणमन' की इस प्रक्रिया का अध्ययन आवश्यक है।

ध्यान-सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का परिवर्धित रूप है। इसे तथागत का हृदय भी कहा गया है बुद्ध का चित्त भी। सम्प्रदाय का नाम तो इसके साथ पहचान

लिए गया है। वास्तव में यदि विश्व की किसी भी साधना-प्रणाली को सच्चे अर्थों में 'ध्यान' कहा जा सकता है, तो वह ध्यान-सम्प्रदाय ही है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी में इस साधना-सम्प्रदाय पर लिखी यह प्रथम पुस्तक अध्ययनशील अध्येताओं के प्रसाद का कारण होगी और 'ध्यान' का परिचय कराने के साथ साथ भारतीय मध्ययुगीन भक्तिवाद—विशेषतः निर्गुण सन्त-मत और योग-मत—के नये सूत्रों की खोज करने में भी हमारी सहायता करेगी और उस सम्बन्धी हमारे ज्ञान को बढ़ायेगी।

—भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

बोधिधर्म ध्यान-सम्प्रदाय के सस्थापक

छठी शताब्दी ईसवी में एक आदमी हिन्दुस्तान से चीन में गया। वह अपने साथ न कोई शास्त्र ले गया और न सूत्र। न उसने कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी किसी को कोई धर्मोपदेश ही दिया। पहले लोगों ने उसे विक्षिप्त समझा और उसकी उपेक्षा की। उसने भी कभी किसी से समझने योग्य भाषा में बातें नहीं कीं। नौ वर्ष तक वह एक मठ में ध्यान करता रहा और एक दिन बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल दिया। लोगों ने देखा कि वह पर्वतों के मार्ग में नंगे पैर चला जा रहा है और अपना एक जूता हाथ में लिये है। पता नहीं वह भारत लौटकर आया या चीन में ही मर गया। परन्तु इतना मालूम है कि यही वह आदमी है जो चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गया है और जिसने अध्यात्म-साधना की एक ऐसी गतिशील शक्ति पैदा की है जिसका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण पूर्वी एशिया की संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और जीवन विधि पर व्यापक रूप से अंकित है, बल्कि जो विचारशील पाश्चात्यों के जगत् में आज दूर-दूर तक प्रसारगामी हो रहा है।

आर्य बोधिधर्म एक विलक्षण योगी थे। वे एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने सन् ५२० या ५२६ ई० में चीन में प्रवेश किया। दक्षिण भारत के कांचीपुरम के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के वे तृतीय पुत्र थे। उनके गुरु का नाम प्रज्ञातार था जिनसे चालीस वर्ष तक उन्होंने बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की। गुरु की मृत्यु के पश्चात् वे उनके आदेश का अनुसरण कर चीन गये। बोधिधर्म ने अपनी यात्रा समुद्र द्वारा की और उसमें कुल तीन वर्ष लगे। वे चीन के दक्षिणी समुद्र-तट पर क्वाङ्-तुङ् (कैण्टन) बन्दरगाह में उतरे। बोधिधर्म बौद्ध भिक्षु थे, परन्तु उनकी आकृति में सौम्यता न थी और न व्यवहार में शिष्टता। सभ्य-जगत् के मान-दण्डों से वे ऊपर थे और उन्हें किसी की चिन्ता न थी। उनके रूप में कुछ विकरालता थी। बढ़ी हुई काली दाढ़ी, भृकुटियाँ तनी हुईं और अन्तर्वेधिनी बड़ी-बड़ी आँखें! देखने से वह कठोर आचार्य मालूम पड़ते थे। लगता था जैसे महाशून्य के गर्भ में आँखें गड़ाये हुए हैं। कठोर संकल्प—सत्य प्राप्ति के प्रयत्न में अपने समग्र व्यक्तित्व

को यथा देने वाले व्यक्ति का प्रवम्य सकल्प—उनकी आकृति में मूर्तिमन्त था । लोगों के पूछने पर उन्होंने अपनी आयु १५० वर्ष बताई । भारत से एक वृद्ध भिक्षु आया है यह सुनकर उत्तरी चीन के तत्कालिक राजा वू-ति ने उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की । यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म ने इस समय तक चीन में अपनी जड़ें जमा ली थी । (दूसरी शताब्दी ईसवी के मध्य भाग में ही उसका व्यवस्थित रूप से प्रवेश चीन में हो गया था) और वू ति एक श्रद्धावान् बौद्ध उपासक था । उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक कार्य किये थे । अनेक विहार बनवाये थे और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद करवाये थे । वह अपने पुण्य कार्यों के लिए भिक्षु का अनुमोदन और आशीर्वाद चाहता था । नानकिंग् में बोधिधर्म की सम्राट वू-ति से भेंट हुई और दोनों में इस प्रकार सलाप चला

वू ति—भन्ते ! मैंने अनेक विहार बनवाये हैं संस्कृत धर्मग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाई हैं और अनेक लोगों को भिक्षु बनने की अनुमति दी है ।[1] क्या मेरे इन कामों में कोई पुण्य है ?

बोधिधर्म—बिलकुल कोई नहीं ।

वू-ति—तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है ?

बोधिधर्म—विशुद्ध प्रज्ञा जो सूक्ष्म पूर्ण शून्य और शान्त है । परन्तु इस पुण्य की प्राप्ति इस संसार में सम्भव नहीं है ।

वू ति—पवित्र धर्म के सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा है ?

बोधिधर्म—जहां सब शून्यता है वहां पवित्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

वू ति—तब फिर मेरे सामने खड़ा कौन बात कर रहा है ?

बोधिधर्म—मैं नहीं जानता ।

उपर्युक्त संवाद के आधार पर हम बोधिधर्म को रूस स्वभाव का मनुष्य मान सकते हैं । कुछ-कुछ अशिष्ट भी । सम्राट् के प्रति कुछ आदर दिखाना तो दूर उन्होंने उसके पुण्य कार्यों का भी अनुमोदन नहीं किया । जिन कार्यों को बौद्ध शास्त्रों में पुण्यकारी बताया गया है उनको वैसा न बताकर उन्होंने सम्राट् के मन में बुद्धि भेद पैदा किया, उसे विभ्रमित किया । धार्मिक राजा की भावनाओं का भी उन्होंने कुछ आदर नहीं किया । बौद्ध धर्म के प्रचार में भी कुछ दिलचस्पी नहीं ली । परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है । बोधिधर्म के उत्तर ऊपर से रूक्ष और अशिष्ट दिखाई देने पर भी सम्राट के प्रति करुणा से ओतप्रोत हैं

१ उस समय चीन में भिक्षु बनने के लिए राजाज्ञा का लेना जरूरी था ।

ओर बौद्ध धर्म के उच्चतर सत्य की ओर उसे ले जाते जाते हैं। उन्होंने अपने विलक्षण कठोर ढंग से उसे यही बताया कि दान देना, विहार बनवाना और अन्य पुण्य कार्य करना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि ये अनित्य हैं, छाया के समान असत्य हैं। इस प्रकार अहं भाव से सम्राट् को बचाकर शून्यता के उच्च सत्य का उन्होंने उसे उपदेश दिया। उन्होंने उससे उस अद्वय सत्य की ओर इशारा किया जो पुण्य और पाप, पवित्र और अपवित्र के द्वन्द्वात्मक विचारों से अतीत है।[1] बोधिधर्म के व्यवहार में एक असाधारण गौरव का भाव है जिसे कोई इच्छाओं वाला मनुष्य या जिसे अपनी सत्य प्राप्ति पर गहरा विश्वास न हो एक विदेशी निरंकुश सम्राट् के सामने प्रकट नहीं कर सकता था।

चीनी सम्राट् के साथ अपनी उपर्युक्त भेंट के बाद बोधिधर्म ने समझ लिया कि उन्हें उनसे अधिक लाभ होने वाला नहीं है और न वह उन्हें समझ ही सकेगा। अतः उनके दरबार को छोड़कर वे याङ्-त्सी नदी को पार कर उत्तरी चीन के वेई नामक राज्य में चले गये। यहां उनका अधिकतर समय इस राज्य की राजधानी लो-याङ् के समीप सुंग्-शान् पर्वत पर स्थित शाश्वत शांति ('शवा लिन्') नामक बौद्ध विहार में बीता। इस विहार का निर्माण पांचवीं शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग में किया गया था। बोधिधर्म इस विहार के प्रथम दर्शन करते ही मन्त्र-मुग्ध जैसे हो गये थे। 'नमो' कहते हुए वे हाथ जोड़ चार दिन तक इस विहार के सामने खड़े रहे। उनका कहना था कि उन्होंने कई देशों में भ्रमण किया है, परन्तु इस प्रकार का भव्य विहार उन्होंने कहीं नहीं देखा, बुद्ध के देश (भारत) में भी नहीं। यहीं नौ वर्ष तक बोधिधर्म ने ध्यान

---

१ छठे धर्माचार्य अपने पवित्र सूत्र में कहते हैं कि एक बार (चान के) शिष्य वाको ध्यान के प्रारम्भ वर्ष में छठे धर्माचार्य (हुइ-नेंग् ६३८-७१३ ई०) से पूछा कि क्या ये जो कुछ सिखाते हैं वह सब बोधिधर्म के द्वारा, जिनको पद पूछ लिया गया है? इसका उत्तर उन धर्माचार्य ने स्पष्टतः 'हाँ' में दिया, तो उस प्रश्नकर्ता ने इसके प्रथम सम्राट् वू और बोधिधर्म के उस संवाद को ले कर यह प्रश्न रखा कि "मेरी समझ में यह बिल्कुल नहीं आता कि बोधिधर्म ने ऐसा उत्तर क्यों दिया? (दान देना आदि में पुण्य भी पुण्य नहीं है ऐसा क्यों कहा?) छठे धर्माचार्य ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि वास्तविक पुण्य का अधिष्ठान 'धर्मकाय' या 'मन' में है और उसे वहीं प्राप्त करना चाहिए। दान देना, विहार बनवाना आदि 'पुण्य के कल्याणकारी कृत्य हैं और वास्तविक पुण्य नहीं हैं।' 'जो हमारे धर्माचार्य ने कहा उसमें कुछ गलत नहीं है। सम्राट् ही सही मार्ग का नहीं जानता था।" हुइ-नेंग् के पूरे उत्तर के लिए देखिये दि सूत्र ऑफ वेई लांग (हुइ-नेंग्) पृष्ठ ३३-४०।

किया। उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुँह करके ध्यान करते थे। इसलिए चीन में वे पि-कुआन् ब्राह्मण अर्थात् दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हो गये। यह उल्लेखनीय है कि जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया वह आज भी कुछ भग्न अवस्था में विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओं का एक छोटा सा संघ वहाँ आज भी निवास करता है।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बौद्ध धर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की। यह काम उन्होंने स्थूल व्यवस्थात्मक संघ के रूप में नहीं बल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया। उन्होंने लम्बे काल तक मौन रहकर चीनी मन का अध्ययन किया बड़ी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियों को चुना अपने मन से उनके मनों को बिना कुछ बोले हुए धिक्षित किया सत्य का उन्मेष उनकी चेतना में प्रेषित किया और जब यह काम हो गया तो स्वयं अन्तर्हित हो गये। भारतीय ज्ञान अपने वैयक्तिक व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस में समा गया। वह चीनी शरीर की धमनियों का रक्त बनकर प्रवाहित होने लगा उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अंग बन गया। यही काम बाद में कोरिया और जापान में हुआ। आचार्य बोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है।

बोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शेन्-क्वांग् था जिसे अपना शिष्य बनाने के बाद बोधिधर्म ने हुइ-के' बौद्ध नाम दिया जिसका अर्थ है 'ज्ञानी प्रतिभावान्'। शैन्-क्वांग् कनफ्यूशसवाद को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप में बोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार में गया जहाँ बोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन और रात तक वह दरवाजे पर खड़ा रहा, परन्तु बोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नहीं दी। उस दिन भी दिसम्बर की कड़ी सर्दी की रात थी और बरफ पड़ रही थी। परन्तु शैन्-क्वांग् भी संकल्पवान् पुरुष था। सारी रात चौके में खड़ा रहा और जब सबेरा हुआ तो बरफ उसके घुटनों तक जमी हुई थी। फिर भी गुरु ने कृपा नहीं की। तब शैन्-क्वांग् ने अपनी तलवार से अपनी बाईं बाँह काटी और उसे लेकर गुरु के सामने उपस्थित हुआ। बोधिधर्म मठ की एक गुफा में दीवार की ओर मुख कर ध्यान कर रहे थे। पीछे शैन्-क्वांग जाकर खड़ा हो गया अपनी कटी बाईं बाँह को उठाकर उन्हें दिखाते हुए और यह प्रकट करते हुए कि यदि उसे उनका शिष्यत्व नहीं मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा। अन्त में गुरु ने उसकी ओर ध्यान दिया। 'तुम

बोधिधर्म और शन् क्वांग



तब शन्-क्वांग ने अपनी तलवार से अपनी बाईं बाँह काटी और गुरु के सामने उपस्थित हुआ। बोधिधर्म जो कि एक गुफा में दीवार की ओर मुँह कर ध्यान कर रहे थे। पीछे शेन्-क्वांग जाकर खड़ा हो गया अपनी बाईं बाँह को उठाकर उन्हें दिखाया हुए और यह प्रकट करते हुए कि यदि उसे उनका शिष्यत्व नहीं मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा।

किया। उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुँह करके ध्यान करते थे। इसलिए चीन में वे 'पि-कुयन् ब्राह्मण' अर्थात् 'दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हो गये। यह उल्लेखनीय है कि जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया वह आज भी कुछ भग्न अवस्था में विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओं का एक छोटा सा संघ वहां आज भी निवास करता है।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बौद्ध धर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की। यह काम उन्होंने स्थूल व्यवस्थात्मक संघ के रूप में नहीं बल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया। उन्होंने लम्बे काल तक चीन रहकर चीनी मन का अध्ययन किया बड़ी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियों को चुना अपने मन से उनके मनों को बिना कुछ बोले हुए लिखित किया सत्य का सन्देश उनकी चेतना में प्रेरित किया और जब यह काम हो गया तो स्वयं अन्तर्हित हो गये। भारतीय ज्ञान अपने देशकालगत व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस में समा गया। वह चीनी शरीर की धमनियों का रक्त बनकर प्रवाहित होने लगा उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अंग बन गया। यही काम बाद में कोरिया और जापान में हुआ। आचार्य बोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है।

बोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शेन्-क्वांग् था जिसे अपना शिष्य बनाने के बाद बोधिधर्म ने हुइ-के बौद्ध नाम दिया जिसका अर्थ है 'ज्ञानी प्रतिकारवान्'। शैन्-क्वांग् कनफ्यूशसवाद को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप में बोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार में गया जहां बोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन और रात तक वह दरवाजे पर खड़ा रहा, परन्तु बोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नहीं दी। उस दिन भी दिसम्बर की कड़ी सर्दी की रात थी और बरफ पड़ रही थी। परन्तु शैन्-क्वांग् भी संकल्पवान् पुरुष था। सारी रात चौड़े में खड़ा रहा और जब सवेरा हुआ तो बरफ उसके घुटनों तक जमी हुई थी। फिर भी गुरु ने कृपा नहीं की। तब शैन्-क्वांग् ने अपनी तलवार से अपनी बाईं बांह काटी और उसे लेकर गुरु के सामने उपस्थित हुआ। बोधिधर्म मठ की एक गुफा में दीवार की ओर मुख कर ध्यान कर रहे थे। पीछे शैन्-क्वांग आकर खड़ा हो गया अपनी कटी बाईं बांह को उठाकर उन्हें दिखाते हुए और यह प्रकट करते हुए कि यदि उसे उनका शिष्यत्व नहीं मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा। अन्त में गुरु ने उसकी ओर ध्यान दिया। "तुम



जब शेन्-क्वाङ् ने अपनी तलवार से अपनी बाईं बाँह काटी और पु
सामने उपस्थित हुआ। बोधिधर्म उस वक्त एक गुफा में दीवार की ओर मुँ
ध्यान कर रहे थे। पीछे शेन्-क्वाङ् जाकर खड़ा हो गया, अपनी बाईं बाँ
उपहारस्वरूप उन्हें दिखाया और यह प्रकट करते हुए कि यदि उसे उनका शि
नहीं मिला तो वह अपने शरीर का भी बलिदान कर देगा।

मुझसे क्या चाहते हो कि मैं तुम्हारे लिए करूं ?' उन्होंने उससे पूछा। शेन्-क्वांग् ने बिलखते हुए कहा, 'भन्ते ! मुझे मन की शान्ति नहीं है। मेरे मन को आप कृपा कर शान्त करें।' बोधिधर्म ने कठोरतापूर्वक उसे उत्तर दिया, 'अपने मन को निकाल कर यहाँ मुझे दे। मैं उसे शान्त करूंगा।' शेन्-क्वांग् ने और भी रोते हुए कहा "मैं अपने मन को कैसे निकाल कर आपको दे सकता हूं ?' इस पर कुछ नरम होते हुए और उस पर कृपा करते हुए बोधिधर्म ने उससे कहा "तो मैं तेरे मन को शान्त कर चुका हूं।" तत्काल शेन्-क्वांग् को शान्ति अनुभव हुई। उसके सारे सन्देह दूर हो गये। बौद्धिक संघर्ष सदा के लिए मिट गये। बोधिधर्म ने उसे अपना शिष्य बनाया और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है उसे 'हुइ के' नाम दिया। हुइ-के ध्यान-सम्प्रदाय के चीन में द्वितीय धर्मनायक हुए। बोधिधर्म के पास जो कुछ था, वह सब उन्होंने हुइ-के को दे दिया। अब यह काम चीनियों को चीनियों के लिए करना था। चीनी परम्परा में सुरक्षित लेखों के अनुसार बोधिधर्म ने अपने शिष्य हुइ-के से कहा था, "मैं भारत से इस पूर्वी देश में आया हूं और मैंने देखा है कि इस चीन देश में मनुष्य महायान बौद्ध धर्म की ओर अधिक प्रवृत्त हैं। मैंने दूर तक समुद्री यात्रा की है और मैं रेगिस्तानों में भटका हूं, केवल इस उद्देश्य के लिए कि मुझे वही अधिकारी व्यक्ति मिलें जिन्हें मैं अपना अनुभव प्रेषित कर सकूं। जब तक मुझे इसके उपयुक्त अवसर न मिला मैं मौन रहा जैसे कि मैं बोलने में असमर्थ गूंगा होऊं। अब मुझे तुम मिल गये हो। मैं तुम्हें यह दे रहा हूं और मेरी इच्छा अन्ततः पूरी हो चुकी है।"

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त हमें बोधिधर्म के जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। कहा जाता है कि चीन से प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को बुलवाया और उनसे कहा, "अब मेरे जाने का समय आ गया है और मैं यह जानना चाहता हूं कि तुम्हारी प्राप्तियां क्या हैं ?" सबसे पहले ताओ-फु नामक उनका शिष्य उनके सामने आया और बोला, 'मेरी समझ में सत्य विधि और निषेध दोनों से परे है। सत्य में आचरण का मार्ग यही है।" इस पर बोधिधर्म ने उससे कहा "तुम्हें मेरी त्वचा प्राप्त है।" इसके बाद भिक्षुणी त्सुङ् चिह आई और बोली, "जैसा मैं समझती हूं, सत्य का केवल एक बार दर्शन होता है, फिर कभी नहीं।" बोधिधर्म ने उससे कहा "तुम्हें मेरा मांस प्राप्त है।" ताओ-यू नामक एक अन्य शिष्य इसके बाद बोधिधर्म के सामने आया और बोला "चारों महाभूत शून्य और असत् हैं और इसी प्रकार पंचस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) भी। मेरी

दृष्टि में सत् रूप में ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। बोधिधर्म ने उससे कहा "तुम्हें मेरी हड्डियाँ प्राप्त हैं।" अन्त में हुइ-के आये। उन्होंने विनम्रता पूर्वक गुरु को प्रणाम किया और अपने स्थान पर चुपचाप खड़े रहे। बोले कुछ नहीं। बोधिधर्म ने अपने इस शिष्य से कहा "तुम्हें मेरी मज्जा प्राप्त है।"

इसके बाद ही बोधिधर्म अन्तर्धान हो गये और किसी को पता नहीं कि वे कहाँ गये या उनका क्या हुआ? अन्तिम बार जिन लोगों ने उन्हें देखा उनका यही कहना था कि वे नंगे पैर त्सुङ्-लिङ् पर्वत-श्रेणी (चीन को मध्य-एशिया से विभक्त करने वाली पर्वत-माला) में होकर पश्चिम (भारत) की ओर जा रहे थे और अपना एक जूता हाथ में लिये थे। इन लोगों के कहने पर बाद में लो-याङ में बोधिधर्म की मानी जाने वाली समाधि खोली गई, परन्तु उसमें एक जूते के अलावा और कुछ न मिला। ध्यान-सम्प्रदाय के एक प्राचीन इतिहास-ग्रंथ में कहा गया है "नौ वर्ष तक वह रहा और किसी ने उसे जाना नहीं। एक जूता हाथ में लेकर वह चुपचाप बिना किसी समारोह के अपने घर चला गया।" कुछ लोगों का कहना है कि बोधिधर्म चीन से लौटकर भारत वापस आये थे। जापान में कुछ का यह भी विश्वास है कि वे चीन से जापान गये जहाँ नारा के समीप कटाओक-यामा नगर में उन्हें एक आतुर भिखारी के रूप में देखा गया। एक किंवदन्ती यह भी है कि चीन में ही उन्हें किसी ने ईर्ष्यावश विष देकर मार डाला।

बोधिधर्म अपने पीछे चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में एक अमर जिज्ञासा छोड़ गये हैं कि पश्चिम (भारत) से उनके चीन आने का उद्देश्य क्या था? इसे दूसरे शब्दों में यों भी रक्खा जा सकता है कि उनका आध्यात्मिक सन्देश क्या है? ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास में अनेक बार हम ध्यानी शिष्यों को अपने गुरुओं से यह प्रश्न पूछते देखते हैं और इसके जो उत्तर दिये गये हैं उनका निष्कर्ष केवल यही है कि यह एक अत्यन्त अगम और अगाध मर्म है।

बोधिधर्म ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय के दो इतिहास-ग्रंथों में उनके कुछ वचनों और उपदेशों का उल्लेख है। ये दो ग्रन्थ हैं ताओ-ह्सुयान् लिखित 'प्रमुख भिक्षुओं के संस्मरणों के अवशेष' जिसकी रचना सन् ६४५ ई० में हुई तथा ताओ-युयान् लिखित 'धर्म-दीप प्रेषण' अभिलेख या संक्षेप में 'दीप प्रेषण', जिसका रचनाकाल सन् १००४ ई० है। इन दोनों ग्रंथों में बोधिधर्म के द्वारा दिये गये कुछ प्रवचन संगृहीत हैं। विशेषतः 'आत्मा की शान्ति पर और चार कृत्यों पर ध्यान' शीर्षक प्रवचन प्रामाणिक रूप से बोधिधर्म के द्वारा दिये गये माने गये हैं और कुछ थोड़े-बहुत अन्तर से दोनों

उपर्युक्त इतिहास-ग्रन्थों में पाये जाते हैं। जापान में एक पुस्तक 'शोशित्सु के छह निबन्ध' ('शोशित्सु रोकुमोन' यु'—चीनी भाषा में जिसका उच्चारण है 'शाओ-शिह् ल्यु-मेन्-ची') शीर्षक से प्रचलित है जिसमें शोशित्सु (बोधिधर्म ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक) के छह निबन्ध संगृहीत माने जाते हैं। सुजुकी की राय है कि इस पुस्तक में असन्दिग्ध रूप से बोधिधर्म के कुछ वचन पाये जाते हैं, परन्तु सब निबन्ध बोधिधर्म के नहीं हैं। सुजुकी के मतानुसार इस पुस्तक का प्रणयन तंग्-काल (६१८-९०७ ई०) में हुआ जबकि ध्यान-सम्प्रदाय का प्रभाव चीन में बढ़ने लगा। बोधिधर्म के प्रवचनों से सम्बन्धित एक अन्य रचना का भी हमें यहाँ उल्लेख कर देना चाहिए। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में चीन के तुन-हुआङ् नामक नगर के प्रसिद्ध ध्वंसावशिष्ट 'सहस्रबुद्ध-गुहा विहार' में हस्तलिखित प्रतियों का एक अमूल्य भाण्डार मिला था। उसमें एक प्रति बोधिधर्म के द्वारा दिये गए प्रवचनों से सम्बन्धित भी है जिसमें बोधिधर्म के शिष्यों के कुछ प्रश्न और बोधिधर्म के द्वारा दिये गए उनके उत्तर संक्षिप्त रूप में निहित हैं। इन टिप्पणियों के रूप में बोधिधर्म के शिष्यों ने लिखा था। इस समय यह प्रति पी-किंग् के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।[1]

---

१ [illegible]

दृष्टि में सत् रूप में ग्रहण करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। बोधिधर्म ने उससे कहा 'तुम्हें मेरी हड्डियाँ प्राप्त हैं।' अन्त में हुइ-के आये। उन्होंने विनम्रता पूर्वक गुरु को प्रणाम किया और अपने स्थान पर चुपचाप खड़े रहे। बोले कुछ नहीं। बोधिधर्म ने अपने इस शिष्य से कहा 'तुम्हें मेरी मज्जा प्राप्त है।'

इसके बाद ही बोधिधर्म अन्तर्धान हो गये और किसी को पता नहीं कि वे कहाँ गये या उनका क्या हुआ? अन्तिम बार जिन लोगों ने उन्हें देखा उनका यही कहना था कि वे नंगे पैर त्सुङ्-लिङ् पर्वत-श्रेणी (चीन को मध्य-एशिया से विभक्त करने वाली पर्वत-माला) में होकर पश्चिम (भारत) की ओर जा रहे थे और अपना एक जूता हाथ में लिये थे। इन लोगों के कहने पर बाद में लो-याङ में बोधिधर्म की मानी जाने वाली समाधि खोली गई, परन्तु उसमें एक जूते के अलावा और कुछ न मिला। ध्यान-सम्प्रदाय के एक प्राचीन इतिहास-ग्रंथ में कहा गया है 'नौ वर्ष तक वह रहा और किसी ने उसे जाना नहीं। एक जूता हाथ में लेकर वह चुपचाप बिना किसी समारोह के अपने घर चला गया।' कुछ लोगों का कहना है कि बोधिधर्म चीन से लौटकर भारत वापस आये थे। जापान में कुछ का यह भी विश्वास है कि वे चीन से जापान गये जहाँ *नारा* के समीप *कतओका-यामा* नगर में उन्हें एक आतुर भिखारी के रूप में देखा गया। एक किंवदन्ती यह भी है कि चीन में ही उन्हें किसी ने ईर्ष्यावश विष देकर मार डाला।

बोधिधर्म अपने पीछे चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में एक अमर जिज्ञासा छोड़ गये हैं कि पश्चिम (भारत) से उनके चीन आने का उद्देश्य क्या था? इसे दूसरे शब्दों में यों भी रक्खा जा सकता है कि उनका आध्यात्मिक सन्देश क्या है? ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास में अनेक बार हम ध्यानी शिष्यों को अपने गुरुओं से यह प्रश्न पूछते देखते हैं और इसके जो उत्तर दिये गए हैं उनका निष्कर्ष केवल यही है कि यह एक अत्यन्त अगम और अथाह धर्म है।

बोधिधर्म ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय के दो इतिहास-ग्रंथों में उनके कुछ वचनों और उपदेशों का उल्लेख है। ये दो ग्रंथ हैं ताओ-ह्सुयान् लिखित 'प्रमुख भिक्षुओं के संस्मरणों के अवशेष' जिसकी रचना सन् ६४५ ई० में हुई तथा ताओ-युआन् लिखित 'धर्म-दीप प्रेषण अभिलेख' या संक्षेप में 'दीप-प्रेषण' जिसका रचनाकाल सन् १००४ ई० है। इन दोनों ग्रंथों में बोधिधर्म के द्वारा दिये गये कुछ प्रवचन संगृहीत हैं। विशेषतः 'आत्मा की शान्ति पर' और 'चार कृत्यों पर ध्यान' शीर्षक प्रवचन प्रामाणिक रूप से बोधिधर्म के द्वारा दिये गये माने गये हैं और कुछ थोड़े-बहुत अन्तर से दोनों

उपर्युक्त इतिहास-ग्रन्थों में पाए जाते हैं। जापान में एक पुस्तक 'दोशिरसु के छः निबन्ध' ('दोशिरसु रोकुमोन' पु'—चीनी भाषा में जिसका उच्चारण है 'दामो-शिह् ल्यु-मेन्-ची') शीर्षक से प्रकाशित है जिसमें दोशिरसु (बोधिधर्म ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक) के छः निबन्ध संगृहीत माने जाते हैं। सुजुकी की राय है कि इस पुस्तक में प्रतिलिपि रूप से बोधिधर्म के कुछ वचन पाये जाते हैं, परन्तु सब निबन्ध बोधिधर्म के नहीं हैं। सुजुकी के मतानुसार इस पुस्तक का प्रणयन तंग्-काल (६१८ ९०७ ई०) में हुआ जबकि ध्यान-सम्प्रदाय का प्रभाव चीन में बढ़ने लगा। बोधिधर्म के प्रवचनों से सम्बन्धित एक अन्य रचना का भी हमें यहाँ उल्लेख कर देना चाहिए। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में चीन के तुन-हुआङ् नामक नगर के प्रसिद्ध ध्वंसावशिष्ट 'सहस्रबुद्ध गुहा विहार' में हस्तलिखित प्रतियों का एक अमूल्य भाण्डार मिला था। उसमें एक प्रति बोधिधर्म के द्वारा दिये गए प्रवचनों से सम्बन्धित भी है जिसमें बोधिधर्म के शिष्यों के कुछ प्रश्न और बोधिधर्म के द्वारा दिये गए उनके उत्तर संक्षिप्त रूप में निहित हैं। इसे टिप्पणियों के रूप में बोधिधर्म के शिष्यों ने लिखा था। इस समय यह प्रति पीकिंग् के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।[1]

---

१ [illegible] सुजुकी [illegible] ९६८ ई० [illegible] (एस ०१८८८) [illegible]

दूसरा परिच्छेद

ध्यान-सम्प्रदाय का इतिहास

ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है। स्वयं भगवान् बुद्ध एक ध्यानी महात्मा थे। उनके महापरिनिर्वाण के बाद लोग उनकी याद अधिकतर एक ध्यानी महात्मा के रूप में ही करते थे। अनवरत रूप से धर्मोपदेश करते हुए और लोगों के बीच में विचरण करते हुए भी भगवान् सदा ध्यान में स्थित रहते थे। ध्यान उनकी दिनचर्या का सबसे प्रमुख अंग था। कभी-कभी महीनों और सप्ताहों भर के लिए वे अपने शिष्यों से भी अलग हो जाते थे और इस समय उनसे कोई नहीं मिल सकता था। कोशल देश के इच्छानंगल ब्राह्मण-ग्राम में तथा वैशाली की महावन-कूटागारशाला में बुद्ध ने इस प्रकार कुछ समय एकान्त ध्यान में बिताया था। अनेक बार दर्शनार्थी आगन्तुकों को हम यह कहकर लौटाये जाते या ठहराये जाते देखते हैं कि "भगवान् इस समय ध्यान में हैं, यह समय उनसे मिलने का नहीं है।" बुद्ध के जीवन का विश्लेषण करके देखा जाय तो पता लगता है कि उनका सब कुछ ध्यान ही है। बुद्ध और ध्यान अलग-अलग कर देखे ही नहीं जा सकते।

त्रिपिटक में बुद्ध के ध्यानी जीवन के अनेक चित्र विद्यमान हैं। कभी सूने घरों में कभी वृक्ष-मूलों में कभी नदी-तट पर कभी पर्वत-पृष्ठ पर कभी खुले मैदान में कभी दोपहर की कड़ी गर्मी में तो कभी अति प्रातः ही, कभी सघन अन्धकार वाली अर्द्ध रात्रि में जब रिमझिम वर्षा भी हो रही हो तो कभी चाँदनी में कभी ग्राम या निगम से बाहर वन-प्रस्थ में तो कभी कुटी अथवा विहार के अन्दर कभी वर्षा के समय किसी बिना छाई कुटिया में तो कभी श्मशान में ही हम बुद्ध को ध्यानावस्था में बैठे या चंक्रमण करते अनेक बार देखते हैं। दो-एक बार के प्रसंग तो भुलाये ही नहीं जाते। एक बार मगध के अन्धकविन्द नामक गाँव के बाहर खुले मैदान में, काली अँधियारी रात में हमने बुद्ध को ध्यान में बैठे देखा है जबकि रिमझिम वर्षा भी हो रही थी। एक दूसरे अवसर पर हमने बुद्ध भगवान् के दर्शन मही (गण्डक) नदी के किनारे एक कुटिया में किये हैं जहाँ वे एक रात भर के लिए ठहरे थे। कुटिया खुली थी उस पर छप्पर नहीं था और वर्षाकालीन बादल आकाश में छाये हुए थे। यह

ध्यानस्थ बैठे थे। एक अन्य प्रसंग तो और भी रोमहर्षक है। भगवान् एक बार आतुमा के भुसागार (भूसे का घर) में ठहरे हुए थे। उसी समय भयंकर वर्षा हुई और बादलों की गड़गड़ाहट के साथ बिजली कड़ककर उस भुसागार के द्वार के सामने बुद्ध के पास ही गिरी जिससे दो भाई किसान और उनके चार बैल मर गये। परन्तु बुद्ध ने न बादलों की घोर गड़गड़ाहट सुनी और न बिजली का कड़क कर गिरना ही देखा जबकि वे भुसागार के द्वार के पास ही पूर्ण जाग्रत अवस्था में ध्यान में टहल रहे थे। इतनी ध्यान की एकाग्रता और मन को शान्त रखने की उनकी शक्ति थी।

बुद्ध का पूरा जीवन ही एक सतत समाधि था। कहा गया है कि जिस की जिस अवस्था से उन्होंने बोधि प्राप्ति के समय विहार किया, उसी से वे अपने शेष जीवन में भी विहार करते रहे।

भगवान् बुद्ध का पहला ध्यान एक जामुन के पेड़ के नीचे हुआ था जबकि वे अस्तव्यस्त बालक ही थे। बाद में उन्होंने ध्यान के द्वारा ही बोधि प्राप्त की। निर्वाण भी बुद्ध ने ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं में संचरण करते हुए ही प्राप्त किया। कहा गया है कि बुद्ध कभी ध्यान से रिक्त नहीं रहते थे। उठते बैठते, सोते, जागते, बात करते तथागत सदा ध्यान में रहते हैं ऐसा त्रिपिटक में अनेक बार कहा गया है।

जिस धर्म का बुद्ध ने उपदेश दिया उसका भी अभ्यास बिना ध्यान के कोई नहीं कर सकता। जिस प्रकार बिना प्रार्थना या नाम-स्मरण के भक्ति की साधना अधूरी है उसी प्रकार बिना ध्यान के बौद्ध धर्म का कोई अर्थ नहीं है। बिना ध्यान किये कोई बौद्ध नहीं होता जिस प्रकार बिना नाम स्मरण के कोई वैष्णव या भक्त नहीं है। बुद्ध को जो कुछ कहना है या उपदेश करना है वह सब अब वे कर चुके हैं जो अपने शिष्यों से अन्त में कहते हैं 'शिष्यों के हितैषी शास्ता को अपने शिष्यों पर दया करके जो करना चाहिए, वह मैंने कर दिया। अब भिक्षुओ! यह (सामने) वृक्षों की छाया है ये एकान्त घर हैं। भिक्षुओ! ध्यान करो। प्रमाद मत करो। देखना पीछे मत पछताना। यही हमारी अनुशासना है।' यह अन्तिम बात है जिसे बुद्ध कहते हैं। इसके बाद वे चुप हो जाते हैं। इसलिये बौद्ध साधकों के लिए ध्यान ही एकमात्र करणीय कार्य है जिसे करने के लिए बुद्ध अन्तिम रूप से आदेश देते हैं। ध्यान करना ही बुद्ध कार्य करना है। ध्यान बुद्ध-उपदेशों का उपसंहार है।

त्रिपिटक में ऐसे अनेक प्रमाण आते हैं जिनसे विदित होता है कि ध्यान को परम कल्याण भगवान् अपने शिष्यों के लिए और कुछ नहीं मानते थे। ध्यानी

भिक्षुओं के तो वे प्रशंसक थे ही, कुछ न कुछ ध्यान के अभ्यास की अपेक्षा वे उनसे भी रखते थे जो अपनी गोद में बाल-बच्चों को खिलाते हैं। जिस प्रकार पालथी मारकर बदन को सीधी रख उनके गृह-त्यागी विरक्त शिष्य मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से अशेष जगत् को आप्लावित करते हुए उच्च ध्यान-समापत्तियों को प्राप्त करते थे उसी प्रकार उनके अनेक श्रद्धावान् उपासक गृहस्थ स्त्री-पुरुष बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में अपने को अर्पित करते हुए अपनी चित्त-विशुद्धि के लिए प्रयत्नशील होते थे। अपने शिष्यों की योग्यताओं और आवश्यकताओं के अनुरूप बुद्ध उन्हें ध्यान के विषय भी दिया करते थे, जिन्हें 'कर्मस्थान' (पालि कम्मट्ठान) कहकर पुकारा गया है। इस प्रकार के अनेक कर्मस्थानों को पालि त्रिपिटक से संगृहीत किया जा सकता है और वे विश्व के साधनात्मक साहित्य की एक समहर्षक और मन को सहसा ऊपर उठाने वाली वस्तु होंगे। ध्यान-सम्प्रदाय को ध्यान में रखते हुए मैं यहां केवल उनमें से दो का नाम निर्देश भर कर देना चाहता हूं—एक पन्थक को दिया गया बुद्ध-उपदेश जो थेरगाथा, उसकी अट्ठकथा और 'विसुद्धिमग्ग' के बारहवें परिच्छेद में देखा जा सकता है और बाहिय दारुचीरिय को दिया गया उनका उपदेश जो 'उदान' के बोधि-वर्ग में निहित है। कितनी जल्दी बुद्ध मनुष्यों को ज्ञान-दीप्त कर देते थे, कितने सरल और अल्प शब्दों में वे जीवन-व्यापी परिवर्तन कर डालते थे, मानव की चेतना को कहां से कहां ले जाते थे, इसे देखना हो तो इन दो उपदेशों में देखना चाहिए।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि कितना भारी महत्त्व बुद्ध ध्यानाभ्यास को देते थे। उनकी शिक्षा में वस्तुतः क्रमिक विकास था जिसकी तीन उत्तरोत्तर भूमियां थीं शील, समाधि (ध्यान) और प्रज्ञा। शील (सदाचार) के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (अन्तर्दृष्टि का उत्कृष्टतम रूप परम ज्ञान) की प्राप्ति। इतना ही वस्तुतः बौद्ध धर्म है। आचार्य बुद्धघोष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' में शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास के रूप में पूरे बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण किया है और ध्यान (समाधि) का सविस्तर विवरण दिया है। त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य का वस्तुतः कोई ग्रन्थ ही नहीं है जो ध्यान के बारे में कुछ न कुछ न कहता हो क्योंकि यह बुद्ध-शासन का सार ही है। क्या स्थविरवाद क्या महायान सभी एकान्त रूप से ध्यान के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। जिसने जीवन में सदाचार (शील) का विकास नहीं किया है, उसका चित्त समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता और जिसे चित्त की समाधि प्राप्त नहीं है वह प्रज्ञा की अभिव्यक्ति से भी दूर है।

बिना ध्यान के प्रज्ञा नहीं है और बिना प्रज्ञा के ध्यान नहीं है। साधना की यह भूमिका बौद्ध धर्म के सभी रूपों को मान्य है। अतः सभी में शास्ता के द्वारा सिखाई गई ध्यान-पद्धति का विकास अपनी-अपनी धातु और प्रकृति के अनुसार किया है। शमथ और विदर्शना की भावना सब बुद्ध-पुत्रों की सामान्य विचरण भूमि है। सभी बौद्ध साधक चाहे वे किसी सम्प्रदाय के हों, प्रमुख रूप से ध्यानी हैं, ध्यान के अभ्यासी हैं। ध्यान उनकी पैतृक सम्पत्ति है, सामान्य विचरण भूमि है।

इस प्रकार ध्यान की महिमा यद्यपि बौद्ध धर्म के सभी रूपों में सुरक्षित है, 'ध्यान' नाम से एक विशिष्ट बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना और विकास चीन और जापान की धर्म-साधना की एक विशेषता है, जिसका वहाँ बीजारोपण करने वाले, जैसा हम पहले देख चुके हैं, योगी बोधिधर्म थे। भारतीय बौद्ध धर्म के लिखित इतिहास में हमें उसके किसी ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। न तो अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायों में उसका कहीं उल्लेख है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में उसके अस्तित्व का कहीं चिह्न है यद्यपि योगाचार (जिसका अर्थ ही योग का आचार या अभ्यास है) मत उसी की तरह योग (ध्यान) की साधना पर अवलम्बित था। अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायों में अवश्य हमें महाशून्यतावादी वैतुल्यकों के एक सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है जिसके मत का खण्डन 'कथावत्थु' में किया गया है। ये लोग महाशून्यतावादी तो थे ही संघ को दान आदि देने में भी वे पुण्य नहीं मानते थे ऐसा 'कथावत्थु' से प्रकट होता है।[1] अब हम जानते हैं कि बोधिधर्म ने चीनी सम्राट् के दानादि कृत्यों को 'पुण्य' नहीं माना था बल्कि कहा था कि वास्तविक 'पुण्य' महाशून्यता है जिसकी उपलब्धि इस सांसारिक जगत् में सम्भव नहीं है। बोधिधर्म के उक्त कथन की व्याख्या करते हुए छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग) ने कहा है कि वास्तविक 'पुण्य' की स्थिति 'धर्मकाय' में है, 'मन के सार' में है, शून्यता में है। दान आदि कर्म 'पुण्य' नहीं हैं बल्कि वे केवल चित्त में उल्लास पैदा करने वाले कृत्य हैं जिनसे 'पुण्य' को पृथक् समझना चाहिये।[2] जिन्हें हम गलती से पुण्य कह देते हैं, वे वास्तव में सास्रव (आस्रव-सहित) ससीम हैं, दूषित हैं और सोपाधिक हैं अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त

---

१ देखिये लेखक का 'पालि साहित्य का इतिहास' (द्वितीय संस्करण) का पांचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत कथावत्थु का विवेचन।

२ देखिये 'दि सूत्र ऑव वेई लँग (हुइ-नेंग)' पृष्ठ १९-२०।

कराने वाले हैं, यह विचार 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' में बार-बार आता है। अतः इस लेखक को यह स्पष्ट लगता है कि 'लंकावतार' में जिन महाशून्यतावादी वैतुल्यकों के मत का निराकरण किया गया है, उनसे कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध ध्यान-सम्प्रदाय के पूर्वरूप का अवश्य होना चाहिये और यह तो निश्चित ही है कि वैतुल्यक (वपुल्य) सम्प्रदाय के अनुयायी ही महायान के जन्मदाता हैं, जिसकी ही एक शाखा ध्यान-सम्प्रदाय है।[1] इस प्रकार यद्यपि पृथक् ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण हमें बौद्ध धर्म के भारतीय इतिहास में नहीं मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध-काल से ही भारत में अवश्य चली आ रही थी, इसके कुछ क्षीण साक्ष्य हमें पालि साहित्य में भी मिलते हैं और उसके मूल उपदेष्टा भगवान् बुद्ध ही माने जाते थे, ऐसा हम ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास के आधार पर तो कह ही सकते हैं, जैसा हम अभी आगे देखेंगे।

ध्यान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति की कथा बड़ी मनोरंजक है और उन लोगों के लिए विशेष लक्ष्य करने की है जो 'सन्ध्या भाषा' या 'सन्धा भाषा' के मर्म को समझना चाहते हैं। कहा गया है कि एक बार भगवान् बुद्ध मगध के गृध्रकूट पर्वत पर अपने शिष्यों से घिरे हुए बैठे थे और उपदेश आरम्भ करना ही चाहते थे कि इतने में उनका एक गृहस्थ शिष्य (जिसे महाराज कहकर पुकारा गया है) उनके पास आया और प्रणाम करने के बाद उसने एक सुनहरे रङ्ग के पुष्प को जिसे कुम्भल या उत्पल बताया गया है, उन्हें अर्पित किया और उनसे उपदेश आरम्भ करने की प्रार्थना की। बुद्ध ने कोई उपदेश नहीं दिया, बल्कि केवल उस पुष्प को हाथ में लेकर वे उसकी ओर देखने लगे। बुद्ध की इस चेष्टा का अभिप्राय उनका कोई शिष्य नहीं समझ सका। केवल महाकाश्यप उसे देखकर मुस्कराये और सम्मतिसूचक उन्होंने अपना सिर हिला दिया। इससे उन्होंने यह प्रकट कर दिया कि उन्होंने तथागत के गूढ़ अभिप्राय को समझ लिया है। जब सभा विसर्जित हो गई तो भगवान् बुद्ध ने एकान्त में महाकाश्यप को बुलाया और कहा "मैं धर्म-चक्षु का स्वामी हूँ, जो अगोचर सत्य और परम गुह्य ज्ञान है। महाकाश्यप! इस क्षण मैं तुम्हें उसे देता हूँ।" इस प्रकार तथागत ने अपने ज्ञान को महाकाश्यप के मन में संप्रेषित कर दिया। यहीं बौद्ध धर्म में ध्यान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हो गई।

महाकाश्यप ने इस धर्म चक्षु को आनन्द को संप्रेषित किया। जिस गूढ़ अभिप्राययुक्त वाणी से उन्होंने यह किया, वह भी देखने योग्य है। आनन्द ने

१ देखिये [illegible] पद-संज्ञित [illegible] के समान।

एक बार महाकाश्यप से पूछा, "भन्ते ! चीवर और भिक्षापात्र के अलावा और क्या वस्तु है जिसे आपने बुद्ध से पाया ?" महाकाश्यप ने इसके उत्तर में केवल कहा "हे आनन्द !" इस पर जब आनन्द ने "हाँ" कहा, तो महाकाश्यप ने फिर उनसे कहा, "आनन्द ! दरवाजे पर लगे झंडे को नीचा कर दो।" इतना सुनना था कि आनन्द के हृदय में ज्ञान का प्रकाश कौंध गया और उनकी ताली लग गई। इस प्रकार धर्म की मुहर महाकाश्यप से आनन्द को अर्पित कर दी गई।

महाकाश्यप ने आनन्द को झंडे को नीचा करने का आदेश दिया। इसका क्या अभिप्राय है ? विहार के दरवाजे पर झंडे का फहराना वहाँ निरन्तर धर्म-प्रवचन होते रहने का सूचक है। अतः उसको नीचा करने का अभिप्राय है शाब्दिक प्रवचन को बन्द कर देना और गहरे रूप से अपने अन्दर के जगत् में लीन हो जाना। यही गूढ़ सन्देश था जिसे महाकाश्यप ने आनन्द को अर्पित किया।

इस प्रकार बुद्ध के उद्गम से निकल कर ध्यान-सम्प्रदाय के ज्ञान की यह धारा क्रमशः महाकाश्यप और आनन्द में होकर गुरु-शिष्य क्रम से निरन्तर बहती चली गई और भारत में बोधिधर्म इसके अट्ठाईसवें और अन्तिम गुरु हुए। ध्यान सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थों में इन अट्ठाईस धर्माचार्यों के नाम सुरक्षित हैं जो महाकाश्यप से आरम्भ कर इस प्रकार हैं

१ महाकाश्यप
२ आनन्द
३ शाणवास
४ उपगुप्त
५ धृतक
६ मिच्छक
७ वसुमित्र
८ बुद्धनन्दी
९ बुद्धमित्र
१० भिक्षु पार्श्व
११ पुण्ययशस्
१२ अश्वघोष
१३ भिक्षु कपिमल
१४ नागार्जुन
१५ काणदेव
१६ आर्य राहुलत
१७ संघनन्दी
१८ संघयशस्
१९ कुमारत
२० जयत
२१ वसुबन्धु
२२ मनुर
२३ हक्लेनयशस् (हाकलन इश्वेन)
२४ भिक्षु सिंह

२५ वासिसित — २७ प्रज्ञातर
२६ पुण्यमित्र — २८ बोधिधर्म [1]

उपर्युक्त अट्ठाईस गुरुओं या धर्मनायकों की कुछ गाथाएं भी चीनी अनुवादों के रूप में मिलती हैं जिनके द्वारा उन्होंने अपने उत्तराधिकारी शिष्यों को प्रबुद्ध किया। दीक्षा देते समय प्रायः प्रत्येक धर्मनायक अपने शिष्य के सामने इन शब्दों का उच्चारण करता था "अब यह धर्म-चक्षु मैं तुम्हें दे रहा हूं। तुम इसकी पूरी तरह रखवाली करना और इसके बारे में मानसिक सावधानी बरतना।" इसके बाद वह अपनी कुछ गाथाएं कहता था। यहां दो-एक धर्म नायकों की गाथाओं को दे देना आवश्यक होगा। पांचवें धर्मनायक धृतक ने अपने शिष्य मिच्छक को पूर्ण ज्ञान की दीक्षा देते हुए यह गाथा कही थी

"मन के अन्तिम तत्व को देखो
फिर न वस्तुएं हैं और न अ-वस्तुएं ही
कुछ और अ-कुछ दोनों समान हैं
न मन है और न वस्तुएं ही।"

बाईसवें धर्मनायक मनुर ने यह गाथा कही

मन दस हजार वस्तुओं के साथ संचरण करता है
संचरण करते हुए भी यह शान्त है;
जब यह (मन) संचरण करे तो इसके सार को देखो
फिर न सुख है और न दुःख।

---

[1] ध्यानी गुरुओं की यह परम्परा 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' के अनुसार है। देखिये 'दि सूत्र ऑफ वे-लॉन्ग (हुइ-नेंग)' (लुजाक एण्ड कम्पनी, १९७४), पृष्ठ १२०-१२१। सुजुकी ने ध्यान-परम्परा के २८ धर्मगुरुओं के नाम [illegible] बुद्ध शाक्यमुनि से आरम्भ किया है अर्थात् उन्हें प्रथम धर्मगुरु माना है और अट्ठाईसवें धर्मगुरु को बोधिधर्म के रूप में ही दिखाया है। बीच में वसुमित्र को छोड़ दिया है। शेष आचार्यों के नाम और क्रम समान हैं। देखिए, मेनुअल ऑफ जेन बुद्धिज्म दूसरी प्रिंटिंग पृष्ठ १० (राइडर १९५८)। सुजुकी ने यह निर्दिष्ट नहीं किया है कि उन्होंने अपनी सूचना किस स्रोत से ली है। वस्तुतः 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' ही इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। अतः शाक्यमुनि के अलावा उन आचार्यों ध्यान-सम्प्रदाय के महान् में हुए, जिनमें बोधिधर्म अन्तिम (अट्ठाईसवें) थे यही मान्यता उचित लगता है। पोल रेप्स (पु नू-फिया-ला-रीड़) के 'बोधि-गीत' में भी महाकाश्यप को प्रथम धर्म नायक बताया गया है। वैसे भी बुद्ध को धर्मगुरुओं से ऊपर रखना ही ठीक है। शाक्यमुनि 'ध्यान' के ही नहीं, अन्य सब बौद्ध सम्प्रदायों के भी मूल स्रोत हैं और उन सबसे ऊपर भी।

जैसा हम पहले देख चुके हैं ध्यान-सम्प्रदाय के भारत में अट्ठाईसवें और अन्तिम धर्मनायक बोधिधर्म चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक हुए। ध्यान-सम्प्रदाय का निश्चित रूप और क्रमिक विकास हमें इसी समय से मिलना शुरू होता है।

संस्कृत 'ध्यान' (पालि झान) शब्द की चीनी अनुलिपि 'चान्' या 'छान्' है और 'त्सुंग्' चीनी भाषा में 'सम्प्रदाय' को कहते हैं। अतः ध्यान-सम्प्रदाय चीनी भाषा में 'चान्-त्सुंग' या 'छान्-त्सुंग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'ध्यान' शब्द की जापानी अनुलिपि 'ज़-नन्' या संक्षेप में 'ज़ेन्' है और 'सम्प्रदाय' का पर्यायवाची शब्द जापानी भाषा में 'शु' है। इसलिए 'ज़ेन्-शू' नाम से ध्यान-सम्प्रदाय जापान में प्रसिद्ध है।

बोधिधर्म को उनके संक्षिप्त नाम 'धर्म' से भी अक्सर चीन और जापान में पुकारा जाता है जिसके चीनी और जापानी रूप हैं क्रमशः 'दरम' और 'त-मो'। बोधिधर्म ने चीन में अपना प्रथम शिष्य और उत्तराधिकारी हुइ-के (४८७-५९३ ई०) को बनाया। अतः हुइ-के चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के द्वितीय धर्मनायक हुए। पूरे ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा में वे उन्तीसवें धर्मनायक माने जायेंगे। इनके सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं कि बोधिधर्म के शिष्य होने से पूर्व वे कनफ्यूशसवाद को मानने वाले एक महापण्डित थे। स्वभावतः वे चीनी साहित्य और संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् थे। बौद्ध साहित्य का भी यथार्थ ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया। परन्तु अपनी विद्वत्ता का उन्हें तनिक भी अभिमान न था। इतने विनम्र और संकोची थे कि अपनी कुटिया से बाहर ही बहुत कम निकलते थे। पहले तो बहुत समय तक उन्होंने कोई धर्मोपदेश ही नहीं दिया परन्तु बाद में अधिकतर निचले वर्ग की जनता में कुछ धर्मोपदेश करने लगे। धीरे धीरे उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। इसे देखकर सामन्त वर्ग को चिन्ता होने लगी और उन पर यह अभियोग लगाया गया कि वे मिथ्या सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। बौद्ध धर्म कनफ्यूशसवाद और ताओ-मत का समन्वय चीन में धीरे धीरे हुआ परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में और कभी-कभी बाद में भी, बौद्ध धर्म को एक विदेशी धर्म बताकर उसकी भर्त्सना की गई और बौद्ध धर्म को स्वीकार करने वालों को कड़े दण्ड भी सहने पड़े। हुइ-के को भी इसका शिकार होना पड़ा। मिथ्या सिद्धान्तों के प्रचार के अभियोग में उन्हें मृत्यु-दण्ड सुना दिया गया। हुइ-के ने कचहरी में अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, बल्कि यह कहकर कि कर्म के नियम क

मनुसार उन्हें अपने एक पूर्व ऋण को चुकाना ही है उन्होंने शान्तिपूर्वक मृत्यु का वरण कर लिया। इस समय उनकी अवस्था १०७ वर्ष की थी।

मरने से पूर्व हुइ-के ने अपना चीवर और भिक्षापात्र सेंग्-त्सन् नामक भिक्षु को देकर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। सेंग् त्सन् इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के चीन में तृतीय धर्मनायक हुए और पूरे 'ध्यान' की परम्परा में तीसवें।

सेंग्-त्सन् की हुइ-के के साथ हुई प्रथम भेंट का उल्लेख कर देना भी यहां आवश्यक होगा। जिस समय प्रथम बार सेंग-त्सन् हुइ-के से मिलने गये तो उन्होंने उनसे पूछा था 'बुद्ध क्या है ? इसका उत्तर हुइ-के ने यह कहकर दिया कि मन ही बुद्ध है। यह बात ध्यान-सम्प्रदाय के अन्य अनेक आचार्यों ने भी कही है और उनकी साधना को समझने के लिए इसका आधारभूत महत्व है। सेंग्-त्सन् को जापानी भाषा में सोसन कहकर पुकारा जाता है। उनकी मृत्यु सन् ६०६ ई में हुई।

बोधिधर्म के समान हुइ-के ने भी कोई साहित्यिक रचना नहीं छोड़ी है। केवल उनके प्रवचनों का संकलन उनके शिष्यों ने किया था जो आज अपूर्ण रूप में प्राप्त है।

तृतीय धमनायक सेंग्-त्सन् ने ह सिन्-ह् सिन्-मिंग (हृदय में विश्वास') नामक रचना की है जो चीनी गाथाओं में है। 'हृदय' से तात्पर्य यहां मनुष्य के मूलभूत बुद्ध-स्वभाव से है। यहां धर्मनायक ने मनुष्य के वैयक्तिक सान्त परिच्छिन्न मन की उस निरपेक्ष समस्त अपरिच्छिन्न मन से अभिन्नता दिखाई है जिसे बुद्ध-मन बुद्ध चित्त या चित्त-मात्र भी कहा गया है। यही पर मन अस्तित्व की दृष्टि से बुद्ध-स्वभाव है तथता है और नास्तित्व की दृष्टि से शून्यता है। इसी को यहां 'हृदय' कहा गया है। सम्पूर्ण पूर्वेशिया में 'ह् सिन् ह् सिन्-मिन्' एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है और ध्यान के विद्यार्थियों द्वारा वह कण्ठस्थ की जाती है। हमारी दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात जो यहां मिलती है वह है कि अद्वय सत्य को यहां शून्यता का आधार बताया गया है और कहा गया है कि बिना अद्वैत को समझे सत्ता का निषेध करना उसका स्वीकार करना मात्र होगा और शून्य का स्वीकार करना स्वत उसके निषेध में पर्यवसित हो जायगा। इसलिए शून्यवाद को उसके ठीक रूप में समझने के लिए पहले अद्वय सत्य को स्वीकार करना जरूरी है ऐसा यहां स्पष्टतः कहा गया है। 'ह् सिन् ह सिन्-मिन्' की गाथाओं में एक अद्भुत ताजगी है और वस्तुओं के द्वन्द्व को पार करने का उपाय बड़े आकर्षक ढंग से बताया गया है। कुछ गाथाएं पठनीय हैं

"परिपूर्ण मार्ग में कोई कठिनाइयां नहीं,
बस पक्ष में पड़ने से यह इन्कार करता है;
चाहने और न चाहने से विमुक्त होने पर ही
यह अपने रूप को पूरी तरह और बिना छिपाये प्रकट कर देता है।

"एक बाल के बराबर भेद से भी
आकाश और धरती अलग हो जाते हैं
यदि तुम सत्य को अपने सामने-सामने देखना चाहते हो
तो इसके पक्ष या विपक्ष में विचार करना छोड़ दो।

"जो तुम्हें इष्ट है
उसे तुम उसके विरुद्ध खड़ा कर देते हो जो तुम्हें इष्ट नहीं है।
यह मन का सबसे बुरा रोग है।
जब सत्य के मार्ग का ठीक अर्थ नहीं समझा जाता,
तो मन की शान्ति भंग हो जाती है और कुछ लाभ नहीं होता।

"बाहरी बन्धनों का पीछा मत करो
आन्तरिक शून्य में भी मत रमो,
मन जब वस्तुओं के अद्वैत में शान्त निवास करता है
तो द्वैत अपने आप छिप जाता है।

"जब तुम गति को रोक कर शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हो
तो जो शान्ति तुम्हें मिलती है, वह सदा गतिमय ही रहती है,
जब तक तुम द्वैत में ठहरे हुए हो,
अद्वैत का साक्षात्कार तुम किस प्रकार कर सकते हो?

"और जब अद्वैत को ठीक प्रकार नहीं समझा जाता,
तो दो प्रकार की हानि होती है,
सत्ता का निषेध करना उसका स्वीकार करना हो जाता है
और शून्य का स्वीकार करना उसका निषेध बन जाता है।

"शब्दपरता और बौद्धिकता
जितने ही ये अधिक होंगे, उतने ही हम सत्य से दूर चले जाते हैं
इसलिए शब्दपरता और बौद्धिकता को दूर करो ।
फिर कोई ऐसी जगह नहीं जहां तुम स्वतन्त्रतापूर्वक न जा सको ।

द्वैत के साथ मत रुको
सावधानीपूर्वक इसका पीछा करना छोड़ दो ।
जैसे ही तुम ठीक और गलत को अपना लेते हो
विभ्रम मूढ़ हो जाता है मन खो जाता है ।

"एक है तभी दो भी रहता है ।
पर इस एक को भी तुम मत पकड़ो
जब एक मन विक्षुब्ध नहीं होता
तो दस हजार वस्तुएं भी कोई बिगाड़ नहीं कर सकतीं ।

"और जब कोई बिगाड़ नहीं होता तो दस हजार वस्तुएं भी नहीं रहतीं ।
द्रष्टा शान्त हो जाता है जब दृश्य समाप्त होता है
दृश्य समाप्त हो जाता है जब द्रष्टा शान्त होता है ।

"दृश्य द्रष्टा की अपेक्षा से ही दृश्य है,
द्रष्टा दृश्य की अपेक्षा से ही द्रष्टा है
जानो कि इन दोनों की सापेक्षता
अन्त में शून्य के अद्वैत पर ही अवलम्बित है ।

शून्य के अद्वैत में दो एक हो जाते हैं,
और प्रत्येक दो के अन्दर दस हजार वस्तुएं विद्यमान हैं
जब 'इस' और 'उस' के बीच भेद नहीं किया जाता
तो एकपक्षीय और पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टियां पैदा ही कैसे हो सकती हैं ?

अज्ञान ही शान्ति और अशान्ति के द्वैत को पैदा करता है,
ज्ञानी न प्रेम करते हैं और न घृणा
ज्ञानियों को किसी वस्तु की इच्छा या अनिच्छा नहीं होती
द्वैत के सभी रूपों का मन ही अज्ञानवश निर्माण करता है,

वे स्वप्न और आकाशपुष्प के समान हैं,
इन्हें पकड़ने का प्रयत्न कर तुम अपने को व्यर्थ परेशान क्यों करते हो ?
लाभ और हानि, 'हैं' और 'नहीं'
इन्हें एक बार ही सदा के लिये छोड़ दो।

'जब शून्यता के गहरे रहस्य की थाह ले ली जाती है,
तो बाहरी बन्धनों को हम एकदम भूल जाते हैं।
जब दस हजार वस्तुएं अपने सहज रूप में देख ली जाती हैं
तो हम अपने मूल उद्गम पर लौट आते हैं
और वहां निवास करते हैं जहां हम सदा से हैं।

'सच्ची शून्यता के उच्चतर लोक में
न 'पराया' है और न 'अपना'
यदि सीधे रूप में एकत्व के बारे में पूछा जाय
तो हम यही कह सकते हैं कि 'दो नहीं हैं।'

सब में एक
एक में सब,
यदि केवल इसी का साक्षात्कार कर लिया जाय
तो फिर तुम्हें अपने पूर्ण न होने की कोई चिन्ता न होनी चाहिये।

जहां निरपेक्ष मन और वैयक्तिक व्यावहारिक मन
अविभक्त नहीं होते,
बल्कि अविभक्त ही होते हैं जहां निरपेक्ष मन और वैयक्तिक विश्वासी मन,
वहीं पर शब्द असफल हो जाते हैं
क्योंकि शब्द उन वस्तुओं का क्या वर्णन करेंगे
जिनका भूत नहीं भविष्यत् नहीं वर्तमान नहीं।

ध्यान सम्प्रदाय के चीन में चौथे और पूरे 'ध्यान' की परम्परा में इकतीसवें धर्मगुरु ताओ-शिन (५८० ६५१ ई०) थे। वे जब पहली बार अपने गुरु से मिलने गये तो उन्होंने उनसे प्रार्थना की 'कृपा कर आप मुझे विमुक्ति का मार्ग दिखायें।' इस पर सेंग-त्सन् ने उनसे कहा 'तुम्हें बांध किसने रखा है ?'

तब ताओ-हू शिन् ने कहा "किसी ने नहीं" तो गुरु ने फिर कहा, "तब फिर तुम विमुक्ति को क्यों खोजते हो ?" ताओ-हू शिन् के समय में ध्यान-सम्प्रदाय की दो धाराएं हो गईं। एक तो कुछ समय के बाद ही समाप्त हो गई और दूसरी, जिसके प्रधान हुङ्-जेन् थे प्रकृत ध्यान-सम्प्रदाय की धारा के रूप में आगे प्रवाहित हुई और आज तक चली आ रही है।

हुङ्-जेन (६०१-६७४ ई०) चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के पांचवें और पूरी ध्यान-सम्प्रदाय-परम्परा में बत्तीसवें धर्मनायक थे। वे अपने शिष्यों के साथ एक पर्वत पर निवास करते थे। उनके जीवन पर प्रकाश उनके शिष्य और उत्तराधिकारी हुइ-नेंग (६३८-७१३ ई०) के निम्नलिखित वर्णन से पड़ेगा।

चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम (ध्यान-सम्प्रदाय की पूरी परम्परा में तैंतीसवें) धर्मनायक हुइ-नेंग हुए, जिनके नाम का उच्चारण दक्षिणी चीन (जहां के वे निवासी थे) की प्रादेशिक बोली में 'वे-लँग्' किया जाता है। जापानी भाषा में वे 'येनो' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हुइ-नेंग् ने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपने पीछे एक ग्रन्थ भी छोड़ा है जो उनके प्रवचनों का संग्रह है और जिसे उनके मुख से सुनकर उनके एक शिष्य ने लिखा था। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है 'छठे धर्मनायक द्वारा धर्म-रत्न[1] के उच्चासन पर भाषित सूत्र'। इसे 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' भी कहा जाता है या 'छठे धर्मनायक का सूत्र' या 'वे-लँग् (हुइ-नेंग्) का सूत्र' भी। चूंकि इस ग्रन्थ में निहित उपदेश भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार के लिए निर्मित एक मंच पर बैठकर दिये गये थे इसलिये इसका एक नाम 'धर्मनिधि-मंच-सूत्र' (फ-पाओ-तन्-चिंग्) या संक्षेप में 'मंच-सूत्र' ('तन्-चिंग्') भी है। 'सूत्र' शब्द का प्रयोग साधारणतः बुद्ध या बोधिसत्त्वों के द्वारा दिये गये उपदेश के लिए होता है अतः हुइ-नेंग् द्वारा भाषित इस प्रवचन को 'सूत्र' नाम देकर चीनी बौद्ध धर्म की परम्परा में उसे असाधारण सम्मान दिया गया है। हुइ-नेंग् वस्तुतः चीन की भूमि में उत्पन्न होने वाले एक बुद्ध ही थे। 'मंच-सूत्र' सम्पूर्ण एशिया के ही नहीं विश्व के महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साहित्य का एक अंग है। इस सूत्र के आरम्भ में हुइ-नेंग् ने अपनी आध्यात्मिक जीवनी दी है और बताया है कि ध्यान-सम्प्रदाय में उन्हें किस प्रकार श्रद्धा उत्पन्न हुई और किस प्रकार उन्होंने अपने मन के द्वार को खोला। उन्होंने हमें बताया है कि वे दक्षिणी चीन के एक अपढ़ लकड़हारे थे। बाल्यावस्था में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और वे लकड़ी बेचकर अपना और अपनी वृद्धा माता का गुजारा करते

१ फ एक शब्द अनुवाद के अनुसार 'धर्म-रत्न'।

थे। एक दिन जब वे किसी घर में लकड़ी बेचकर लौट रहे थे तो बाहर सड़क पर उन्होंने किसी को वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र से कुछ पद पाठ करते सुना। तत्कालक उनकी अन्तर्दृष्टि जाग पड़ी।[1] उन्होंने मालूम किया कि जो आदमी सूत्र से कुछ पद पढ़ रहा था वह किसी संघाराम से आया था जहाँ ध्यान-सम्प्रदाय के पाँचवें धर्मनायक हुंग-जेन् पाँच सौ भिक्षुओं के साथ रहते थे। हुई-नेंग् ने अपनी माता के गुजारे का कुछ प्रबन्ध किया और पैदल चलते-चलते एक महीने में हुंग्-जेन् के आश्रम में पहुँचे। पहुँचते ही गुरु ने परीक्षा-स्वरूप पूछा, "तुम कहाँ से आये हो और क्या चाहते हो?" हुइ-नेंग् ने उत्तर दिया "मैं क्वंतुंग प्रान्त का एक किसान हूँ और बुद्ध होना चाहता हूँ।" गुरु ने चुटकी लेते हुए कहा, "अच्छा तो तुम दाक्षिणात्य (दक्षिणी चीन के निवासी) हो! परन्तु दाक्षिणात्यों (दक्षिणी चीन के लोगों) में तो बुद्ध-स्वभाव होता ही नहीं। जंगली! तुम किस प्रकार बुद्ध बन सकते हो?' हुइ-नेंग् इस उत्तर से निरुत्साहित नहीं हुए, बल्कि उन्होंने कहा "उत्तरी और दक्षिणी (चीन) हैं तो सही परन्तु बुद्ध-स्वभाव के सम्बन्ध में आप ऐसा भेद कैसे कर सकते हैं?" इस उत्तर से हुंग्-जेन् प्रभावित हुए और उन्होंने नवागत तरुण को अस्तबल में रहने का आदेश दिया। काम भी बता दिया गया—चावल कूटना और ईंधन के लिए लकड़ी फाड़ना। आठ महीने तक इसी काम को करते हुए हुइ-नेंग् विहार के पिछवाड़े में स्थित अस्तबल में बने रहे। जिस कक्षा में धर्म प्रवचन होता था, उस तक वे एक दिन भी नहीं गये और न गुरु ने उन्हें कोई उपदेश ही दिया।

हुंग्-जेन् ने एक दिन अपने शिष्यों को सूचित किया कि वे अपना उत्तराधिकारी भिक्षु निश्चित करना चाहते हैं। अतः जो भिक्षु ध्यान-सम्प्रदाय के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा वही उनके चीवर और भिक्षा पात्र उत्तराधिकार-स्वरूप लेगा। हुंग-जेन् का एक अत्यन्त पण्डित शिष्य शेन्-शिउ नामक भिक्षु था। पूरे आठ फुट लम्बा, चमकीली आँखों और लम्बे कानों वाला यह आकर्षक व्यक्तित्व का भिक्षु त्रिपिटक का पण्डित होने के साथ-साथ ताओ-मत और कन्फ्यूशियसवाद का भी निष्णात विद्वान् था। उसने एक गाथा विहार की दीवार पर लिखी

"शरीर बोधि वृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;

---

१ वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र के जिस अंश को सुनकर हुइ-नेंग् को ज्ञान प्राप्त

हर समय हम उन्हें सावधानी से साफ करते रहते हैं
ताकि उन पर धूल न जम जाय।

गुरु ने इस गाथा का अनुमोदन किया शिष्यों के सामने प्रशंसा भी की परन्तु इससे उनका मन पूरी तरह भरा नहीं। उन्हें लगा कि लिखने वाले को अभी अपने मन के सार का साक्षात्कार नहीं हुआ है उसने अन्दर की उपज को उसके रूप में नहीं देखा है अद्वय सत्य की पूरी शिक्षा अभी उसे प्राप्त नहीं हुई है। अस्तु विचार-मन्थन चलता रहा। हुइ-नेंग् को भी किसी ने यह बात बतलाई। बात ऐसी हुई कि एक बार जब वे चावल कूट रहे थे तो एक लड़का उनके पास खड़ा हुआ शेन्-शिउ द्वारा रचित उपर्युक्त गाथा को पढ़ रहा था। हुइ-नेंग् ने उससे पूछा "यह गाथा क्या है?" लड़के ने कहा "अरे जंगली! तुम्हें इतना भी पता नहीं। गुरु अपना उत्तराधिकारी चुनना चाहते हैं और वे उस ही चीवर और भिक्षापात्र देंगे जो ध्यान के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा और उसी के परिणामस्वरूप शेन्-शिउ ने यह गाथा प्रस्तुत की है।" "तो मेरी भी एक गाथा है। क्या तुम उसे मेरे लिए लिख दोगे?" हुइ-नेंग् ने उस लड़के से कहा। लड़का मजाक करता हुआ बोला "बहुत खूब! तुम भी एक गाथा की रचना कर सकते हो?" और उस लड़के ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। पास में एक छोटा सरकारी अधिकारी खड़ा था। उसने हुइ-नेंग् पर तरस खाया और बोला "बोलो अपनी गाथा को। मैं तुम्हारे लिए लिखे देता हूं।" हुइ-नेंग लिखना नहीं जानते थे। उन्होंने गाथा बोली और उस अधिकारी ने लिपी को इस प्रकार की

"नहीं है बोधिवृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण
तत्वतः सब कुछ शून्य है
धूल जमेगी कहां?"

हुंग्-जेन् ने हुइ-नेंग् को अपना चीवर और भिक्षापात्र दिया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। उन्होंने उनसे कहा "तुम अब से छठे धर्मनायक हो। अपनी खूब सम्भाल रखो और जितने अधिक प्राणियों को मुक्त कर सको करो। सद्धर्म का प्रचार करो और उसका अन्त मत होने दो।" परन्तु एक अपढ़ व्यक्ति को इस प्रकार धर्मनायक बनाये जाने पर कुछ लोगों ने असन्तोष भी

व्यक्त किया। अपने गुरु के आदेश पर हुइ-नेंग विहार छोड़कर अज्ञातवास करने चल गये। गुरु उनके सम्मान में उन्हें मार्ग में एक नदी के पार तक पहुँचाने गए और स्वयं नाव चलायी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के एक ध्यानी चित्रकार ने गुरु-शिष्य की विदाई के इस दृश्य को मार्मिकतापूर्ण ढंग से अंकित किया है। मार्ग में जब हुइ-नेंग् एक दर्रे को पार कर रहे थे तो कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने जिनमें मिंग् नामक एक भिक्षु भी था (जो पहले सेना में एक अधिकारी रहा था और बड़े उजड्ड और क्रूर स्वभाव का था) उन्हें पकड़ लिया और उनसे चीवर और भिक्षापात्र छीनने का प्रयत्न किया। चीवर को पास की एक चट्टान पर फेंकते हुए हुइ-नेंग् ने उससे कहा "यह वस्त्र हमारे धार्मिक विश्वास का प्रतीक है। इसे बलपूर्वक ले जाने से क्या लाभ? परन्तु यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम इसे ले जा सकते हो।" मिंग् ने उसे उठाने का प्रयत्न किया परन्तु नहीं उठा सका। वह भय से काँपने लगा और बोला "मैं धर्म को लेने आया हूँ, कपड़े को नहीं। मेरे प्रिय स्वामी! मेरे अज्ञान को दूर करो।" छठे धर्मनायक ने उससे कहा, "यदि तू धर्म को लेने आया है तो अपनी इच्छाओं को छोड़। मत अच्छे का चिन्तन कर मत बुरे का चिन्तन कर। बल्कि तेरे जन्म से पहले जो तेरा चेहरा था उसे इस क्षण तू देख।" इन मर्म भरे वचनों को सुनकर मिंग् स्तम्भित रह गया उसके शरीर से पसीना निकलने लगा और पश्चात्ताप और कृतज्ञता के कारण वह रोने लगा। गुरु को प्रणाम करते हुए उसने उनसे पूछा "आपके इन सारवान् शब्दों में निहित गुह्य अर्थ के अलावा क्या अन्य भी कोई गुह्य वस्तु है?" हुइ-नेंग् ने उत्तर दिया "मैंने जो तुम्हें दिखाया है उसमें रहस्य कुछ भी नहीं है। यदि तू अपने ही अन्दर विचार करे और अपने मूल चेहरे को पहचान सके जो तेरे जन्म से पहले तेरा था, तो गुह्यता तेरे अन्दर ही है।' "अपने जन्म से पहले के अपने मूल चेहरे" (अपने शुद्ध स्व-भाव बुद्ध-स्वभाव) को देखने की साधना का मौलिक उपदेश इस प्रकार हुइ-नेंग् ने दिया जो उनके दर्शन और अनुभव का सार है। सब युगों में सत्य-शोधक और आत्म साक्षात्कार के प्रयत्न में लगे साधक हुइ-नेंग् के इन शब्दों के अन्दर भोगती हुई गूढ़ अन्तर्मुखमयी साधना का अभ्यास कर सकते हैं और आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में आगे बढ़ सकते हैं।

लगातार सोलह वर्ष तक हुइ-नेंग् ने एकान्तवास किया। इस बीच वे निरन्तर ध्यान करते रहे और किसी ने उन्हें पहचाना तक नहीं। तदनन्तर उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया और उनके शिष्यों की संख्या जिनमें विरक्त और गृहस्थ दोनों ही थे काफी हो गई। उनके सोनावर्ग में ताओ-मत और बलपूर्वक-

वाद को मानने वाले साधारण पुरुषों और विद्वानों की भी संख्या काफी अधिक होती थी। अन्त में जब उनका मृत्यु-काल समीप आया तो उससे एक मास पूर्व उन्होंने अपने शिष्यों को इकट्ठा किया और उनसे कहा कि उपदिष्ट सत्य के बारे में यदि तुम्हें कोई शंकाएं या जिज्ञासाएं हों तो अन्तिम बार मैं उनका समाधान करवा लें क्योंकि अब उनके जाने का समय आ रहा है। इस पर उनके शिष्य रोने लगे। तब उन्होंने उनसे कहा "तुम सब रो रहे हो परन्तु तुम क्यों दुःखी होते हो? यदि तुम यह सोचकर दुःखी हो रहे हो कि मुझे नहीं मालूम कि मैं कहां जा रहा हूं तो तुम गलती पर हो, क्योंकि मुझे मालूम है कि मैं कहां जा रहा हूं। वस्तुतः यदि मुझे यह मालूम न होता तो मैं तुमसे अलग होता ही नहीं। तुम्हारे रोने का कारण सम्भवतः यह है कि तुम स्वयं ही यह नहीं जानते कि मैं कहां जा रहा हूं। यदि तुम इसे जानते होते तो इस प्रकार नहीं रोते। धर्म के सार का न जन्म होता है न मृत्यु। न उसका कहीं आगमन होता है और न निर्गमन। तुम सब बैठो। मैं तुम्हें निर्गुण (निरपेक्ष) पर गाथा सुनाता हूं। इतना कहकर उन्होंने अपने शिष्यों को कुछ गाथाएं सुनाईं। 'निर्गुण' या 'निरपेक्ष' पर कही गई ये गाथाएं ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इनमें हुइ-नेंग ने मुख्य रूप से बताया है कि 'सत्य' और 'मिथ्या' तथा 'चल' और 'अचल' परस्पर-विरोधी विचार हैं और जब तक यह आपेक्षिक विरोध विद्यमान है तब तक सच्चा आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता। 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' के दसवें परिच्छेद में ये गाथाएं दी गई हैं और इस प्रकार हैं

"कहीं कुछ सत्य नहीं है,
सत्य कहीं दिखाई नहीं पड़ता"
यदि तुम कहो कि तुम सत्य को देखते हो
तो यह देखना सत्य नहीं है।[1]

"यदि सत्य को तुम उसके हाल पर ही छोड़ दो
तो फिर उसमें कुछ मिथ्या नहीं, यह मन ही है।

१ क्योंकि निरपेक्ष सत्य अपने को द्रष्टा और दृश्य के द्वैत में विभक्त होने देने से इन्कार करता है।

जब मन ही अपने आप में मिथ्यात्व से विमुक्त नहीं होता,
तो कुछ भी सत्य नहीं, सत्य कहीं देखने को नहीं मिलता।

"चेतन प्राणी ही जानता है कि 'चलना' क्या है,
जिसके चेतना नहीं, उसके लिये चलने की क्रिया का समझना सम्भव नहीं;
यदि तुम अपने मन को समाधि की निश्चलता की अवस्था में रखने का प्रयत्न करो,
तो जिस अचलता को तुम प्राप्त करते हो वह उसकी है, जिसके चेतना नहीं।

"यदि तुम्हें उसकी तलाश है, जो सचमुच में अचल है,
तो अचल चल में ही है
और यह अचल ही सच्चा अचल है;
जहाँ चेतना नहीं, वहाँ बुद्धत्व का बीज भी नहीं है।

"ध्यान से देखो कि अचल के कितने विभिन्न रूप हैं
और जानो कि अचल ही प्रथम सत्यता है।
जब यह स्पष्ट दृष्टि प्राप्त कर ली जाती है,
तो मुक्तावस्था की सच्ची प्रक्रिया समझ में आ सकती है।

"सत्य के विद्यार्थियो! मैं तुम्हें सलाह देता हूँ
ठीक दिशा में प्रयत्न करो;
महायान की शिक्षाओं में
जन्म और मृत्यु के सापेक्ष ज्ञान में लिपटने का अपराध मत करो।

"जहाँ दृष्टियों की सब ओर से सम्मति मिल जाय
वहाँ तुम सब मिलकर बुद्ध के उपदेश के सम्बन्ध में
बातें कर सकते हो,
परन्तु जहाँ ऐसी सम्मति न मिले,
तो वहाँ अपने हाथ जोड़ो
और अपने आनन्द को अपने अन्दर ही रखो।

"इस शिक्षा में ऐसा कुछ नहीं है जिसके
सम्बन्ध में तर्क किया जाय
कुछ भी तर्क करना इसके उद्देश्य के विपरीत चला जायगा
विभ्रम और तर्कवाद से भरे सिद्धान्त
जन्म और मरण की ओर ले जाते हैं।"

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं हुई-नेंग् चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम धर्मनायक थे। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी कोई धर्मनायक नहीं बनाया और आगे के लिए भी आदेश दिया कि कोई धर्मनायक न बनाया जाय—अपने शिष्यों से उन्होंने कहा, 'तुम सब संशयों से रहित हो। इसलिए तुम सब इस सम्प्रदाय के उच्च उद्देश्यों को कार्यान्वित करने में समर्थ हो। बोधिधर्म के शब्दों को हुई-नेंग् ने अपने शिष्यों के सामने दुहराते हुए कहा, "चीन में मेरे आने का उद्देश्य उन सब लोगों को मुक्ति का सन्देश प्रेषित करना था जो मोह में पड़े हुए थे। पाँच पंखुड़ियों में यह फूल पूरा होगा। उसके बाद स्वाभाविक रूप से फल परिपक्व होगा। बोधिधर्म की वाणी सर्वांश में सत्य निकली। बौद्ध ध्यानी सन्तों के साथ का चरम विकास तंग् (६१६–६०९ ई०), सुंग् (६६०–१२७८ ई०) और युवान् (१२०६—१३१४ ई०) राजवंशों के शासन काल में सातवीं से तेरहवीं चौदहवीं शताब्दियों के बीच हुआ और यही शताब्दियां चीनी संस्कृति का स्वर्ण-युग मानी जाती हैं। इसी काल में ध्यान-सम्प्रदाय का ताओ-मत और कन्फ्यूशसवाद के साथ समन्वय हुआ और ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक प्रसिद्ध सन्त और आचार्य भी इसी युग में हुए, जैसे कि म-त्सु (जापानी उच्चारण 'बसो') पै-चङ् (जापानी उच्चारण 'हाकुजो') लिन्-चि (जापानी उच्चारण 'रिंजई') और युन्-मैन् (जापानी भाषा में 'उम्मन') आदि।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के बाद महायान बौद्ध धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय जो अमिताभ की भक्ति और उनके नाम-जप पर जोर देता है अधिक प्रभावशाली हो गया। इसका नाम चौतो-शू या सुखावती-सम्प्रदाय है। चीन और जापान में आज भी सबसे अधिक प्रभावशाली सम्प्रदाय यही है और इसी के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक है। वस्तुतः यह सम्प्रदाय चीन और जापान के निवासियों का लोक धर्म ही बन गया है। अन्य एक दर्जन से अधिक बौद्ध सम्प्रदाय प्रभावशाली रूप में चीन और जापान में विद्यमान हैं जिनके इतिहास में जाना यहां उचित न होगा।

छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् के समय में ध्यान की साधना-पद्धति और सत्य प्राप्ति की प्रक्रिया को लेकर दो विचार-धाराएं प्रचलित हो गईं। उनमें से एक यह मानती है कि सत्य की प्राप्ति क्रमशः, धीरे-धीरे साधना का विकास करते हुए होती है। इसे 'क्रमवृत्य' कहा जाता है। चीन के उत्तरी भाग में इसका प्रचार हुआ। इसलिए इसे ध्यान की 'उत्तरी शाखा' भी कहते हैं। दूसरी विचार धारा यह मानती है कि सत्य की प्राप्ति किसी क्रमिक विकास के अनुसार नहीं होती, बल्कि जब होती है तो अचानक ही एक बार ही, हो जाती है। इसे 'युगपद्' कहा जाता है। इस विचार-धारा का प्रचार दक्षिणी चीन में हुआ। इसलिए इसे ध्यान की 'दक्षिणी शाखा' भी कहा जाता है। हुइ-नेंग् 'युगपद्' सत्य-प्राप्ति में विश्वास करते थे जबकि उनके गुरु भाई शेन्-शिउ (जिनकी शाखा का अनुमोदन करते हुए भी गुरु हुंग्-जैन् ने उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं माना था) क्रमिक या 'क्रमवृत्य' सत्य-प्राप्ति में। वास्तव में सत्य प्राप्ति की प्रक्रिया का यह दो शाखाओं में विभाजन अधिकारियों की कम या अधिक योग्यता के आधार पर ही किया गया है और पारमार्थिक नहीं है। स्वयं हुइ-नेंग् ने कहा है "धर्म को हम 'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' के रूप में विभक्त नहीं कर सकते, बल्कि इसका केवल तात्पर्य यही है कि कुछ लोग अन्य की अपेक्षा अधिक शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जो स्मृतिशील या जागरूक हैं वे सहसा एकदम, सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं, जबकि जो मोह में पड़े हैं उन्हें धीरे-धीरे, क्रमशः अपने को शिक्षित करना होता है। परन्तु जब हम अपने मन को जान लेते हैं, अपने स्वभाव का साक्षात्कार कर लेते हैं, तो यह भेद समाप्त हो जाता है। इसलिए 'युगपद्' और 'क्रमवृत्य' शब्द प्रतीयमान हैं वास्तविक नहीं।"[1] ध्यान-सम्प्रदाय में 'युगपद्' सत्य-प्राप्ति पर ही अधिक बल दिया गया है। जीवन थोड़ा है, जब तक हम तैयारी करते हैं और वस्तुओं को समझने का प्रयत्न करते हैं तब तक यह निकल जाता है। इसलिए एकदम ही जल में कूद पड़ना चाहिए, निर्भयता के साथ और किसी भी विचार को अवकाश न देते हुए। सत्य के जल में अपने को एकदम गिरा देना चाहिए, इस प्रकार का विचार चीनी जन-मानस के अधिक अनुकूल है अतः आकस्मिक रूप से अन्तर्बोध जगाने वाली 'युगपद्' साधना-विधि का ही ध्यान-सम्प्रदाय में अधिक महत्त्व हुआ है। आजकल जापान में भी ध्यान के जितने सम्प्रदाय प्रचलित हैं सब प्रायः 'युगपद्' सत्य प्राप्ति में ही विश्वास करते हैं।

---

[1] दि सूत्र ऑफ वे-लँग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ४८ ।

हुइ-नेंग् का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी था कि उन्होंने ताओ-मत के सन्दर्भ में बौद्ध धर्म की व्याख्या की। उन्होंने 'ताओ' (जिसका मूल अर्थ विराट् मार्ग या आदि तत्त्व है) और 'धर्म' शब्द का प्रयोग समान अर्थ में किया है और उनके बाद के कई अन्य ध्यानाचार्यों ने भी इस बारे में उनका अनुसरण किया है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि ध्यान-सम्प्रदाय ने 'ताओ' को नया जीवन दिया और कन्फ्यूशसवाद के व्यावहारिक नीतिवाद ने बौद्ध धर्म में अपनी समता और परिपूर्णता देखी।

अब हम जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास पर आते हैं। जापान में वैसे तो बौद्ध धर्म का प्रचार कोरिया की मध्यस्थता से छठी शताब्दी ईसवी में ही आरम्भ हो गया था जबकि कुदारा (कोरिया का एक प्रदेश) के राजा ने तत्कालीन जापानी सम्राट् के पास सन् ५५२ ई० में शाक्यमुनि की एक कांस्य प्रतिमा कुछ सूत्र-ग्रन्थों और अन्य धार्मिक वस्तुओं को भेंट-स्वरूप भेजा परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम प्रचार वहां यूआन्-चुआङ् के शिष्य दोशो (६२९-७०१ ई०) ने सातवीं शताब्दी के अन्तिम और आठवीं शताब्दी के आदि भाग में किया। इसके बाद *ताओ-ह्सुआन् नामक चीनी विचारक ने ध्यान-सम्प्रदाय* का प्रचार जापान में किया। ताओ-ह्सुआन् के शिष्य ग्योह्यो तथा उनके शिष्य सेचो (डॅग्यो दैशी) ने आठवीं शताब्दी में ध्यान का प्रचार किया। इस प्रकार सातवीं-आठवीं शताब्दी में जापान में ध्यान-सम्प्रदाय का प्रचार आरम्भ हुआ। परन्तु जड़ें उसने जापानी भूमि में तभी जमाई जब तेन्दई बौद्ध सम्प्रदाय के येइ-साइ (११४१-१२१५ ई०) नामक जापानी भिक्षु ने चीन में जाकर ध्यान-सम्प्रदाय का अध्ययन किया और जापान लौटकर क्योतो नगर में सन् ११९१ ई० में एक ध्यान-मठ स्थापित किया। तदनन्तर कामाकुरा में भी ध्यान-सम्प्रदाय का एक सङ्घाराम बना। ध्यान-सम्प्रदाय की जिस शाखा का येइ-साइ ने जापान में प्रचार किया उसके मूल प्रवर्तक रिंजाई (चीनी, लिन्-चि) नामक चीनी महात्मा थे अतः उनके नाम पर ही इस शाखा का नाम जापान में 'रिंजाई' सम्प्रदाय पड़ा है। रिंजाई का आविर्भाव नवीं शताब्दी में हुआ। उनकी जन्म-तिथि का पता नहीं है, परन्तु उनकी मृत्यु सन् ८६७ ई० में हुई। 'रिंजाई के प्रवचन' ('लिन्-चि-लु') शीर्षक से एक पुस्तक चीनी भाषा में मिलती है, जिसका इस सम्प्रदाय के अनुयायी बड़े मनोयोग से अध्ययन करते हैं। रिंजाई सम्प्रदाय चीन में तो सबसे अधिक प्रभावशाली ध्यान-सम्प्रदाय था ही अपने जापान के इतिहास में भी उसने दाए-ओ (१२३५-१३०८ ई०), दैतो (१२८२-१३३६ ई०) कन्जन् (१२७७-१३६० ई०) और हेकुइन् (१६८५-१७६८ ई०) जैसे प्रभाव

बाली विचारक और सन्त दिये हैं। कंजम् (कंसम् भी) एक अत्यन्त उच्चकोटि के साधक महात्मा थे। काफी वर्षों तक एकान्तवास में ही मठीजी का जीवन बिताते रहे और बाद में अपने गुरु के अनुरोध का पालन कर समाज में आये। एक बार एक धनी व्यक्ति उनसे मिलने आया और धर्म-संलाप के बाद उसने प्रस्ताव किया कि गुरुवार का विहार बहुत टूट-फूट गया है अतः उसे उसकी मरम्मत कराने की आज्ञा दी जाय। कंजम् ने उसे 'मूर्ख' कहते हुए फटकारा और कहा कि वह उनसे धर्म पर संलाप करने आया है और उसे करने के बाद उसे वहां से चले जाना चाहिए। उसे भिक्षु के निवास के बारे में बात करने से क्या मतलब ? मृत्यु भी उन्होंने बड़े अनायास रूप से पाई। जब उनका अन्त समय समीप आया तो उन्होंने विनोदपूर्वक अपने सेवक-शिष्य से कहा, 'मेरी टोपी लाओ। मैं यात्रा पर जाऊंगा।' सेवक टोपी लेकर आया तो गुरु ने उसे कुछ दूर अपने साथ चलने को कहा। पाठ के एक रहट के पास पेड़ के नीचे अपने डंडे का सहारा लेकर कंजम् खड़े हो गये और सेवक-शिष्य से बोले, 'तुम्हारे सिवा मेरे जाने का किसी को पता नहीं है। तुम इस देश में ध्यानाभ्यास का विकास करना।' इतना कहते-कहते डंडे के सहारे खड़े हुए ही फिर समाधि में लीन हो गए।

जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के प्रचार की एक विशेषता यह रही है कि यहां ध्यानी सन्तों (विशेषतः रिंजाई सम्प्रदाय के अनुयायियों) ने जापानी सम्राटों के सहयोग से काम किया अतः उन्हें राज्याश्रय तो मिला ही, जापानी राष्ट्रीय भावना के साथ भी ध्यान-सम्प्रदाय का अधिक संयोग हुआ (चीनी ध्यानी सन्त अक्सर सम्राटों और उनके मंत्रियों के प्रति अनादर की भावना रखते थे) और यही कारण है कि जापान की परम्परागत युद्धवीरी राजपूत जाति समुराई का यह अपना धर्म हो गया और अब तक है। येइ-साइ ने बारहवीं शताब्दी में जापानी भाषा में 'कोज़ान-गोकोकु-रोन्' शीर्षक एक पुस्तक लिखी, जिसका अर्थ है 'ध्यान के प्रचार के रूप में राष्ट्र की सुरक्षा'। इसमें उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि ध्यान-सम्प्रदाय के प्रचार से जापानी राष्ट्र की समृद्धि होगी। येइ-साइ ने सिपाहियों में भी ध्यान-सम्प्रदाय का प्रचार किया, जिससे उनमें कर्तव्यनिष्ठता और उत्तरदायित्व की भावना बढ़ी। आज तक जापानी सैनिकों में ध्यान-सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय है और मनोबल और अनुशासन के लिए उसका अभ्यास आवश्यक माना जाता है। येइ-साइ के बाद उनके शिष्य दो-गेन् (१२००–१२५३ ई०) ने ध्यान-सम्प्रदाय की सोतो (चीनी, त्साओ-तुंग) नामक शाखा की स्थापना सन् १२२७ ई० में की। यह शाखा अपना सम्बन्ध छठे धर्मनायक हुइ-नेंग, उनके शिष्य चिंग्-युआन (मृत्यु ७४० ई०) और उनके शिष्य शिह-

(जिनका जापानी भाषा में उच्चारण 'सेकितो' है और जिनका समय ७०० ७९० ई० है) से मानती है। इसके दो प्रभावशाली पुरुषों के नाम थे—त्साओ शन्-पेन्-ची जिसका जापानी उच्चारण है सोजान होनजाकु (८४० ९०१ ई०) और उनके गुरु तुंग-शन् लियांग्-चिह्, जिनके नाम का जापानी उच्चारण है तोजान र्योकाइ (८०७-८६९ ई०)। इन्हीं दो गुरु-शिष्यों के नामों के प्रथम अक्षरों को जोड़कर यह शाखा चीन में 'त्साओ-तुंग' तथा जापान में 'सोतो' कहलाती है। यह सम्प्रदाय जापान में आज संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभावशाली ध्यान-सम्प्रदाय है। जापान में इसकी स्थापना दो-गेन् नामक महात्मा ने की यह हम ऊपर देख चुके हैं। दो-गेन् जापानी इतिहास में एक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के धार्मिक नेता और विचारक हो गये हैं। उन्होंने ज्ञान और उसके अभ्यास के समन्वय पर बल दिया है। दो-गेन् ने एक पहाड़ी पर गरीबी और ध्यान का जीवन बिताया। धनी और ऊँचे पदों पर स्थित लोगों से मिलना उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं था। जापानी सम्राट् की ओर से उन्हें कई बार मूल्यवान् भेंटें और सम्मान अर्पित करने की इच्छा प्रकट की गई, परन्तु उन्होंने उन्हें स्वीकार नहीं किया। एक बार जब सम्राट ने उनसे एक बहुमूल्य बैंगनी रंग के वस्त्र की भेंट को स्वीकार करने का बहुत आग्रह किया तो उन्होंने उसे स्वीकार तो कर लिया, परन्तु पहना कभी नहीं। इस समय उन्होंने कुछ पंक्तियां लिखीं, जिनका भाव यह है कि मैं यहां पहाड़ की घाटी में रहता हूं, जहां बन्दर और सारस मेरे साथी और मित्र हैं। वे मनुष्य के समान लोभ की भावना से पराक्रान्त नहीं हैं। जब वे मुझ जैसे वृद्ध, गंवार भिक्षु को सांसारिक सम्मान के प्रतीक बैंगनी रंग के वस्त्र को पहने देखेंगे, तो क्या वे मुझ पर नहीं हँसेंगे ? "घाटी की यह बात हल्की है, परन्तु भारी है निश्चयतः राजकीय आज्ञा। जंगल के ये बन्दर और सारस एक वृद्ध भिक्षु को नीलाम्ब वस्त्र पहने देख क्या नहीं हँसेंगे ?" जापानी संस्कृति के इतिहास में दो-गेन् का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। जापानी भाषा में उन्होंने ९५ निबन्ध लिखे हैं जो ध्यान-सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण सम्पत्ति माने जाते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय की एक तीसरी शाखा 'ओबाकु' कहलाती है, जिसकी स्थापना इंगेन (१५९२ १६७३ ई०) नामक चीनी भिक्षु ने सन् १६५४ ई में जापान में की। मूल रूप से इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुआङ्-पो नामक चीनी महात्मा थे जिनका समय नवीं शताब्दी ईसवी है और जो छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् की शिष्य-परम्परा की तीसरी पीढ़ी में थे। चूंकि यह महात्मा चीन में हुआङ्-पो नामक पर्वत पर निवास करते थे, इसलिये उनका नाम भी हुआङ्-पो पड़ गया

था (चीन में अन्य अनेक ध्यानाचार्यों के भी ऐसे उदाहरण हैं जिन्हें उस नाम से ही पुकारा जाने लगा जहाँ वे निवास करते थे)। उनके नाम से सम्बद्ध यह सम्प्रदाय भी चीनी भाषा में 'हुआङ्-पो' कहलाता है। 'हुआङ्-पो' का ही जापानी उच्चारण 'ओबाकु' है। अतः 'ओबाकु' नाम से ही यह सम्प्रदाय जापान में प्रसिद्ध है। हुआङ्-पो (ओबाकु) के प्रवचनों, संवादों और जीवन-प्रसंगों का संकलन उनके समकालीन एक चीनी विद्वान (पी-हस्यू) ने किया था जो आज मिलता है। इसमें साधारण जीवन की भाषा में 'एक मन' के सिद्धान्त को समझाया गया है। चीनी ध्यानी-साहित्य की यह एक अमर रचना है और इसका स्थान छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र के साथ ही माना जा सकता है। 'ओबाकु' सम्प्रदाय की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह बुद्ध के नाम-जप में विश्वास करता है और उसके द्वारा मुक्ति-प्राप्ति सम्भव मानता है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का जोदो शु या सुखावती-सम्प्रदाय से गहरा सम्बन्ध है जिसका मूल-मन्त्र ही अमिताभ बुद्ध के नाम का जप करना है। आजकल 'ओबाकु' सम्प्रदाय 'रिंजई' सम्प्रदाय में ही अन्तर्भुक्त हो गया है। वैसे भी ऐतिहासिक रूप से रिंजई ओबाकु (हुआङ्-पो) के शिष्य ही थे। ध्यान-सम्प्रदाय की जितनी भी शाखाएं आज चीन और जापान में प्रचलित हैं सब ध्यान की शिक्षा पर ही आधारित हैं और इन सबके मूल स्रोत भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध ही हैं। ध्यान की प्रक्रिया-सम्बन्धी कुछ गौण बातों जैसे 'कोआन्' और 'सटोरी' (देखिये आगे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना विधि का वर्णन) को कम या अधिक महत्व देने के कारण इनमें कुछ अल्प विभिन्नताएं पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ गुरु-शिष्य के बीच होने वाले प्रश्नोत्तरमय संवाद (कोआन्) को रिंजई सम्प्रदाय में आध्यात्मिक प्रकाश (सटोरी) को प्राप्त करने के लिए एक आवश्यक साधन के रूप में गृहीत किया गया है जब कि सोटो सम्प्रदाय चिन्तनात्मक अधिक है और दीवार के सामने मुख कर आसन मार कर ध्यान करने की साधना पर जोर देता है। इन छोटी-मोटी बातों को छोड़कर 'ध्यान' के सब सम्प्रदायों में आधारभूत एकता है। बौद्ध धर्म के करीब एक दर्जन से अधिक प्रभावशाली सम्प्रदाय इस समय जापान में प्रचलित हैं। ध्यान-सम्प्रदाय उन सब में संख्या की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली तो नहीं है (सुखावती-सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक है और कुछ अन्य सम्प्रदायों के अनुयायी भी 'ध्यान' से अधिक हैं) परन्तु फिर भी करीब एक करोड़ से ऊपर लोग उसके अनुयायी हैं। करीब २२ १०० ध्यान-मन्दिर इस समय इस सम्प्रदाय के जापान में हैं जिनमें से १५ ००० सोटो सम्प्रदाय के और ६००० रिंजई सम्प्रदाय

के और ५०० ओबाकु सम्प्रदाय के। ध्यान सम्प्रदाय के भिक्षुओं की संख्या भी लगभग १६,००० है। जापानी जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिस पर ध्यान-सम्प्रदाय का प्रभाव अंकित न हो। क्या साहित्य क्या कला क्या व्यक्तिगत बर्ताव और क्या समाज-नीति सभी मुक्तकण्ठ से ध्यान-सम्प्रदाय के प्रभाव को घोषित करते हैं। काव्य नाटक चायपान-नीति (जिसका जापान में बहुत प्रचार है) चित्रकला वास्तुकला यहां तक कि घर की सजावट साग भाजी बनाने की कला और तीर और तलवार चलाने की कला में भी ध्यान-सम्प्रदाय का विशिष्ट प्रभाव जापानी जन-जीवन पर अंकित है। जापानी सैनिकों पर उसकी जो अमिट छाप है उसका तो कुछ कहना ही नहीं। सैनिक चेतना का इतना आश्चर्यक संयोग आध्यात्मिक साधना के साथ ध्यान-सम्प्रदाय में हुआ है कि इस दृष्टि से उसकी तुलना भारतीय सिख-सम्प्रदाय से आसानी से की जा सकती है। और दोनों सन्त-मत तो हैं ही, जिनमें वीरता के साथ-साथ मानवीय आत्मा की दीनता निरीहता और पूर्णता के लिए उसकी पूरी छटपटाहट और विकलता भी प्रकट हुई है। जापानी योद्धाओं की एक वीरता-नीति है जो 'बुशिदो' कहलाती है। उस पर ध्यान की मानसिक शिक्षा का अमिट प्रभाव पड़ा है। जापान के इतिहास में उसके निवासियों पर जो सबसे बड़ी विपत्ति आई, वह तेरहवीं शताब्दी में दो बार मंगोलों का आक्रमण था। उसे जापानियों ने परास्त किया और जिस व्यक्ति के हाथ में इसकी बागडोर थी वह ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षा पाया हुआ था। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय जापान के राष्ट्रीय इतिहास के साथ गहरे रूप से सम्बद्ध हो गया है। जापानी संस्कृति के प्राण-तत्वों का उसने निर्माण किया है और उसकी प्रगति से वह सर्वत्र एकाकार रहा है। शत्रु के प्रति एक विशेष प्रकार का आध्यात्मिक प्रेम जापान के 'बुशिदो' आदर्श की एक विशेषता है। इसे ध्यान-सम्प्रदाय की ही देन माना जाता है। उपर्युक्त मंगोल युद्ध के बाद मृत आत्माओं की शान्ति के लिए एक मन्दिर (ऍंगाकु-जी) कामाकुरा में सन् १२८२ ई० में बनवाया गया था और यह उल्लेखनीय है कि वह जापानी और मंगोल (विरोधी आक्रान्ता) दोनों ही मृत सिपाहियों की शान्ति के लिए समर्पित था। यह उदार सैनिक भावना विस्तृत रूप से बौद्ध धर्म की ही देन है, इसे बौद्ध धर्म के अन्य देशों में इतिहास से भी जाना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप सिंहली राजा दुट्ठ गामणी (१०१ ई० पूर्व से ७७ ई० पूर्व तक) ने अपने शत्रु तमिल नेता एलार की मृत्यु के बाद उसके शव का राजकीय सम्मान से दाह-कर्म करवाया था, उसके ऊपर एक स्मारक बनवाया था और आज्ञा दी थी कि उसके समीप मार्ग

प्राप्ति न किया जाय। ध्यान-सम्प्रदाय ने शत्रु के प्रति प्रेम और उदारता की सही भावना जापान को दी। साथ ही उच्च मनोबल का विकास, निर्णय लेने की क्षमता और कठिन श्रम की भावनाएं ध्यान-सम्प्रदाय ने जापान के सैनिक और असैनिक जीवन को दी हैं। जापानी संस्कृति की शालीनता का यदि उच्चतम रूप देखना हो तो चाय-संस्कार में ही देखा जा सकता है जो ध्यान-सम्प्रदाय का एक अनुष्ठान है जिसका परिचय हम आगे यथास्थान देंगे। जापानी जीवन पर ध्यान-सम्प्रदाय के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध जापानी विद्वान् तकाकुसु ने कहा है कि सादगी, पवित्रता और ईमानदारी के आदर्श की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति बौद्ध धर्म के ध्यान अभ्यास में ही हो सकती है और वर्तमान काल में जापान की शिक्षा-व्यवस्था में ध्यान-सम्प्रदाय के विचारों को जापान के राष्ट्रीय जीवन से अलग नहीं किया जा सकता।[1]

---

१. [illegible] पृ० १७२ ([illegible] १९४९)। [illegible] पृ० १४०–१४२ [illegible] (पृ० ९, १९९) [illegible]।

तीसरा परिच्छेद

साहित्य

ध्यान-सम्प्रदाय शास्त्रों से बाहर एक विशेष सम्प्रेषण है। अतः उसके स्वयं के अन्दर शास्त्र हों यह सम्भव नहीं। शास्त्र अर्थात् स्वतः प्रामाण्य लिये हुए पावन धार्मिक ग्रन्थ। ऐसी कोई वस्तु ध्यान सम्प्रदाय में नहीं है। शब्द मात्र में ध्यानी साधकों को अधिक आस्था नहीं है। शब्दों और वर्णों पर वे अधिक निर्भरता नहीं मानते। फलतः जो कुछ लिख दिया गया है दूसरों के अनुभवों के लेख के रूप में हमें प्राप्त है उसका भी गौण महत्व है। वह सहायक है परन्तु उससे सावधान रहने को भी कहा गया है। वह स्वानुभव के स्थान को न ले ले इसके लिए ध्यानी साधक सचेष्ट है। सत्य की सीधी अवगति—निरावरण निर्विकल्प निरपेक्ष सत्य को अपने आप देखना—ध्यानी साधना का लक्ष्य है। अतः लिखित साहित्य को उसमें अधिक महत्व नहीं मिल सका है। यही कारण है कि महान् से महान् ध्यानी साधकों ने भी लिखने की उत्सुकता प्रकट नहीं की है और न उन्होंने कुछ लिखित साहित्य ही छोड़ा है। अनेक के प्रवचनों को उनके शिष्यों ने संकलित किया है। कुछ-एक उदाहरण ऐसे भी हैं जबकि रचनाओं को व्यावहारिक रूप में उपयोगी न समझ कर तेजस्वी ध्यान-साधकों द्वारा उन्हें नष्ट तक कर दिया गया है। तेह्-शन (७८०-८६५ ई०) ने 'वज्रच्छेदिका' पर लिखी अपनी बहुमूल्य व्याख्याएं इसी प्रकार जला डाली थीं। प्रारम्भिक साधकों को ध्यान-सम्प्रदाय में सावधान किया जाता है कि वे अपने अनुभवों को लेखबद्ध करने की उतावली न करें। इतना सब कुछ होने पर भी यह एक तथ्य है कि ध्यान-सम्प्रदाय का एक विशाल परिमाण में साहित्य उपलब्ध है जो अपनी अभिव्यक्ति की मौलिकता में अद्वितीय है और जिसे आध्यात्मिक अनुभवों का एक महान् भाण्डार कहा जा सकता है। कोई साधना पुस्तकीय ज्ञान का कितना ही निराकरण क्यों न करे, अन्त में कुछ आध्यात्मिक अनुभवों के महत्वपूर्ण वाहन रह ही जाते हैं और उनका सहारा लेना ही पड़ता है। यह मनुष्य के स्वभाव की आवश्यकता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह अपने अनुभवों को किसी न किसी प्रकार व्यक्त करना ही चाहता है।

ध्यान सम्प्रदाय में भी इसका प्रतिफलन हुआ है और इसके परिणामस्वरूप [illegible] बुद्ध भावना की कोटि में आने वाली कई महत्वपूर्ण रचनाएं मिली हैं।

लंकावतार सूत्र

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में मुख्य स्थान का अधिकारी ग्रन्थ लंकावतार सूत्र है जो दस परिच्छेदों (परिवर्तों) में विभक्त एक महान संस्कृत दार्शनिक ग्रन्थ है। जापानी विद्वान् बुनयु नंजियो द्वारा सम्पादित इसका देवनागरी संस्करण ओतानी यूनीवर्सिटी प्रेस क्योतो (जापान) से सन् १९२३ में निकला था। यहीं से इसका दूसरा संस्करण सन् १९५६ में निकला है। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास में प्रारम्भ से ही लंकावतार-सूत्र का बड़ा आदर रहा है। वैसे तो सामान्यतः यह माना जाता है कि बोधिधर्म अपने साथ कोई ग्रन्थ नहीं ले गये थे परन्तु एक मान्यता यह भी है कि वे अपने साथ लंकावतार-सूत्र की प्रति को चार पुस्तिकाओं में चीन ले गये थे और उन्होंने अपने शिष्य हुइ-के को देते हुए उनसे कहा था "मैंने अनुभव किया है कि चीन में कोई सूत्र नहीं है। अपने काम दर्शन के लिए तुम इसे ग्रहण करो। इससे तुम सहज ही जगत् का उद्धार करने में समर्थ होगे।" इसमें उपासना की [illegible] सम्बन्धी गुह्य [illegible] चार रूप में वर्णित है। यह समस्त प्राणियों को आध्यात्मिक प्रकृति और प्रज्ञा की ओर ले जाने वाला है। बोधिधर्म और हुइ-के के साथ इस प्रकार सम्बन्धित होने के कारण लंकावतार-सूत्र ध्यान-सम्प्रदाय का अत्यन्त महत्वपूर्ण और आधारभूत ग्रन्थ बन गया है। चीन और जापान में इस सूत्र के अनुशीलन का अपना एक अलग इतिहास भी है। हुइ-के ने अपने [illegible] और [illegible] नामक शिष्यों को इस सूत्र के गूढ़ सन्देश से परिचित कराया और उन्होंने भी इस क्रम को आगे अपने शिष्यों के लिए जारी रखा। इस प्रकार यह परम्परा पीढ़ियों तक चलती रही। चूंकि हुइ-के के ये सब शिष्य प्रसिद्ध लंकावतार-सूत्र के प्रकाण्ड पण्डित थे और लंकावतार-सूत्र को आधार मानकर ही अपने उपदेश देते थे अतः इतिहास में वे "लंकावतारवादी" के नाम से ही प्रसिद्ध हो गये हैं। सातवीं शताब्दी ईसवी में [illegible] नामक चीनी भिक्षु ने लंकावतार-सूत्र का [illegible] अध्ययन किया। उसने इस ग्रन्थ के [illegible] अधिक प्रवचन दिये और इस पर उत्तम भाष्य लिखे। [illegible] (रचित) [illegible] चीनी में आज उपलब्ध है। [illegible] ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य का [illegible] मानी जाती है। जापान में [illegible]-सूत्र ([illegible] ईस्वी) में लंकावतार सूत्र की [illegible] महायान सूत्र का [illegible] समझा जाता।

था और सरकार की ओर से इस कार्य के लिए लेखक नियुक्त थे जिन्हें बहुत अच्छा पारिश्रमिक दिया जाता था। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के कोकवन् शिरेन् (१२७८-१३४६ ई०) नामक जापानी आचार्य ने लंकावतार-सूत्र पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा जिसका नाम है 'बुत्सुगोशिन् रोन्' अर्थात् बुद्ध-धर्म-हृदय भाष्य'। यह अठारह खण्डों में है जिनमें लंकावतार सूत्र के विषय और दर्शन का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। सन् १६८७ ई० में तोकुमन मोशोन् नामक एक अन्य जापानी विद्वान् ने लंकावतार-सूत्र पर अपना भाष्य लिखा। लगातार बीसवीं शताब्दी तक लंकावतार-सूत्र पर व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक साहित्य की रचना चीन और जापान में होती आ रही है।

लंकावतार-सूत्र का पूरा नाम है 'आर्यसद्धर्मलंकावतार-महायानसूत्र' (आर्यसद्धर्मलंकावतारो नाम महायानसूत्रम्) जिसका अर्थ है लंका में आर्य सद्धर्म के अवतार या अवतरण को वर्णन करने वाला महायान-सूत्र। संक्षेप में इसे 'लंकावतार' भी कहते हैं। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ के तीन अनुवाद मिलते हैं। पहला अनुवाद गुणभद्र ने सन् ४४३ ई० में किया। दूसरा बोधिरुचि ने सन् ५१३ ई० में। तीसरा अनुवाद शिक्षानन्द के द्वारा सन् ७००-७०४ ई० में किया गया। पहले अनुवाद में पहला नवाँ और दसवाँ परिच्छेद (परिवर्त) नहीं है। शेष सम्पूर्ण परिच्छेद (दूसरे से लेकर आठवें तक) तीनों अनुवादों में मिलते हैं। इसका अर्थ यह है कि पहला नवाँ और दसवाँ परिच्छेद सन् ४४३ और ५१३ ई० के बीच की रचना है। ग्रन्थ का सम्पूर्ण शेष अंश ४४३ ई० से पूर्व का होना ही चाहिये। परन्तु लंकावतार-सूत्र में एक जगह आर्य नागार्जुन के आविर्भाव के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की गई है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि यह अंश नागार्जुन के समय (१२० ई०) से पूर्व का नहीं हो सकता। इस प्रकार मोटे रूप में हम यह मान सकते हैं कि ईसा की दूसरी और पाँचवीं सदी शताब्दियों के बीच इस ग्रन्थ की रचना हुई। लंकावतार-सूत्र के दो तिब्बती अनुवाद भी मिलते हैं।

लंकावतार-सूत्र ध्यान-सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ नहीं उसमें महायान के प्रायः सब आधारभूत सिद्धान्त मिलते हैं। उनकी गणना उन नौ महान् ग्रन्थों में है

---

१ दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः॥
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तरम्।
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्॥

पृष्ठ २८६ (सन् १९५६ का संस्करण)

जो महायान-सूत्र, वैपुल्य-सूत्र या नव धर्म कहलाते हैं[1] और जो महायान धर्म और दर्शन की आधार-शिला हैं। लंकावतार-सूत्र को स्वयं इस ग्रन्थ में 'सर्वबुद्ध प्रवचन हृदय' कहा गया है। इससे सम्पूर्ण महायान में उसके महत्त्व को समझा जा सकता है। लंकावतार-सूत्र के दसवें परिच्छेद का नाम 'सगाथकम्' है जिसमें ८८४ गाथाएं हैं। शेष ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। लंकावतार की शैली अत्यन्त दुरूह है और विषय का संकलन भी कुछ इस प्रकार किया गया है कि उसमें शृंखला का खोजना कभी-कभी बहुत कठिन काम हो जाता है। पारिभाषिक शब्दों की भी अधिकता है। इसलिए यह ग्रन्थ सामान्य पाठकों के काम का नहीं रह गया है।

लंकावतार-सूत्र के प्रथम परिवर्त में जिसका शीर्षक 'रावणाध्येषणा-परिवर्त' है यह दिखाया गया है कि एक बार भगवान् बुद्ध लंका में मलय पर्वत पर स्थित राक्षसाधिपति रावण के प्रासाद में आते हैं और रावण उनसे उनके गहन आत्म-साक्षात्कार पर और धर्म और अधर्म के द्वैत के प्रहाण पर प्रश्न पूछता है। बुद्ध के उत्तरों के रूप में इस प्रकार सद्धर्म का लंका में अवतरण या अवतार होता है, जिसके आधार पर ही इस ग्रन्थ का नाम सद्धर्मलंका-वतार या संक्षेप में 'लंकावतार' पड़ा है।

लंकावतार के दूसरे परिवर्त में, जिसका पहले परिवर्त से विशेष सम्बन्ध नहीं है महामति बोधिसत्त्व बुद्ध से दार्शनिक महत्त्व के अनेक प्रश्न पूछते हैं जिनमें निर्वाण, आलय मनोविज्ञान, भूततथता शून्यता चित्त मात्र आदि की समस्याएं आती हैं। सातवें परिच्छेद तक दार्शनिक प्रश्नोत्तरों का यही क्रम चलता है। आठवें परिच्छेद (मांसभक्षण-परिवर्त) में मांस भक्षण का प्रतिषेध है। नवां परिच्छेद (धारणी-परिवर्त) एक धारणी के रूप में है और दसवें परिच्छेद में, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं दार्शनिक महत्त्व की ८८४ गाथाएं हैं। लंकावतार का एक समग्र दर्शन है जिसे किसी एक 'वाद' में नहीं बांधा जा सकता। परम सत्य को यहां शून्यता भी कहा गया है भूततथता भी चित्त मात्र भी। ऐसा लगता है कि शून्यवाद और विज्ञानवाद (योगाचार-मत) के समन्वय का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया गया है। द्वैत भाव का आदि से अन्त तक निरसन है और परम सत्य को सम्पूर्ण द्वैतवादी विचारों और विकल्पों से अतीत अस्तित्व-नास्तित्व से अतीत, हेतु प्रत्यय से अतीत बताया गया है।

---

१ ये नव ग्रन्थ हैं अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, गण्डव्यूह, दशभूमीश्वर, ललितविस्तर सद्धर्मपुण्डरीक, समाधिराज, तथागतगुह्यक, लंकावतार और सुवर्णप्रभास।

इस प्रकार निर्विकल्प अभेद ज्ञान की यहाँ प्रतिष्ठा है। लंकावतार-सूत्र का मूल विचार यह है कि यह जगत् चित्त का ही विकार है मन का ही विषयभूत रूप है। जितना भी जड़-चेतनात्मक जगत् है सब मन में है और मन से बाहर कोई पदार्थ नहीं है। यह लंकावतार का दर्शन है। बार-बार इस पर जोर दिया गया है। कहा गया है कि 'यह सब चित्त ही है।'[1] 'ब्रह्मादि स्थान-पर्यन्त सब को मैं चित्त कहता हूँ।'[2] 'चित्त को ही मैं बुद्ध कहता हूँ।'[3] ध्यान-सम्प्रदाय के तत्त्व-ज्ञान का परिचय देते समय हम आगे (पाँचवें परिच्छेद में) लंकावतार-सूत्र के दार्शनिक सिद्धान्तों का कुछ उपयोग करेंगे अतः यहाँ लंकावतार के सम्बन्ध में कुछ-एक विशेष महत्त्वपूर्ण बातें कह देना ही पर्याप्त होगा।

लंकावतार एक आध्यात्मिक महत्त्व का ग्रन्थ है। गहन दार्शनिक सिद्धान्तों का पारिभाषिक शब्दावली में विवेचन होने पर भी लंकावतार का मूल उद्देश्य ऐसे सत्य का उपदेश देना है जो 'प्रत्यात्मगतिगोचर' है, अर्थात् जिसका साक्षात्कार प्रत्येक शरीर और हृदय में होना चाहिये और जो तर्क से नहीं प्राप्त किया जा सकता। 'तार्किकाणामविषयं यं देशयन्ति वै नायका प्रत्यात्मगतिगोचरम्'[4]। इस 'प्रत्यात्मगतिगोचर' ज्ञान को ही यहाँ 'स्वप्रत्यात्मगति' 'प्रत्यात्माधिगम' 'प्रत्यात्मवेद्यगतिधर्म' और 'प्रत्यात्मार्यज्ञानगोचर' भी कहकर पुकारा गया है। इस सबका तात्पर्य यही है कि ज्ञान की अपरोक्ष अनुभूति प्रत्येक हृदय में होनी चाहिये। लंकावतार-सूत्र की रचना का उद्देश्य इस प्रत्यात्मवेद्य ज्ञान के साक्षात्कार में सहायता पहुँचाना ही है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं लंकावतार का आठवाँ परिच्छेद मांस भक्षण प्रतिषेध पर है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में यह परिच्छेद विलक्षण ही है, क्योंकि यहाँ स्पष्ट शब्दों में मांस भक्षण को बुद्ध-शासन के विपरीत बताया गया है और उसकी तीव्र निन्दा की गई है। महामति बोधिसत्त्व भगवान् बुद्ध से पूछते हैं 'भगवन्! वे लोग भी जो मिथ्या सिद्धान्तों को मानते हैं जो लोकायत हैं सत् और असत् के द्वैत को मानते हैं या उच्छेदवादी हैं या शाश्वतवादी हैं वे भी मांस भक्षण का प्रतिषेध करते हैं और स्वयं भी मांस नहीं खाते। परन्तु

---

१ 'चित्तमात्रमिदं सर्वम्'। पृष्ठ २ ६।
२ ब्रह्मादिस्थानपर्यन्तं चित्तमात्रं वदाम्यहम्। पृष्ठ २ ६।
३ चित्तं बुद्धं वदाम्यहम्। पृष्ठ २६६।
४ पृष्ठ १४-१५।

क्या कारण है कि हे महामते ! आपके शासन में, जो सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रणीत है और जिसका एकमात्र रस ही कृपा है, स्वयं भी मांस खाया जाता है और दूसरों के द्वारा खाया जाता हुआ रोका भी नहीं जाता।" "कृपैकरसे सम्यक्-सम्बुद्धप्रणीते शासने मांसं स्वयं भक्ष्यते भक्ष्यमाणं च न निवार्यते।' इसके उत्तर में बुद्ध मांस-भक्षण की तीव्र निन्दा करते हुए कहते हैं, 'महामते भविष्य में ऐसे दुर्बुद्धि भिक्षु होंगे जो शाक्यपुत्रीय श्रमण कहलायेंगे और जो काषाय वस्त्रों की ध्वजा लगा-लगा कर इधर-उधर घूमेंगे। वे मांस के स्वाद के वशीभूत होकर मांस भक्षण के समर्थन में अनेक प्रकार के हेत्वाभासों (मिथ्या हेतुओं) को उपस्थित करेंगे और कहेंगे कि भगवान ने मांस-भोजन को विहित बताया है और उसकी अनुज्ञा दी है—'भगवता मांसभोजनमनुज्ञातं कल्प्यमिति। वे यह भी कहेंगे कि कदाचित् तथागत ने स्वयं भी इसे खाया था (स्वयं च किल तथागतेन परिभुक्तमिति)। इस प्रकार तीव्र भर्त्सना करते हुए बुद्ध यहाँ मांस भक्षण को अपने शासन के सर्वथा विपरीत बताते हैं, उसके विपरीत अनेक तर्क देते हैं और किसी भी अवस्था में मांस भक्षण की अनुमति नहीं देते। लंकावतार-सूत्र में मांस भक्षण के विरोध में वैसे तो अपरिमित कारण बताये गये हैं। "अपरिमितैर्महामते कारणैर्मांसं सर्वमभक्ष्यं कृपात्मनो बोधिसत्त्वस्य।" परन्तु विशेषतः मांस भक्षण के विरुद्ध यहाँ आठ कारण दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं (१) आवागमन में घूमते हुए प्राणी उन्हीं का मांस खा सकते हैं जो अनेक पूर्व जन्मों में कभी उनके माता, पिता भाई, पुत्र, पति या पत्नी आदि रहे हों। (२) बौद्ध धर्म का सार हृदय की करुणा में है। बोधिसत्व 'सर्वभूतात्मभूत' होता है। कोई करुणात्मन् व्यक्ति दूसरों का मांस नहीं खा सकता। (३) मांस खाने वाले के शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। उसकी प्रकृति हिंसक हो जाती है। उसकी आकृति में भी क्रूरता आ जाती है। (४) बौद्ध धर्म का अपयश, जो मांस खाता है वह अपने लिए और बौद्ध धर्म के लिए भी लोगों में घृणा के भाव जगाता है। लोग कहने लगते हैं 'यह कैसा श्रमण है'? 'इसका श्रामण्य नष्ट हो चुका है।' (५) मांस खाने वाले को दुःस्वप्न आते हैं। वह गहरी नींद नहीं सो सकता। अतः स्वभाव थोड़े में ही विचलित हो जाने वाला हो जाता है। (६) जानवरों का मांस गन्दा भोजन है। मांस के पकने की दुर्गन्ध ही किसी मनुष्य के मन को उदास करने के लिए पर्याप्त है। (७) मांस खाने वाले का नैतिक और आध्यात्मिक पतन होता है। लंकावतार-सूत्र में इसके दो उदाहरण भी दिये गये हैं जो साम्प्रदायिक रूप से तुलनात्मक पौराणिक तत्त्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

कहा गया है कि पूर्व काल में राजा सिंह सौदास बड़ा मांस भोजन प्रेमी था। नर मांस का भी उसे चस्का लग गया। उसकी जनता ने इससे खिन्न होकर उसे राजगद्दी से उतार दिया। मांस-प्रियता के कारण ही इन्द्र को बाज का रूप धारण कर कबूतर रूप-धारी विश्वकर्मा का पीछा करना पड़ा जिस पर कबूतर पर दया कर राजा शिवि को अपना मांस तक काट कर देना पड़ा। इस प्रकार मांस भक्षी अपने और दूसरों पर भी विपत्ति लाता है। (८) मांस-भक्षण से चतुर्दिक का वातावरण क्षुब्ध बनता है। प्राणी सन्त्रस्त होते हैं। अतः सत्य के खोजियों का उचित भोजन गेहूं और चावल और तेल आदि ही हैं। लंकावतार के इस (आठवें) परिच्छेद में कुछ अन्य (महायान) सूत्रों के भी नाम दिये गये हैं जिनमें बुद्ध ने मांस भक्षण का सर्वथा प्रतिषेध किया है। वे ये हैं हस्तिकक्ष्य-सूत्र महामेघ-सूत्र, निर्वाण-सूत्र और अंगुलिमालिक-सूत्र। इस प्रसंग में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि पालि विनय-पिटक में कुछ अवस्थाओं में मांस भक्षण की अनुज्ञा दी गई है। इस पिटक के अनुसार ऐसा मांस खाया जा सकता है जिसके बारे में न तो ऐसा देखा गया हो (दृष्ट) न ऐसा सुना गया हो (श्रुत) और न ऐसी शंका ही हो (परिशंकित) कि यह मांस हमारे लिए पशु को मार कर तैयार किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लंकावतार-सूत्र पालि विनय पिटक की अपेक्षा एक काफी उत्तरकालीन रचना है। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि जब बौद्ध संघ में मांस भक्षण काफी प्रचलित हो गया और साधारण जन समाज में भी उसकी निन्दा होने लगी तो लंकावतार-सूत्र में मांस-भक्षण-प्रतिषेध पर एक परिच्छेद लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसमें मांस भक्षण को बुद्ध द्वारा पूर्ण निषिद्ध बतलाने का प्रयत्न किया गया। सुजुकी ने इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है। परन्तु एक अधिक सम्भावना यह भी लगती है कि बुद्ध के काल में ही भिक्षुओं का एक ऐसा वर्ग था जो मांस-भक्षण को बुद्ध के उपदेश के बिलकुल प्रतिकूल मानता था और उसी की दृष्टि लंकावतार सूत्र में समर्थित है। कुछ भी हो लंकावतार सूत्र में प्रभावशाली ढंग से मांस भक्षण को सब किसी के लिए और सब अवसरों पर बुद्ध-शासन के विपरीत बताया गया है और उसका प्रभाव पूर्वीय देशों के भिक्षु-जीवन पर पड़ा है। चीन और जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षु मांस नहीं खाते। छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) ने शिकारियों के साथ पन्द्रह साल तक जंगल में छिपकर विपत्ति अवस्था में रहते हुए भी मांस नहीं खाया था। केवल उबली हुई सब्जियां लेते थे। सुजुकी ने हमें बताया है कि जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के विहारों में मांस

नहीं खाया जाता और भिक्षु पूर्ण शाकाहारी भोजन लेते हैं।[1] जापान जैसे मांसाहारी देश में लंकावतार-सूत्र का यह प्रभाव कुछ कम नहीं माना जा सकता।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात जो हमें लंकावतार-सूत्र में मिलती है, वह है कि इसके तीसरे परिवर्त में यह कहते हुए कि बुद्ध के असंख्य नाम (असंख्येय नाम पर्याय) हैं बताया गया है कि कोई उन्हें तथागत कहते हैं, कोई नायक कोई विनायक कोई स्वयम्भू, कोई विष्णु कोई ईश्वर कोई राम। स्वयं बुद्ध भगवान् कहते दिखाये गये हैं, 'महामते! कोई मुझे तथागत के रूप में पहचानते हैं कोई स्वयम्भू के रूप में कोई विष्णु के रूप में कोई ईश्वर के रूप में। कोई राम के रूप में मुझे जानते हैं।'

'तत्र केचिद् महामते तथागतमिति मां सम्प्रजानन्ति। केचित् स्वयम्भुवमिति विष्णुमीश्वरं 'रामं केचे सजानन्ति''।[2]

इस प्रकार इस महा ग्रंथ में हम देखते हैं कि अन्य अनेक नामों के साथ 'राम' भी बुद्ध का एक नाम है। यदि हम बुद्ध को अपने अन्दर देखें (जैसा कि 'ध्यान' का उद्देश है) तो सब बुद्ध, जो इस जगती में हैं हमें बुद्ध का निवर्त या निर्माण काय ही दिखाई पड़ेगा और वे ही अनेक-अनेक रूपों में अनेक-अनेक भूखण्डों में, अपनी करुणा से लोगों के कल्याणार्थ सत्य का उपदेश करते दिखाई पड़ेंगे। लोगों की मुक्ति के लिए बुद्ध ईश्वर भी बन सकते हैं महेश्वर भी, देवेन्द्र भी, वैश्रवण भी देव भी नाग भी यक्ष-गन्धर्व असुर-गरुड़-किन्नर भी, मनुष्य भी अ-मनुष्य भी ऐसा एक अन्य महायान-सूत्र में भी कहा गया है जो ध्यान सम्प्रदाय में गृहीत है।[3] बुद्ध का इतना विराट् रूप महायान को मान्य हुआ, तभी वह विश्व-धर्म बना जीवन्त धर्म बना। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत में आज भी यही विधि चलेगी और इसको न समझना मानव की एक महान् आध्यात्मिक आवश्यकता को ही न समझना होगा।

जैसा हम अभी कह चुके हैं लंकावतार-सूत्र में 'राम' को बुद्ध का एक नाम बताया गया है और कहा गया है कि बुद्ध लोग इस नाम में भी तथागत को

---

1. [illegible] पृ० ३६, मिलाइये डा० [illegible] पृष्ठ १४० । [illegible] है कि [illegible]

2. लंकावतार-सूत्र पृष्ठ १९२।

3. देखिये आगे 'ध्यान सम्प्रदाय' का परिच्छेद।

जानते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि उपास्य भगवान् के रूप में राम के स्वरूप की प्रतिष्ठा उस युग में प्रचलित थी जिसमें लंकावतार-सूत्र लिखा गया। गुण भद्र ने ४४३ ई० में लंकावतार-सूत्र का जो चीनी अनुवाद किया उसमें उक्त प्रकरण है। अतः इस बौद्ध ग्रन्थ के प्रमाण से यह सिद्ध है कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में राम की उपास्य भगवान् के रूप में प्रतिष्ठा थी। भक्ति के, विशेषतः राम भक्ति के विकास के इतिहास के लिए इस तथ्य का बड़ा महत्व है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि रामानुज-रामानन्द की परम्परा (बारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक) तो राम भक्ति की प्रचारक मात्र थी, अध्यात्म रामायण भी निश्चयतः लंकावतार-सूत्र से काफी बाद की रचना है। अतः राम भक्ति के विकास के इतिहास के लिए लंकावतार-सूत्र का साक्ष्य बहुत महत्व का है क्योंकि उससे यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि ईसा की दूसरी और पाँचवीं शताब्दियों के बीच उपास्य भगवान् के रूप में राम की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भक्ति के विकास के इतिहास में इस तथ्य की ओर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है। राम भक्ति के गवेषकों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

यह कितना सुखद और गौरवपूर्ण विषय है कि भारत में 'राम' नाम के भी एक भगवान् हैं, यह सूचना पूर्वेशिया के देशों में भागवतों या परम वैष्णवों के द्वारा नहीं बल्कि बौद्ध श्रमणों के द्वारा ले जाई गई जिसके कुछ क्षीण संस्कार अब तक भी इन देशों के निवासियों—कम-से-कम श्रमणों और साधकों—के हृदयों में विद्यमान हैं।

लंकावतार-सूत्र का रचना-काल चाहे जितना इधर माना जाय वह शंकर से तीन शताब्दी पूर्व का तो कम-से-कम है ही। शंकर के आविर्भाव से कुछ पहले हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) के जीवन-काल में तो हम कई चीनी भिक्षुओं को लंकावतार-सूत्र का एक-एक हजार बार पाठ तक करते देखते हैं। ऐसा ही एक भिक्षु (फ-ताँग्) हुई-नेंग् से मिलने आया था। छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र (सातवां परिच्छेद) में इसका उल्लेख है। शंकर से काफी पूर्वकालीन लंकावतार के चीनी अनुवादों का उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर जब हम लंकावतार-सूत्र में यह पढ़ते हैं कि यह जगत् मायोपम है, मृगमरीचिका के समान मिथ्या है, परिकल्पित है, गन्धर्व, वन्ध्या

पुष्प, बुद्बुद, स्वप्न, गन्धर्वनगर और अलातचक्र के समान है,[1] तो हमें निश्चयतः गौडपाद और शंकर की भाषा की याद आ जाती है जिस पर अनिवार्य रूप से लंकावतार-सूत्र और अन्य पूर्ववर्ती महायानिक सूत्र-ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। अजातिवाद का विशद निरूपण हमें लंकावतार-सूत्र में मिलता है और विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि गौडपाद ने भाव और भाषा दोनों में उसे वहीं से ग्रहण किया है। हम यह मानते हैं कि अद्वैत वेदान्त के मूल स्रोत वेद या उपनिषदों में ही निहित हैं परन्तु उसके साथ ही हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वेदान्त के मायावाद, अजातिवाद, जगन्मिथ्यात्व और दो सत्यों (व्यवहार और परमार्थ) की विचारणाओं के स्रोतों की खोज के लिए हमें बौद्ध ग्रन्थों के साथ-साथ महायान के पूर्ववर्ती साहित्य, जिसमें प्रज्ञापारमिताएँ और लंकावतार सूत्र जैसे ग्रन्थ सम्मिलित हैं, के पास भी अनिवार्य रूप से जाना पड़ेगा, इसमें बिल्कुल भी सन्देह नहीं है।

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र

लंकावतार-सूत्र के बाद जिस ग्रन्थ का ध्यानी साधकों में सर्वाधिक महत्त्व और प्रचार है वह है वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र। एक परम्परा तो यहाँ तक मानती है कि बोधिधर्म ने हुइ-के को जिस सूत्र को दिया था वह लंकावतार न होकर वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र ही था। परन्तु यह सही नहीं है। कुछ भी हो यह बात सही है कि पाँचवें धर्मनायक (हुंग्-जेन्) के समय से, अर्थात् बोधिधर्म के करीब १५० वर्ष बाद वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र ने लंकावतार-सूत्र के महत्त्व को लेना आरम्भ कर दिया। हम पहले देख ही चुके हैं कि छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् को वज्रच्छेदिका के कुछ अंश सुनकर ही सम्यक् दृष्टि प्राप्त हुई थी। वज्रच्छेदिका के जिस वाक्य को (चीनी अनुवाद में) सुनकर हुइ-नेंग् को एकदम अन्तर्बोध उत्पन्न हुआ वह था 'न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तम् उत्पादयितव्यम्'। अर्थात् 'न कहीं प्रतिष्ठित चित्त को उत्पन्न करना चाहिए।' यहाँ 'न कहीं प्रतिष्ठित चित्त' (न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तम्) से क्या वास्तविक अभिप्राय है, यह हम आगे चतुर्थ परिच्छे-

[1] देखिये [illegible] पृष्ठ १०४। [illegible] पृष्ठ १००। [illegible] पृष्ठ १००। [illegible] पृष्ठ १६।

में देखेंगे। हुइ-नेंग् अपने शिष्यों को वज्रच्छेदिका के निरन्तर पाठ और मनन करने का उपदेश देते थे। अपने गृहस्थ और भिक्षु शिष्यों को 'प्रज्ञा' पर प्रवचन देते हुए एक बार उन्होंने कहा था, "यदि तुम धर्म धातु और समाधि प्रज्ञा के गम्भीरतम रहस्य में अन्तर्प्रवेश करना चाहते हो तो तुम्हें 'वज्रच्छेदिका-सूत्र' के पाठ और मनन के द्वारा प्रज्ञा का अभ्यास करना चाहिये। यह तुम्हें मन के सार (तथता) का साक्षात्कार करने में सहायता देगा।" वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र की शैली लंकावतार के समान दुरूह नहीं है अतः यह अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है और आजकल जापान में जिस व्यापक रूप से उसका पठन-पाठन किया जाता है वह आश्चर्यकर है। जापानी भाषा में यह सूत्र 'कोंगोक्यो' के नाम से प्रसिद्ध है। कुमारजीव ने वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र का चीनी अनुवाद 'वज्र-सूत्र' शीर्षक से सन् ४०२ ४१२ ई० में किया था। इसके बाद बोधिरुचि परमार्थ धुमान् धुयाङ् इ-त्सिंग् और धर्मगुप्त ने इस ग्रन्थ के अपने चीनी अनुवाद किये। यह उल्लेखनीय है कि इन सब अनुवादों में कुमारजीव का अनुवाद श्रेष्ठ माना जाता है और वह चीनी भाषा का एक शास्त्रीय गौरव ग्रन्थ ही बन गया है।

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र महायान के प्रज्ञापारमिता साहित्य का एक अंश है जिसका विस्तृत परिचय देना यहाँ आवश्यक न होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि सवा लाख एक लाख पच्चीस हजार, आठ हजार चार हजार, ढाई हजार और सात सौ श्लोकों के संस्करण प्रज्ञापारमिताओं के मिलते हैं, जिनमें आठ हजार श्लोक वाला संस्करण (अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता) सबसे प्राचीन माना गया है और शेष उसके बृहद् या लघु संस्करण हैं। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का चीनी अनुवाद 'ताओ-हसिंग्' शीर्षक से लोकरक्ष के द्वारा सन् १०२ ई० में किया गया था। अतः प्रज्ञापारमिता-साहित्य की प्राचीनता निर्विवाद है।

प्रज्ञापारमिताओं का मूल दर्शन है शून्यता। 'रूपं शून्यता। शून्यतैव रूपम्। रूप शून्यता है। शून्यता ही रूप है। इसी का विस्तार सम्पूर्ण प्रज्ञापारमिता-दर्शन है। मायावाद का निरूपण भी यहाँ विस्तार से मिलता है। प्रज्ञापारमिताएं सम्पूर्ण प्रपंचात्मक सत्ता को निःशेष करती हुई शून्यता में समाविष्ट कर देती हैं। विरोधी भाषा का वे प्रचुर रूप से प्रयोग करती हैं। नागार्जुन ने अपने शून्यता-दर्शन की बुनियाद प्रज्ञापारमिताओं पर ही रक्खी है। ऐतिहासिक और तात्त्विक, दोनों दृष्टियों से ध्यान-सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान और साधन-पथ पर प्रज्ञापारमिताओं का प्रभाव पड़ा है। प्रज्ञा की यह पारमिता या

परिपूर्णता जो सब वस्तुओं में शून्यता को देखती है प्रज्ञापारमिताओं का दर्शन है और यही ध्यान-सम्प्रदाय में भी गृहीत है। 'प्रज्ञापारमिता' शब्द का अर्थ छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् ने प्रज्ञा के द्वारा पार जाना, दूसरे किनारे पर आ जाना या सत् और असत् के क्षेत्र को पार कर जाना, किया है।[1] 'वज्रच्छेदिका' नाम भी साभिप्राय है। 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता' से तात्पर्य प्रज्ञा की उस परिपूर्णता से है जो वज्र (हीरे) की तरह सीधी काट करती है। इस शब्द में यह अर्थ ध्वनित है कि ज्ञान की मार सीधी और तीक्ष्ण होनी चाहिये। वह ज्ञान ही क्या जिसकी मार से जीता तिलमिला न जाय? 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता' में ऐसा ही ज्ञान रक्खा हुआ है। हम जानते हैं कि उसके कुछ शब्दों को सुन कर ही एक अपढ़ लकड़हारा मर्माहत हो गया था और बाद में वह 'ध्यान' का छठा धर्मनायक बना। कुछ प्रसंगान्तर होने पर भी हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि हमारे मध्य-कालीन निर्गुणिया सन्त भी ऐसे ज्ञान के पक्षपाती थे जो सीधी मार करे जिसका शब्द रूपी तीर जाकर सीधा कलेजे को छेद दे और साधक के शरीर से आग-सी फूट निकले:

"सतगुरु सांचा सूरिवां सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भ मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक॥
सतगुर मार्‌या बाण भरि धरि करि सूधी मूठि।
अंग उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि॥

ज्ञानी सन्तों के वचन इस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

'वज्रच्छेदिका' में शून्यता पर जोर दिया गया है। इस सूत्र का उपदेश बुद्ध ने अनाथपिण्डिक के श्रावस्ती-स्थित जेतवनाराम में सुभूति नामक शिष्य को दिया था। अतः यह ग्रन्थ बुद्ध और सुभूति के संवाद के रूप में है। प्रारम्भ में सुभूति बुद्ध से पूछते हैं कि बोधि की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार उसमें प्रतिष्ठित होना चाहिए और किस प्रकार उसे अपने विचारों का मर्यादन करना चाहिए। इस प्रकार इस सूत्र का उपदेश भावना की दृष्टि से प्रारम्भ होता है। तथागत के ऐतिहासिक वैयक्तिक रूप के स्थान पर उनके धर्म-कायभूत रूप पर जोर दिया गया है, "सुभूति! क्या तुम समझते हो कि कोई धर्म है जिसका उपदेश तथागत ने दिया हो?" "नहीं! [illegible]

१ दि सूत्र ऑव् वेई-लैंग् (हुइ-नेंग्), पृष्ठ १०।

है जिसका उपदेश तथागत ने दिया हो। 'सुभूति ! क्या तथागत को बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से पहचाना जा सकता है ?' "नहीं भन्ते ! उन्हें बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से नहीं पहचाना जा सकता।" "सुभूति ! यदि कोई यह कहे कि तथागत जाते हैं या आते हैं या बैठते हैं या लेटते हैं, तो वह मेरे उपदेश के अर्थ को नहीं जानता। क्यों ? क्योंकि तथागत न कहीं जाते हैं न कहीं आते हैं। इसीलिये वे तथागत कहलाते हैं।" "यदि कोई मुझे रूप से देखना चाहे या शब्द से मुझे खोजना चाहे तो वह गलत रास्ते पर है और तथागत को नहीं देख सकता।" परम सत्य के सम्बन्ध में आठ बातों का निषेध करते हुए जिनका बाद में नागार्जुन ने विकास किया वज्रच्छेदिका में कहा गया है "उत्पाद नहीं उच्छेद नहीं निरोध नहीं शाश्वत नहीं एकार्थ नहीं नानार्थ नहीं आगमन नहीं निर्गमन नहीं।" विरोधी भाषा का प्रयोग भी वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता में है। "बुद्ध के उपदेश के अनुसार प्रज्ञापारमिता प्रज्ञापारमिता नहीं है इसीलिये वह प्रज्ञापारमिता कहलाती है।' 'जिसे बुद्ध धर्म कहा जाता है वह बुद्ध धर्म नहीं है इसीलिये वह बुद्ध धर्म कहलाता है। मायावाद भी है। "सभी कृत वस्तुएं (संस्कार) एक स्वप्न के समान हैं, मरीचिका के समान बबूले के समान छाया के समान ओस की बूँद के समान बिजली की कौंध के समान। इस प्रकार इन्हें समझो।

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र का गम्भीर आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्व तो है ही, सांस्कृतिक दृष्टि से भी वह भारतीय साहित्य की एक महत्वपूर्ण रचना है। उसके छह प्राचीन चीनी अनुवादों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् ग्रन्थ के संस्कृत संस्करण के अलावा एक खोतनी संस्करण भी पूर्वी तुर्किस्तान में मिला है। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता के सोग्दी और शक भाषाओं में अनुवाद भी हुए, जिनके कतिपय अंश मिले हैं। इस प्रकार मध्य-एशिया में बौद्ध धर्म के प्रचार में इसने काफी योग दिया। एक सबसे बड़े महत्व की बात यह है कि चीन में सन् ८६८ ई० में सर्वप्रथम मुद्रित होने का गौरव भी इस ग्रन्थ को मिला। इस प्रकार भारतीय साहित्य का यह सर्वप्रथम ग्रन्थ था जो छापेखाने में गया भारत से बाहर के एक देश के छापेखाने में (भारत में शताब्दियों बाद पुस्तकों की छपाई का कार्य आरम्भ हुआ)।

'हृदय-सूत्र'

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक महायानिक ग्रन्थ हैं जिन्हें ध्यान-सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त है और जिनका पठन पाठन उसके विहारों में किया जाता है। इनमें मुख्य हैं प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र, शूरंगम समाधि सूत्र, विमलकीर्ति निर्देश-सूत्र और समन्तमुख-परिवर्त। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र (या संक्षेप में 'हृदय-सूत्र') एक अत्यन्त लघु रचना है और प्रायः सब अवसरों पर ध्यान-सम्प्रदाय के विहारों में इसका पाठ होता है। जापानी भाषा में इसका नाम है 'शिन्ग्यो'। 'हृदय-सूत्र' के दो संस्करण मिलते हैं एक लघु और दूसरा बड़ा। प्रायः लघु संस्करण का ही प्रयोग चीन और जापान में पाठ के लिए होता है। यह उल्लेखनीय है कि प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र की मूल संस्कृत भाषा में ताड़पत्रों पर लिखी प्रति जापान के नारा नगर के प्रसिद्ध प्राचीन बौद्ध मन्दिर होर्युजी में अब तक सुरक्षित है जहाँ वह सन् ६०९ ई० से रक्खी हुई है। इस प्रकार इसका पुरातात्त्विक महत्त्व स्पष्ट है। ऐसा माना जाता है कि 'प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र' की उपर्युक्त प्रति को बोधिधर्म अपने साथ भारत से चीन ले गये थे और वहाँ से वह जापान में लाई गई। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र का मूल विचार यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सब शून्यता-स्वरूप हैं, अ-जात और अ-निरुद्ध हैं। प्रज्ञापारमिता-दर्शन का यह हृदय है। हुयान् च्वांग ने 'हृदय-सूत्र' का चीनी भाषा में अनुवाद सन् ६४९ ई० में किया और कुमारजीव ने सन् ४०२—४१२ ई० में।

शूरंगम-समाधि सूत्र

'शूरंगम-समाधि-सूत्र' (या संक्षेप में केवल शूरंगम-सूत्र, शूरंगम-सूत्र भी) चीनी त्रिपिटक के अन्तर्गत दो संस्करणों में मिलता है जिनके विषय भिन्न भिन्न हैं। प्रथम का चीनी अनुवाद कुमारजीव ने सन् ४०२-४१२ ई० के बीच किया और द्वितीय का परमिति ने सन् ७०२ ई० में। द्वितीय संस्करण ही ध्यान सम्प्रदाय में चलता है। शूरंगम सूत्र जापानी भाषा में 'शुर्योगोक्यो' के नाम से प्रसिद्ध है।

'शूरंगम-समाधि सूत्र' या 'शूरंगम-सूत्र' का विषय है एक अत्यन्त दुर्गम ध्यान का वर्णन करना—अपने मन पर अन्तिम विजय। कथा आनन्द के आख्यान से शुरू होती है। आनन्द मातंगी नामक एक जादूगरनी के प्रेम-पाश में बंध जाते हैं और पतित होने जाते हैं। बुद्ध अपने अन्तर्ज्ञान से इसे देखते हैं और मंजुश्री

बोधिसत्व को आनन्द को अपने पास बुलाने भेजते हैं। आनन्द आते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। आनन्द बहुश्रुत हैं परम विद्वान् हैं परन्तु मन पर पूरी विजय नहीं पा सके। इसका क्या कारण है? बुद्ध कहते हैं कि विद्वत्ता या बौद्धिक ज्ञान का आध्यात्मिक अनुभव की प्राप्ति में अधिक महत्व नहीं है। इसके लिए समाधि का अभ्यास आवश्यक है। उसी से मन पर पूरी विजय प्राप्त होती है। बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि तुम अपने मन के सार को खोजो तथा समझाओ कि तुम्हारा मूल मन कहां है? आनन्द कुछ नहीं समझ पाते और उनसे कोई उत्तर देते नहीं बनता। तब उन्हें मूल मन या मन के सार का उपदेश दिया जाता है जो इस सूत्र का मुख्य विषय है और ध्यान की गवेषणा का केन्द्रीय बिन्दु भी। जिसे यहां मन का सार या मूल मन कहा गया है, वह वास्तव में निर्विशेष निरपेक्ष निर्विकल्प और अपरिच्छिन्न मन ही है जो अहं प्रत्यय मन से भिन्न है। जिसे हम साधारणतः व्यक्तिगत मन या चित्त कहते हैं और जिसका अध्ययन मनस्तत्ववेत्ता करते हैं उसका सम्बन्ध सापेक्ष अनुभवों से है। उससे यहां अभिप्राय नहीं है। मन का सार या मूल मन वह निरपेक्ष चेतन सत्ता है जो हमारे सब सापेक्ष अनुभवों का आधार है और वही उन्हें सम्भव बनाती है। मूल मन या मन के सार का अस्तित्व है, तभी यह सम्भव होता है कि हम देखते हैं सुनते हैं सोचते हैं मनन करते हैं और सारा जगत् के सारे अनुभवों को करते हैं। इस अतीत पर मन की खोज करना ही शूरंगम-समाधि-सूत्र का विषय है। शमथ और विपश्यना (विदर्शना) के अभ्यास को यहां इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक बताया गया है और ध्यानाभ्यास का उपदेश किया गया है।

विमलकीर्ति निर्देश-सूत्र

विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र की कथावस्तु इस प्रकार है। विमलकीर्ति वैशाली का एक वृद्ध उपासक (बौद्ध गृहस्थ) है जो बौद्ध धर्म का महान् ज्ञाता है। एक बार वह बीमार पड़ता है और बुद्ध उसे देखने के लिए अपने किसी शिष्य को भेजना चाहते हैं। कोई राजी नहीं होता क्योंकि विमलकीर्ति के ज्ञान से सब संकुचित हैं। उससे वार्तालाप करने के लिए अपने को अयोग्य मानते हैं। अन्त में बुद्ध मंजुश्री बोधिसत्व को भेजते हैं जो करुणा के साक्षात् अवतार हैं और समन्तभद्र (या समन्तमुख) के रूप में प्रज्ञा के भी। मंजुश्री विमलकीर्ति के पास जाते हैं और उसके स्वास्थ्य के बारे में उससे पूछते हैं। विमलकीर्ति उत्तर देता है 'बोधिसत्व प्राणी की बीमारी महाकरुणा से उत्पन्न होती है। जब प्रत्येक प्राणी की बीमारी अन्त हो जायगी तो मेरी बीमारी का भी अन्त हो जायगा।

मैं बीमार हूँ, क्योंकि सब प्राणी बीमार हैं।' अन्त में संलाप इस विषय पर चल पड़ता है कि अद्वय सिद्धान्त का क्या अर्थ है? मंजुश्री अद्वयवाद पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और फिर विमलकीर्ति से पूछते हैं कि उसकी इस पर क्या राय है? विमलकीर्ति एक शब्द भी नहीं बोलता बिलकुल चुपचाप रह जाता है। बोधिसत्त्व मंजुश्री उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। यहीं सूत्र समाप्त हो जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय के एक चित्रकार ने विमलकीर्ति के इस 'गरजते हुए मौन' को एक चित्र में अंकित किया है जिसकी रेखाओं में वृद्ध विमलकीर्ति की आन्तरिक भावना प्रकम्पित-सी होती और बाहर निकलती-सी दिखाई पड़ती है।

विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र का कुमारजीव ने सन् ४०६ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया। तब से यह चीन और जापान में अत्यन्त लोकप्रिय महायानिक ग्रन्थ बन गया है। मूल संस्कृत रूप में यह नहीं मिलता। बौद्ध अद्वैतवाद के स्वरूप और वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ उसके सम्बन्ध को समझने के लिए विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र का अध्ययन आवश्यक है।

समन्तमुख-परिवर्त

समन्तमुख-परिवर्त सद्धर्मपुण्डरीक के चौबीसवें परिवर्त (परिच्छेद) के रूप में है।[1] कुमारजीव ने सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसमें यह पच्चीसवें परिवर्त के रूप में है। चीनी भाषा में कुमन्-यिन्-चिंग् और जापानी में 'कन्नोन-ग्यो' के नाम से यह प्रसिद्ध है। इसमें अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की स्तुति के पुण्य का वर्णन है। अवलोकितेश्वर का ही दूसरा नाम समन्तमुख बोधिसत्त्व है। इसलिए इसका एक नाम 'अवलोकितेश्वर-विकुर्वण-निर्देश' भी है और एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी गौरव इसे दिया जाता है। 'समन्तमुख-परिवर्त' या 'अवलोकितेश्वर विकुर्वण-निर्देश' का मूल सन्देश यह है कि अवलोकितेश्वर, जो करुणा के अवतार हैं, प्राणियों को दुःख से बचाने के लिए व्रत लिए हुए हैं और इसी हेतु वे इस सहा-लोकधातु में (संसार में जिसमें सहना पड़ता है) नाना रूप धारण कर प्राणियों को दुःख-मुक्त करते हैं और उन्हें सत्य का उपदेश करते हैं। वे भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं (विकुर्वण), यदि उन्हें ऐसा ज्ञान पड़े कि उनके द्वारा उन रूपों के धारण करने से प्राणी मुक्त हो जायेंगे। इस प्रकार अवलोकितेश्वर बुद्ध का रूप भी धारण

---

१ देखिये सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र का बिब्लिओथिका बुद्धिका एडिशन ([illegible] १९१२) पृष्ठ ४४५, ४५०।

धर लेते हैं बोधिसत्त्व का भी प्रत्येकबुद्ध का भी, श्रावक का भी ब्रह्मा का भी शक्र का भी यक्ष का भी ब्राह्मण का भी देव-यक्ष-नाग-असुर-गन्धर्व-गरुड़-किन्नर-मनुष्य अमनुष्य का भी। यदि अवलोकितेश्वर देखते हैं कि कोई प्राणी ईश्वर के शिक्षार्थी हैं और उनकी मुक्ति ईश्वर के द्वारा ही होनी है, तो अवलोकितेश्वर उनके लिए ईश्वर का रूप धारण करके ही उन्हें धर्म का उपदेश करते हैं। इसी प्रकार जब अवलोकितेश्वर देखते हैं कि कोई प्राणी महेश्वर के शिक्षार्थी हैं और महेश्वर के द्वारा ही उन्हें मुक्ति मिलनी है तो अवलोकितेश्वर उनके लिए महेश्वर का ही रूप धारण कर लेते हैं और इसी रूप में उन्हें धर्म का उपदेश करते हैं। 'ईश्वरवैनेयानां सत्त्वानामीश्वररूपेण महेश्वरवैनेयानां सत्त्वानां महेश्वर रूपेण धर्मं देशयति।'[1] इस प्रकार इस सूत्र की भावना बड़ी उदार है और हमारे देश में भक्ति का जो विकास हुआ है, उसके उद्गम के स्रोतों को समझने के लिए आवश्यक है। यहां स्पष्टतः हमें यह विचार मिलता है कि करुणा ही भगवान् के अनेक-अनेक रूप लेकर इस संसार में अवतरित होने का कारण है। इस विचार ने बाद में चलकर वैष्णव भक्ति-साधना में भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। बार-बार हमारे भक्त गाते हैं 'भए प्रगट कृपाला' और 'धर्म हेतु अवतरेहु गुसाईं'। ऐतिहासिक रूप से हम देखें तो यह बात सर्वप्रथम बुद्ध के अवतार के सम्बन्ध में ही महायानिक बौद्धों के द्वारा कही गई है और यही वह सर्वाधिक सुप्रयुक्त भी है। बुद्ध करुणा के अवतार हैं मुक्ति के विधायक हैं। इस प्रकार भक्ति के इस पक्ष का उद्गम हमें यहां मिलता है।

जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के विहारों में दिन में तीन बार बड़ी घंटी बजती है और तीनों बार घंटी बजने के समय 'कन्नोन-ग्यो' का पाठ किया जाता है। महाकरुणा के अवतार अवलोकितेश्वर की बात ध्यानियों के लिए इतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

मंच-सूत्र

उपर्युक्त महायान-सूत्रों के अतिरिक्त जिन्हें ध्यानी साधक पढ़ते हैं स्वयं चीनी और जापानी ध्यानी साधकों की रचनाएं हैं अनुभव-वाणियां हैं जिनका भी आदरपूर्वक अनुशीलन ध्यान के साधक इन देशों में करते हैं। इस प्रकार के साहित्य में छठे धर्मनायक द्वारा धर्म-रत्न के उच्चासन पर भाषित सूत्र या 'मंच-सूत्र' (तन् चिंग) का स्थान सर्वोच्च है। इस सूत्र के सम्बन्ध में हम पहले

---

१ सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र पृष्ठ ४४२ (बिब्लिओथिका इंडिका कलकत्ता, १९५३ ई.)।

(द्वितीय परिच्छेद में) कह चुके हैं और इससे कुछ उद्धरण भी दे चुके हैं। योग वासिष्ठ, ज्ञानेश्वरी, कबीर की बानी और रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों के समान इस सूत्र का स्थान विश्व के अमर भावनात्मक साहित्य में है। इस ग्रन्थ में, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, हुइ-नेंग् के उपदेशों और वचनों का संकलन है। प्रारम्भ में हुइ-नेंग् की आत्म-जीवनी है जिसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप हम द्वितीय परिच्छेद में दे चुके हैं। इस सम्बन्ध में दो-एक प्रसंगों का और उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। हुइ-नेंग् जन्म-जात साधक थे। प्रज्ञा उनके अन्तःकरण में बाल्यावस्था से ही स्वतः स्फुरित होती थी। उनके पूर्व-जन्मों का ध्यान संचित था जो एक बार वज्रच्छेदिका के कुछ पदों को सुनकर फूट पड़ा (जिसके सम्बन्ध में हम वज्रच्छेदिका के प्रकरण में देख चुके हैं)। आठ महीने तक वे हुङ् जेन् के आश्रम के रसोईघर में ही पड़े रहे और चावल कूटते रहे और ईंधन के लिए लकड़ियाँ फाड़ते रहे। न उन्हें कभी हुङ् जेन् ने उपदेश ही दिया, यहाँ तक कि हुइ-नेंग् पूरे आठ महीने में एक बार भी उस कक्ष तक नहीं गये जहाँ धर्मगुरु प्रवचन करते थे। और उनको इतनी साधन-सम्पत्ति थी कि जो जानते परम सत्य का प्रवचन होता। न पढ़ सकते न लिख सकते और उनके जैसे कड़े श्रम के व्यक्ति को देखकर न कोई समझ सकता कि यह व्यक्ति जंगली भी ज्ञानी है। परन्तु था वह परम ज्ञानी ही प्रज्ञा का स्वयं साक्षात्कार करने वाला जिसका पता उनके बोलने पर ही लगाया जा सकता था। अपने प्रचारकाल में हुइ-नेंग् को अनेक कठिनाइयाँ सहनी पड़ीं। पन्द्रह साल तक उन्हें एक ऐसे स्थान में शरण लेनी पड़ी जहाँ उन्हें शिकारियों के साथ रहना पड़ा। जब शिकारी उन्हें अपने जालों की देखभाल करने छोड़ जाते थे तो वे उनमें फँसे प्राणियों को जाल से निकाल देते थे। उनके लिए प्रायः वे निरामिष भोजन की व्यवस्था करते थे। शिकारी जिन बर्तनों में मांस पकाते उन्हीं में कुछ सब्जियाँ डाल देते थे और उनसे अपना गुजारा करते थे। एक बार वे एक बौद्ध विहार में गये जहाँ महापरिनिर्वाण-सूत्र पर प्रवचन चल रहा था। प्रवचन के अन्त में दो भिक्षुओं में एक बात पर वाद-विवाद छिड़ा और वह शान्त नहीं होता था। विवाद इस बात पर था कि हवा में उड़ती पताका फहरा रही थी और यह निर्णय नहीं हो पा रहा था कि चलने की क्रिया कहाँ हो रही है? हवा में या पताका में? तभी हुइ-नेंग् जो वहाँ थे ही, बोले—न हवा चल रही है और न पताका। यह तुम्हारा अपना मन ही है जो चल रहा है। लोग बड़े विस्मित हुए, उन्हें उच्चासन दिया और धर्म पर उनसे अनेक बातें हुईं।

वर्षों के एकान्तवास और ध्यानाभ्यास के बाद हुइ-नेंग् ने प्रवचन देना शुरू किया। मंच-सूत्र के द्वितीय अध्याय में उनका प्रज्ञा पर दिया हुआ प्रवचन संगृहीत है। इसमें उन्होंने बताया है कि प्रज्ञा प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है और उसे अपने अन्दर ही खोजना चाहिए। इसी में उनकी प्रसिद्ध 'अरूप' गाथा है जिसे उद्धृत करना यहाँ आवश्यक होगा, क्योंकि इसमें उनके दर्शन और साधना-तत्त्व का सार निहित है। हुइ-नेंग् की 'अरूप'-गाथा यह है

बौद्ध शास्त्रों और ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षाओं का उपदेष्टा गुरु मध्याह्न की अपनी उच्च कक्षा में स्थित प्रज्वलित सूर्य के समान होता है।
मन के सार को साक्षात्कार करने के लिए धर्म के अलावा वह कुछ और उपदेश नहीं देता और इस संसार में उसके आने का उद्देश्य ही होता है मिथ्या सिद्धान्तों को परास्त करना।

'क्रमबद्ध' और 'क्रमभुक्त' के रूप में हम धर्म का वर्गीकरण नहीं कर सकते
परन्तु कुछ मनुष्य दूसरों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बोधि को प्राप्त कर लेते हैं
मन के सार को साक्षात्कार करने का यह सिद्धान्त अज्ञानियों की समझ के बाहर है।

चाहे हम दस हजार ढंगों से इसकी व्याख्या कर लें,
परन्तु इन सब व्याख्याओं का उद्गम यह एक मूल सिद्धान्त ही है कि हमें अपने अंधेरे और अस्थायी घर के अन्दर प्रकाश करना है
जो मलिनताओं (क्लेशों) के कारण अन्धा है
हमें सतत रूप से इसमें प्रज्ञा का प्रकाश करना है।

मिथ्या सिद्धान्त हमें मलीन करते हैं
और सम्यक् दृष्टि हमें मलिनता से बचाती है,
परन्तु जब हम इन दोनों को ही (मिथ्या और सम्यक् दृष्टियों को) हटाने की स्थिति में हो जाते हैं
तो हम निरपेक्ष रूप से शुद्ध हो जाते हैं।

हमारे मन के सार में ही बोधि व्याप्त है
इसे अलग ढूंढना गलत होगा,
हमारे अपवित्र मन के अन्दर ही पवित्र पाया जाता है
और जब एक बार हमारा मन ठीक हुआ तो हम तीनों प्रकार के मोटी
परतों (क्लेश, दुष्कर्म और अधम योनियों में प्रायश्चित्त) से मुक्त हो
जाते हैं।

यदि हम बोधि के मार्ग पर चल रहे हैं
तो पथ के रोड़ों से हमें विचलित नहीं होना चाहिये।
यदि हम अपने दोषों पर लगातार निगाह रखते रहें
तो हम सच्चे मार्ग से भ्रष्ट नहीं हो सकते।

प्रत्येक जीव को मुक्ति का अपना अलग मार्ग है
इसलिये उन्हें एक दूसरे के मार्ग में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये
और न परस्पर विरोध करना चाहिये
परन्तु यदि हम स्वयं अपने मार्ग को छोड़ दें और मुक्ति के किसी अन्य मार्ग
को खोजें,
तो हम उसे नहीं पायेंगे,
मृत्यु-पर्यन्त हम यूं ही भटकते रहें
अन्त में पछतावा ही हमें मिलेगा।

यदि तुम सच्चे मार्ग को पाना चाहते हो,
तो सम्यक कर्म तुम्हें वहां सीधा पहुंचा देगा,
परन्तु यदि तुम बुद्धत्व को पाने का उद्योग ही न करो,
तो तुम अंधेरे में ही भटकते रहोगे और कभी उसे न पाओगे।

जो ईमानदारी से सच्चाई के मार्ग पर चलता है
वह दुनिया की गलतियों को नहीं देखता,
यदि हम दूसरों के दोष देखते हैं
तो हम स्वयं भी गलत हैं।

यदि दूसरे पुरुष गलती पर हैं तो उस पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिये,
क्योंकि दूसरों के दोष देखना हमारे लिये गलत है।
दोष ढूंढने की आदत से पीछा छुड़ा कर
हम अपवित्रता के एक स्रोत को बन्द कर देते हैं,
जब न घृणा और न प्रेम हमारे मन को विक्षुब्ध कर सकते हैं
तो हम गहरी शान्ति में सोते हैं।

जिन्हें दूसरों के शिक्षक बनना है
उन्हें उन उपायों में कुशल होना चाहिये जो दूसरों को ज्ञान दिलाते हैं,
जब शिष्य सब सन्देहों से मुक्त हो जाता है,
तो यह दिखाता है कि उसने अपने मन के सार को पा लिया है।

बुद्ध का क्षेत्र इस संसार में ही है,
इसी में हमें बोधि को खोजना है
इस संसार से अपने को अलग कर बोधि को खोजना
उसी प्रकार बुद्धिहीन और हास्यास्पद है जिस प्रकार एक खरगोश के सींग को खोजना।

सम्यक् दृष्टि ही 'पर' (लोकोत्तर) कहलाती है,
मिथ्या दृष्टियां 'ऐहिक' (लौकिक) हैं
जब सभी दृष्टियां पर और ऐहिक हटा दी जाती हैं
तो बोधि का सार प्रकट होता है।

यह गाथा 'युगपद्' धारा की है
'धर्म का महान् जहाज' भी यह कहलाती है
जन्म-जन्मान्तर तक भी यदि कोई मनुष्य मोह में रहा हो
फिर भी एक बार ज्ञानोद्दीप्त होने पर वह एक क्षण भर में ही बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

कहा गया है कि प्रज्ञा पर यह प्रवचन सुनने के बाद श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा और 'साधु' 'साधु' कहते हुए उन्होंने अभिनन्दन किया और कहा

किन पता था कि ममपू-युंग[1] में भी एक बुद्ध पैदा होगा !'

छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र के तृतीय परिच्छेद में किन्-पाउ प्रान्त के प्रशासक वई के द्वारा पूछे गए प्रश्न और हुइ-नेंग् द्वारा दिये गए उनके उत्तर सन्निहित हैं। यहाँ हुइ-नेंग् ने यह स्वीकार किया है कि जो कुछ उन्होंने सिखाया है वह सब बोधिधर्म के द्वारा सिखाये गये मूलभूत सिद्धान्त ही हैं। प्रशासक वई उनसे पूछता है कि 'घर पर रहते हुए ही हम अपने को किस प्रकार शिक्षित करें ?' इसके उत्तर में हुइ-नेंग् उसे फिर एक 'अरूप' गाथा सुनाते हैं और कहते हैं कि यदि तुम इसके उपदेश को अपने व्यवहार में लाओ तो तुम बिलकुल उस भिक्षु के समान हो जो फिर मठवास कर और घर छोड़कर सदा मेरे साथ रहता है। परन्तु यदि तुम इसको प्रयोग में न लाओ तो तुम आध्यात्मिक मार्ग में कुछ प्रगति नहीं कर सकते। गाथा इस प्रकार है

जिसका मन साफ है उसके लिए शिक्षापदों (विनय-नियमों) का अभ्यास करना अनावश्यक है।

सच्चे और खरे व्यवहार के लिए ध्यान को छोड़ा जा सकता है।

कृतज्ञता के सिद्धान्त पर हम अपने माता पिता का भरण-पोषण करते हैं और पितृभक्तिपूर्वक उनकी सेवा करते हैं

अच्छाई के सिद्धान्त पर बड़े और छोटे व्यक्ति आवश्यकता के समय एक दूसरे की सहायता करते हैं

एक दूसरे के साथ हिल मिल कर रहने की इच्छा के सिद्धान्त पर बड़े और छोटे एक दूसरे से स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं

समाधानशीलता के सिद्धान्त पर हम दृढ़ विरोधी भीड़ में भी झगड़ा नहीं करते।

यदि हम तब तक सतत रूप से उद्योग में लगे रहें जब तक कि लकड़ियों को रगड़ने से आग न निकले

तो लाल कमल (बुद्ध स्वभाव) जैसी कीचड़ (अज्ञानावस्था) में से ही उत्पन्न होगा।

जो कड़ुए स्वाद का है वह अवश्य अच्छी दवा होगा

जो कानों को अच्छी नहीं लगती वह सचमुच खरी सलाह है

अपनी कमियों को सुधार कर हम ज्ञान प्राप्त करते हैं

[1] डर-न्ग् की जन्म-भूमि व ... के ...

परन्तु अपने दोषों का समर्थन करना अपने अस्वस्थ मन का परिचय देना है।
अपने दैनिक जीवन में हमें सदा परोपकार का अभ्यास करना चाहिये,
परन्तु धन को दान में देने से पुण्य नहीं मिलता
बोधि हमें अपने मन के अन्दर ही मिलेगी
बाहर रहस्य खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है।
इस गाथा के सुनने वाले जो इसके उपदेश को अभ्यास में लायेंगे
स्वर्ग को अपने सामने ही पायेंगे।

छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र का चतुर्थ परिच्छेद समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी उनके प्रवचनों का संकलन है। इसमें हुइ-नेंग् ने साधना के मर्म को समझाया है और उसकी विधि बताई है जिसका उद्धरण हम आगे के परिच्छेद (चतुर्थ परिच्छेद) में देंगे। समाधि और प्रज्ञा का सम्बन्ध दिखाते हुए उन्होंने कहा है 'समाधि प्रज्ञा का सार है और प्रज्ञा समाधि की क्रिया है। जिस क्षण हम प्रज्ञा को प्राप्त करते हैं तो उस क्षण समाधि भी उसके साथ होती है और जिस क्षण हम समाधि में होते हैं, तो उस क्षण प्रज्ञा भी उसके साथ होती है। समाधि और प्रज्ञा में संतुलन होना चाहिये। इससे क्या तात्पर्य है, इसे स्वयं हुइ-नेंग् इस प्रकार बताते हैं, "उस व्यक्ति के लिए, जिसकी जबान पर तो अच्छे शब्द सदा तैयार रहते हैं परन्तु हृदय जिसका अपवित्र है समाधि और प्रज्ञा व्यर्थ हैं, क्योंकि उनका एक दूसरे से सन्तुलन नहीं है। परन्तु जब हमारा मन भी अच्छा होता है और हमारे शब्द भी अच्छे होते हैं जब हमारा बाहरी चेहरा और अन्दरूनी भावनाएं एक दूसरे के सामंजस्य में होती हैं तो यही समाधि और प्रज्ञा का सन्तुलन है।" समाधि और प्रज्ञा के सम्बन्ध को यहां छठे धर्मनायक ने दीपक और उसके प्रकाश का सम्बन्ध बताया है। "दीपक के साथ ही प्रकाश है। बिना दीपक के अंधेरा हो जायगा। दीपक प्रकाश का सार है और प्रकाश दीपक की क्रिया है। नाम में दीपक और प्रकाश दो हैं परन्तु तत्वतः वे एक ही हैं। समाधि और प्रज्ञा का भी यही हाल है।

पांचवें परिच्छेद में ध्यान सम्बन्धी प्रवचन है जिसका भी उपयोग हम आगे के परिच्छेद में ध्यान-सम्प्रदाय की साधना विधि का परिचय देते समय करेंगे। छठे परिच्छेद में *प्रायश्चित्त-सम्बन्धी प्रवचन है।* इसमें भी आत्मिक पक्ष पर जोर दिया गया है। "क्यों न अपने मन के अन्दर ही हम पाप से अपना पीछा छुड़ाएं ?" त्रिशरण भी अन्दर ही ली जाती है और बुद्ध के त्रिकाय को भी मन के द्वार के अन्दर ही ढूंढ़ना है।

विभिन्न प्रकृतियों और परिस्थितियों के अनेक स्त्री-पुरुष छठे धर्मनायक से मिलने आये और उनकी आवश्यकताओं और प्रकृतियों को देखते हुए उन्होंने जो उपदेश उन्हें दिए उनका विवरण इस सूत्र के सातवें परिच्छेद में है। एक बार एक भिक्षुणी उनसे मिली और महापरिनिर्वाण-सूत्र के कुछ कठिन शब्दों के अर्थ पूछने लगी। हुइ-नेंग् ने विनम्रतापूर्वक कहा "मैं अनपढ़ हूं। परन्तु यदि तुम इस ग्रन्थ के सारांश को पूछना चाहो तो पूछो।" इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए जब भिक्षुणी ने उनसे कहा कि "जब तुम शब्दों के अर्थ ही नहीं जानते तो सम्पूर्ण ग्रन्थ के सारांश को तुम किस प्रकार समझ सकते हो", तो इस पर हुइ-नेंग् ने उससे कहा "बुद्धों के उपदेश की गम्भीरता का लिखित भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।" इसी प्रकार एक भिक्षु 'सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र' के विषय में पूछने आया तो हुइ-नेंग् ने उससे कहा "भैया, मुझे सूत्र पढ़कर सुनाओ, मैं पढ़ना नहीं जानता।" बाद में उन्होंने उसे उसका मर्म समझाया और उसके सन्देहों को दूर किया। स्वतन्त्र ज्ञान की ओर संकेत करते हुए उन्होंने उससे कहा "यदि तुम केवल इतना विश्वास कर सको कि बुद्ध कोई शब्द नहीं बोलते तो पुण्डरीक स्वयं तुम्हारे मुंह में ही खिलेगा।" एक बार एक भिक्षु ने हुइ-नेंग् के पास आकर पूछा कि किस प्रकार का व्यक्ति पांचवें धर्मनायक (हुङ् जेन्) के उपदेश को समझ सकता है? हुइ-नेंग ने उत्तर दिया "जो बौद्ध धर्म को समझता है वह समझ सकता है।" आगन्तुक ने फिर पूछा "तब तो भन्ते, आप अवश्य समझते होंगे।" "मैं बौद्ध धर्म को नहीं समझता" हुइ-नेंग् का विनम्र उत्तर था। अद्वितीय साधक यु ङ् चिया स-चिह् (युङ्‌च चोह्) के साथ धर्मनायक की मुलाकात का इस परिच्छेद में वर्णन है, जिसका उल्लेख हम अभी आगे करेंगे। इस प्रकार हुइ-नेंग् के सहज ज्ञान को दिखाने वाले अनेक प्रसंग, जिनमें होकर उनकी मौलिक प्रतिभा अनुभव, गाम्भीर्य और साथ ही विनम्रता और कभी-कभी विनोद भावना और भी साफ झलकती है हमें इस परिच्छेद में मिलते हैं।

आठवें परिच्छेद में 'युगपद्' और 'क्रमपूर्व' ध्यान शाखाओं के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रियाओं की तात्त्विक एकता दिखाई गई है और हुइ-नेंग् के स्वानुभव का भी वर्णन है। नवें परिच्छेद में इस बात का वर्णन है कि तत्कालीन चीनी सम्राट् और साम्राज्ञी ने हुइ-नेंग् को अपने पास बुलवा कर उनका सम्मान करना चाहा परन्तु हुइ नेंग् ने विनम्रतापूर्वक उत्तर भिजवाया कि उन्हें अपने शेष जीवन को वन में ही बिताने की अनुमति दी जाय और वे नहीं

वर्णन है जिसके कुछ अंशों को हम पहले (द्वितीय परिच्छेद में) उद्धृत कर चुके हैं। उन्होंने इस समय अपने शिष्यों से कहा "मेरे चले जाने के बाद दुनिया की परम्परा का अनुसरण कर तुम रोना मत और न अफसोस करना। शोक-सूचक सन्देशों को स्वीकार न करना और न मातमी लिबास पहनना। ये बातें बौद्ध धर्म के विशुद्ध उपदेश के विपरीत हैं और इन्हें जो करता है वह मेरा शिष्य नहीं है। जो तुम्हें करना है वह है अपने मन को जानना और बुद्ध-स्वभाव का साक्षात्कार करना जो न आता है न जाता है, न होता है न नहीं होता है, न ठहरता है न चलता है, न स्वीकार करता है, न इन्कार करता है न विश्राम करता है न प्रस्थान करता है।" इतना कहकर उन्होंने रात के तीसरे पहर चोले को छोड़ दिया। तत्कालीन चीनी सम्राट् (हिन्-त्सुङ्) ने उन्हें 'महान् दर्पण ध्यानाचार्य' की मरणोत्तर उपाधि दी और उनकी समाधि पर स्वयं यह लेख लिखा 'समन्वित आत्मा दिव्य रूप से प्रकाशमान् है।'

बोधि-गोष्ठ

हुइ-नेंग् के अनेक प्रतिभाशाली शिष्य हुए जिन्होंने चीन में ध्यान-सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार किया। इनमें म-त्सु (जापानी भाषा में उच्चारण 'बसो') शिह्-ताउ (जापानी भाषा में उच्चारण 'सेकितो') और युङ् चिया त-सिह् (जापानी उच्चारण 'योका दैशी') के नाम अति प्रसिद्ध हैं। इन सबने महत्त्वपूर्ण साहित्य की सृष्टि की है। परन्तु हम यहाँ विशेषतः युङ्-चिया त-सिह् के सम्बन्ध में ही कुछ कहेंगे। युङ्-चिया त-सिह् को एक दूसरे नाम ह्सु-आन् च्वो के नाम से भी पुकारा जाता है जिसका जापानी भाषा में उच्चारण गेंगाकु है। धर्म-सूत्र (तन् चिङ्) या 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' में इनका नाम 'यूएन-च्वो' दिया गया है। हम इन्हें यहाँ युंग् चिया त-सिह् के नाम से ही पुकारेंगे क्योंकि ये चीनी थे। (जापानी विद्वानों ने और उनका अनुसरण कर यूरोपीय विद्वानों ने भी इन्हें इनके नाम के जापानी उच्चारण 'योका दैशी' या 'गेंगाकु' ('येंकाकु' भी) से ही अक्सर पुकारा है)। हुइ-नेंग् के शिष्य होने से पूर्व युंग्-चिया त शिह् तेन्दाई (चीनी तियन्-ताई) सम्प्रदाय के अनुयायी थे और उन्होंने वर्षों तक शमथ और विदर्शना की भावना की थी। बाद में वे हुइ-नेंग से मिले और उनके शिष्य हो गये। हुइ-नेंग से उनकी मुलाकात का वर्णन 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' के सातवें परिच्छेद में है। इससे ध्यान सम्प्रदाय के साधुओं के एक-दूसरे से मिलने-जुलने और उनके वार्तालाप तथा उनके उपदेशों की अभिव्यंजना पर प्रकाश पड़ता है। अतः इसका उल्लेख हम

यहा करते। एक बार हुइ-नेंग् का एक शिष्य, जिसका नाम उन्-चक् था, युंग् चिया ह-सिह् से मिला और दोनों में काफी देर तक वार्तालाप होता रहा जिससे उन्-चक को यह पता लगा कि जो कुछ युंग चिया ह-सिह् बोलता है उसमें ध्यान-गुरुओं की सी भावाभिव्यक्ति होती है और उसके वचन प्रायः समान-से होते हैं। उसने कुतूहलवश पूछा "क्या आप कृपा कर अपने गुरु का नाम बतायेंगे जिनसे आपने धर्म सीखा है?" युंग चिया ह-सिह ने उत्तर दिया "जब मैंने वैपुल्य (महायान) के सूत्रों और शास्त्रों को पढ़ा उस समय मेरे कई गुरु थे जिन्होंने मुझे शिक्षा दी। परन्तु इसके बाद जब मैंने विमलकीर्ति-निर्देश-सूत्र पढ़ा तो मुझे बुद्धचित्त-सम्प्रदाय (ध्यान-सम्प्रदाय) के महत्व का भान हुआ और इस सम्बन्ध में मुझे अब तक कोई गुरु नहीं मिला है जिससे मैं अपने ज्ञान का अनुमोदन करवा सकता या उस पर सही लगवा सकता। जब उन्-चक् ने यह कहा कि ज्ञान का कोई साक्षी अवश्य होना चाहिये और किसी दूसरे ज्ञानी पुरुष द्वारा उस पर सही लगवाना आवश्यक है, तो युंग्-चिया ह-सिह ने उससे कहा "बन्धुवर! तुम ही मेरे साक्षी बनो।" "परन्तु मेरे शब्दों में क्या वजन है" ऐसा उन् चक ने उसे उत्तर दिया और साथ ही हुइ-नेंग् के आश्रम का पता भी बता दिया जहाँ उसे इस काम के लिए जाना चाहिये। अस्तु, दोनों कन्धा-से-कन्धा मिला हुइ-नेंग् के आश्रम पर गये। हुइ-नेंग् की तीन बार प्रदक्षिणा कर युंग्-चिया ह-सिह् चुपचाप खड़ा रहा उसने उन्हें प्रणाम नहीं किया और अपना डंडा भी (जिसे ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षु अपने साथ रखते हैं) अपने हाथ में ही लिए रहा। उसकी इस धृष्टता को देखकर हुइ-नेंग् ने उससे कहा "एक बौद्ध भिक्षु विनय के १,००० बड़े और ८०,००० छोटे नियमों का मूर्तिमान् रूप होता है। मैं नहीं जानता कि तुम कहाँ से आये हो और क्यों तुम इतने अहंकारी हो?" इस पर युंग-चिया ह-सिह् ने उत्तर दिया "निरन्तर जन्म-मरण का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है। मेरे पास औपचारिक बातों में नष्ट करने के लिए समय नहीं है।" आध्यात्मिक प्रकार चल पड़ा।

"तो तुम अजाति के सिद्धान्त का साक्षात्कार कर जीवन की क्षणभंगुरता की समस्या को हल क्यों नहीं कर लेते?"

"जब मैं सार को खोजता हूँ पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता हूँ और एक बार जब यह समस्या हल हुई तो फिर जीवन की क्षणभंगुरता की समस्या कहाँ रह जाती है?"

"बिलकुल ठीक है! ऐसा ही है ऐसा ही है!" युंग् चिया ह-सिह् का काम हो गया। उसके अनुभव पर गुरु की मुहर लग गई। अब उन्होंने विधि-

के समय के उपयुक्त पूरी औपचारिकता के साथ छठे गुरु को प्रणाम किया और जाने के लिए आज्ञा माँगी। गुरु ने कहा, "तुम बहुत जल्दी जा रहे हो, ऐसा मत करो।"

"जल्दी कैसे हो सकती है जब गति की ही अपने आप में कोई सत्ता नहीं है?"

"कौन जानता है कि गति की सत्ता नहीं है?

'भन्ते! आप कृपा कर विशेषीकरण न करें।'

इस पर हुइ-नेंग् ने युंग्-चिया ता-शिह् की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि उन्होंने 'अजाति' के विचार को अच्छी प्रकार समझ लिया है। परन्तु युंग्-चिया ता-शिह् ने उन्हें प्रत्युत्तर दिया "क्या 'अजाति' में भी विचार है?"

"बिना विचार के कौन विशेषीकरण करेगा?"

"जो विशेषीकरण करता है वह विचार नहीं है।

—"साधु! साधु!

गुरु ने युंग् चिया ता-शिह् से फिर अनुरोध किया कि कुछ देर और ठहरें और वे एक रात के लिए उनके पास ठहर गये। इसी कारण युंग्-चिया ता-शिह् को 'प्रबुद्ध पुरुष जो एक रात के लिए धर्मनायक के पास ठहरा' कहा जाता है। अपने आध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन करते हुए युंग्-चिया ता-शिह् ने प्रभूत साहित्य लिखा है, जिसमें उनके 'बोधि-गीत' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और आज भी यह गीत जापान और कोरिया में एक लोक-प्रिय रचना है जिसे ध्यान-विद्यार्थियों के द्वारा कण्ठस्थ किया जाता है। चीनी भाषा में इसका मूल शीर्षक है 'चेंग्-ताओ-के' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'साक्षात्कार-पथ-गीत'। जापानी भाषा में यह 'शो-दो-का' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कुल ६६ गाथाएं हैं जिनमें आत्म साक्षात्कार के मार्ग के अनुभवों का एक मस्ती भरी शैली में वर्णन है। इस विलक्षण आध्यात्मिक गीत की कुछ गाथाएं इस प्रकार हैं

क्या तुम ध्यान के इस विद्यार्थी को देखते हो?
वह सब कुछ भूल चुका है जो उसने याद किया था;
फिर भी वह सहज रूप से उस सबका अभ्यास कर रहा है
जो उसने सीखा है।

न वह बुरे विचारों को रोकने का प्रयत्न करता है
और न सत्य की ही उसे तलाश है,

क्योंकि उसे पता है कि अज्ञान ही वास्तव में बुद्ध-स्वभाव है
और यह शून्य प्रतीयमान शरीर ही धर्म-काय है।

जिस क्षण तुम तथागत-ध्यान में होते हो, छह पारमिताएं
और अशेष पुण्य उसी समय पूरे हो जाते हैं।
जीवन की छह गतियां तुम्हारे स्वप्न में ही अवस्थित हैं
जब तुम जागते हो तो वे शून्य में विलीन हो जाती हैं
शून्य के अलावा कुछ नहीं रहता।

न पाप, न प्रसन्नता
न हानि न लाभ,
इन बातों को मन के सार के अन्दर खोजने
का प्रयास मत करो,
बहुत समय से तुमने अपने दर्पण के मैल को साफ नहीं किया है
अब समय है कि तुम इसे ठीक प्रकार से साफ होते देखो।

कौन है वह जो निर्विचार विचार करता है, कौन है वह जो अजाति को पहचानता है?
यदि वह सचमुच अजाति ही है, तो तुम इसको सोच भी नहीं सकते।
जब तक तुम बुद्धत्व को खोजते हो विशेषतः उसके लिये यत्न करते हुए,
तब तक तुम्हारे लिये कोई प्राप्ति नहीं है, तुम कितना ही यत्न कर लो!

चारों महाभूतों को अपने हाथ से निकल जाने दो, उनसे
मत चिपटो
अपने सच्चे रस-भाव के अनुसार पियो और खाओ।
वस्तुएं क्षणिक हैं इसलिए वे शून्यता की अवस्था में हैं
यही बुद्ध का साक्षात्कार (किया हुआ ज्ञान) है।

बुद्ध का सच्चा शिष्य यथार्थ ही बोलता है,
यदि तुम मेरे कथन से सहमत नहीं तो मेरे साथ विचार विमर्श करो,
परन्तु याद रखो कि बोधपथ का सम्बन्ध सत्य के मूल से है,
टहनियों या पत्तियों से नहीं।

अधिकतर प्राणी ज्ञान के मणि-रत्न को नहीं पहचानते,
यह तथागत-गर्भ में छिपा पड़ा है, खोज और प्राप्ति की
प्रतीक्षा करते हुए;
छः इन्द्रियां और उनके छः विषय (आलम्बन) ही
जीवन का निर्माण करते हैं, जैसा कि वह है।
समष्टि रूप में यह माया है, परन्तु वस्तुतः ऐसा
कुछ है ही नहीं जिसे माया भी कहा जाय;
ज्ञान के इस मणि-रत्न की परिपूर्ण
आभा मनुष्यता को प्रकाश देती है,
इसमें रंग और रूप नहीं, न रंग और अ-रूप भी नहीं है।

पांच प्रकार की वस्तुओं (भौतिक, दिव्य, प्रज्ञा, धर्म और शुद्ध-धातु)
को विशुद्ध करो, और पांच इन्द्रियों (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) को प्राप्त करो।
अलक्ष्य (निर्विकार) ध्यान के द्वारा ही यह सम्भव है;
दर्पण में परछाईं को स्वाभाविक तौर पर देखा जा सकता है,
परन्तु पानी की सतह पर चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ना असम्भव है।

ध्यान के अभ्यासी को सदा अकेले घूमना चाहिये
जिन्होंने पाया है, वे निर्वाण के एक ही मार्ग पर चलते हैं
उनमें से प्रत्येक का ढंग स्वाभाविक होता है, वह हृदय से सरल और सन्तोषी होता है;
चूंकि वह लोगों से विशेष आकर्षण नहीं चाहता
इसलिये कोई दूसरा भी उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता।

शाक्य-पुत्र (बौद्ध भिक्षु) गरीब होते हैं, यह सब कोई जानते हैं;
परन्तु उनकी गरीबी शरीर की है, उनका आध्यात्मिक जीवन गरीबी नहीं जानता;
भिक्षु का फटा-पुराना चीवर दुनिया को उसकी गरीबी दिखाता है
परन्तु उसका ध्यान जो दूसरों से रहस्य है, उसका अनमोल खजाना है।

ध्यान का उत्तम अभ्यासी एक ही बार अपने आपको सदा के लिये तय कर लेता है सीधा परम तत्व पर पहुँच जाता है।
मध्यम कोटि का ध्यान विचारों बहुत सोचना चाहता है और पहुंच के बारे में ही सन्देह करता है।
यदि तुम पूर्वग्रह के अपने कड़े और गन्दे कपड़े को उतार फेंको तो तुम अपनी सच्ची आत्मा को देख सकते हो
बाहरी बातों को दौड़धूप में क्यों पड़ते हो ?

दूसरे भले ही ध्यानी की निन्दा करें तो करते रहें द्वेष करें तो करते रहें;
जो मशाल से आकाश को जलाना चाहते हैं वे अन्त में थक कर बैठ जायेंगे,
ध्यानी उनकी निन्दा की बातें सुनता है और अमृत के समान
उनका स्वाद लेता है
अन्त में सब कुछ पिघल जाता है और ध्यानी सहसा अपने को अचिन्त्य (निर्विचार) समाधि में पाता है।

दूसरों के द्वारा अपनी निन्दा होते देखकर मुझे पुण्य प्राप्त करने का अवसर मिलता है
क्योंकि मेरे निन्दक सचमुच मेरे अच्छे मित्र हैं
गाली दिये जाने पर जब मेरे अन्दर गाली देने वाले के प्रति घृणा या विरोध की भावना पैदा नहीं होती
तो मेरे अन्दर सब प्राणियों के प्रति प्रेम और विनम्रता की शक्ति बढ़ती है जो इस ज्ञान से उत्पन्न है।

आन्तरिक अनुभव में ही नहीं उसकी व्याख्या में भी हमें परिपूर्ण होना चाहिये,
हमारा सम्यक ध्यान और प्रज्ञा दोनों में ही परिपूर्ण होना चाहिये न कि केवल एकांगी रूप से हम शून्यता विचार में ही रहें
हम अकेले ही इस स्थान पर नहीं आये हैं
जितने भी गंगा के बालु-कण हैं उतने ही बुद्ध इसी मार्ग से निर्मित हुए हैं।

मैंने समुद्रों और नदियों को पार किया, पहाड़ों पर चढ़ा, और नदियों की बाढ़ें पार कीं
ताकि मैं गुरुओं से मिल सकूं, सत्य को खोज कर सकूं, और ध्यान के रहस्य को जान सकूं
परन्तु जब से मैंने 'सोकी'[1] के मार्ग को पहचानने की योग्यता प्राप्त की
तब से मैं समझने लगा हूं कि जन्म-मरण वह वस्तु नहीं है, जिससे मेरा कुछ भी सम्बन्ध हो।

ध्यान का विद्यार्थी ध्यान में ही घूमता है
ध्यान में ही बैठता है;
चाहे वह बोले या चुप रहे,
चाहे चले या शान्त खड़ा रहे
उसके मन का सार सदा सहज विश्राम में रहता है;
वह उस तलवार के सामने भी मुस्कराता है जो उसकी जान लेती है;
मृत्यु के समय वह शान्त रहता है
और विषैली वस्तुएं उसकी शान्ति को भंग नहीं कर सकतीं।

हमारे स्वामी शाक्यमुनि ने प्राचीन काल में दीपंकर बुद्ध की सेवा की
और फिर अनेक कल्पों तक क्षान्ति नामक तपस्वी के रूप में साधना की
मैंने भी अनेक बार जन्म और अनेक बार मरण प्राप्त किये हैं;
जन्म और मरण—कितने अनन्त रूप से ये चलते आ रहे हैं!

परन्तु जब से मैंने अ-जाति के ज्ञान का साक्षात्कार किया जो सहसा मुझ पर अवतीर्ण हुआ
भाग्य के उतार और चढ़ाव, अच्छे और बुरे सब अपनी शक्ति मुझ पर खो चुके हैं
दूर पहाड़ों पर एक छोटी-सी कुटिया में मैं रहता हूं
ऊंचे हैं वे पर्वत, गहरी है सघन वृक्षों की छाया और एक पुराने चीड़ के पेड़ के नीचे
मैं अपने भिक्षुजनोचित निवास में शान्त और सन्तुष्ट बैठता हूं
पूर्ण शान्ति और ग्रामीण सादगी का यहां शासन है।

---

१ 'सोकी' (चीनी भाषा में 'त्साओ-की') उस स्थान का नाम है जहां हुइ-नेंग् की कुटिया थी। अतः यह शब्द सर्वत्र हुइ-नेंग् का वाचक हो गया है।

जो धर्म को समझते हैं वे सदा सहज रूप से कार्य करते हैं।
संसार के अधिकतर आदमी 'संस्कृत' में रहते हैं
परन्तु ध्यान का विद्यार्थी 'अ-संस्कृत' में रहता है
जो दूसरों को कुछ इस आशा में देते हैं कि बदले में उन्हें कुछ मिलेगा,
वे आकाश में तीर मार रहे हैं।

वह न सच्चे की तलाश करता है, न झूठे से अपने को अलग रखता है,
वह साफ देखता है कि सभी द्वैत मिथ्या हैं और उनमें सच्चाई नहीं है।[1]
शून्यता का अर्थ है एक पक्षीय न होना,
न शून्य न अ-शून्य
यही तथागत-ज्ञान का सच्चा रूप है।

शून्यता की जब निषेधात्मक व्याख्या की जाती है तो वह इस कार्य
कारणमय जगत् का ही निषेध कर देती है
और तब सब विभ्रम और अस्तव्यस्तता है जहां कोई नियम नहीं और
यह सब चारों ओर से बुराइयों को निमंत्रित करता है।
यही बात तब होती है जब प्राणी शून्यता को छोड़कर वस्तुओं से लिपटते
हैं
यह तो ऐसा ही है जैसे कोई आदमी पानी में डूबने से बचने का प्रयत्न कर
अपने को आग की लपटों में डाल दे।

जब कोई झूठ को छोड़कर सत्य को पकड़ने का प्रयत्न करता है
तो वह विरूप (भेद) हो जाता है और उसमें दुविधाएं हैं और
मिथ्यात्व है।
जब योगी अपने मन को न समझ कर सिर्फ संयम का अभ्यास करता है
तो सचमुच वह एक शत्रु को अपना प्यारा बच्चा समझने की गलती
करता है।

---

१ [illegible]

हिमालय में हिमि नामक एक घास होती है जो ऐसी जगह उगती है जहाँ
और घासें नहीं उगतीं
उस घास को चर कर गायें विशुद्धतम दूध देती हैं,
मैं उस दूध को सदा पीता हूँ।

एक ही पूर्ण प्रकृति, पूर्ण और सर्वव्यापक
सब प्रकृतियों में स्पन्दित होती है;
एक ही सत्यता, सर्वस्पर्शी, अपने अन्दर सब सत्यताओं को समेटे हुए है,
एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जहाँ कहीं भी जल का विस्तार है,
और जल के अन्दर के सब चन्द्रमा एक ही चन्द्रमा में
समाविष्ट हैं।[1]
सब बुद्धों का धर्म-काय मेरी अन्तर्सत्ता में प्रवेश करता है।

और मेरा स्वयं का अस्तित्व उनके साथ मिलकर एक हो जाता है।
(समाधि की) एक ही अवस्था में सारी अवस्थाएँ समाई पड़ी हैं;
मन के सार में न रूप है न विचार न क्रिया;
एक अंगुली को चटकाने के पूर्व ही अस्सी हजार पावन उपदेश पूर्ण हो
जाते हैं
और एक पलक मारने के समय में ही असंख्य कल्पों के पाप नष्ट हो
जाते हैं;
असंख्य नामों और निषेधों से मेरे साक्षात्कार को कुछ वास्ता नहीं है।

साक्षात्कार, निन्दा और स्तुति दोनों से परे है,
अन्तरिक्ष के समान यह सीमाएँ नहीं जानता
यहाँ भी तुम खड़े हो, यह तुम्हें घेरे हुए है,
परन्तु यदि तुम इसे खोजो तो तुम इस तक नहीं पहुँच सकते
तुम्हारा हाथ इसे पकड़ नहीं सकता तुम्हारा मन इसे ग्रहण नहीं कर
सकता
जब तुम इसे खोजना बन्द कर देते हो, तो यह तुम्हारे साथ है;

---

१ मिलाइये "जल में कुंभ मझारी।" कबीर।

मौन में तुम इसे ज़ोर से बोलते हो, बोलने में तुम इसके मौन को प्रकट करते हो,[1]
इस प्रकार करुणा का द्वार सब प्राणियों के हित के लिए खुलता है।

यदि मुझसे कोई पूछे कि मैं बौद्ध धर्म की किस शाखा को मानता हूं,
तो मैं उससे कहता हूं—मेरी शक्ति महाप्रज्ञा की है
तुम चाहे इसे मानो या न मानो—यह तुम्हारी मानवीय बुद्धि के बाहर है;
इस मूल उपदेश को लकर तुम जहां कहीं भी जाओ,
यह स्थान तुम्हारे लिये सत्य का लोक ही होगा।

अनेक जन्मों से मैंने अपने जीवन में इसकी (महाप्रज्ञा की) शिक्षा ली है;
यह मेरी बेकार बात नहीं है और न मैं तुम्हें धोखा ही दे रहा हूं;
लोकों में मैंने इस उपदेश को पाया है,
और इसकी चिरस्थिति के लिये मैं धर्मध्वजा गाड़ रहा हूं,
यह उपदेश बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अलावा और कुछ नहीं है।

सत्य की भी स्थापना नहीं करनी चाहिये,
और असत्य की तो कभी स्थिति ही नहीं रही,
जब सत् और असत् दोनों ही अलग हटा दिये जाते हैं
तो शून्यता और अ-शून्यता के विचार भी लुप्त हो जाते हैं,

मन इन्द्रियों के माध्यम से काम करता है, तभी दृश्यात्मक जगत् का अनुभव होता है—
द्रष्टा और दृश्य का द्वैत तो दर्पण पर जमा हुआ मैल है
जब हम मैल को हम धो डालते हैं तो प्रकाश चमकने लगता है;
इसलिये जब मन और दृश्यात्मक जगत् दोनों भुला दिये जाते हैं,
तो सार (तथता) अपने को प्रकट करता है।

---

[1] अथवा "जब तुम चुप रहते हो तो वह बोलता है, जब तुम बोलते हो तो वह मौन है।"

पूर्ण 'युगपद्' उपदेश को भावनीय भावुकता से कुछ सरोकार नहीं है;
जहाँ सन्देह की छाया बची रह गई है वहीं तर्कवाद के लिये कारण विद्यमान हैं,
और न तर्क से सन्देह शान्त होते हैं
मैं यह अहंकारवश नहीं कह रहा,
मुझे यही भय है कि कहीं तुम्हारा मार्ग तुम्हें उच्छेदवाद (असत्) और शाश्वतवाद (सत्) के गड्ढे में न गिरा दे।

'न' आवश्यक रूप से 'न' नहीं है और न
'हाँ' ही 'हाँ' है;
परन्तु जब तुम पूर्वग्रहों से चिपकते हो, तो एक बाल के दसवें भाग से भी फासला हजारों मीलों का हो जाता है,
जब यह 'हाँ' है तो एक नागा लड़की भी एक क्षण में बुद्धत्व प्राप्त कर लेती है
परन्तु जब यह 'न' है तो परम विद्वान् ध्यानी आचार्य (जेन्शो) भी जीवित अवस्था में ही नरक में गिरता है।

अपनी बाल्यावस्था से ही मैं विद्वत्ता की उपलब्धि के लिये उत्सुक रहा हूं
मैंने सूत्रों शास्त्रों और भाष्यों का अध्ययन किया है
नामों और रूपों के विश्लेषण में मैं लगा रहा और मैंने यह नहीं जाना कि थकावट क्या है
परन्तु अब मुझे पता चला है कि समुद्र में गोता लगाकर उसके रेत-कणों को गिनना सचमुच एक थकावट का काम है और बेकार भी;
मुझे लगा कि बुद्ध मुझे फटकार रहे हैं, जब मैंने 'सूत्र' में उनके इन शब्दों को पढ़ा— "जो खजाने तेरे नहीं हैं उन्हें गिनने से क्या लाभ ?"
जो कुछ मैंने अतीत में पाया उस सबके लिये किया गया मेरा परिश्रम बेकार गया, वह गलत था;
अब मुझे इसका पूरा अनुभव हुआ है,
मैं वैसे ही बहुत काल तक भ्रमणशील भिक्षु बना रहा और मुझे किसी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हुई।

भूखों के सामने राजकीय भोजन उपस्थित है,
परन्तु वे खाने से इन्कार करते हैं

यदि बीमार एक अच्छे वैद्य के पास न जाकर वहीं से वापस लौट आये
तो वह भला किस प्रकार होगा ?
इच्छाओं के लोक में रहते हुए ही ध्यान का अभ्यास करो
अन्तः प्रज्ञा की सच्ची शक्ति तुम्हारे अन्दर ही प्रकट होगी,
जब आग के बीच में कमल खिलता है, तो फिर वह कभी नष्ट नहीं किया
जा सकता।

साक्षात्कार की दृष्टि में शून्य कुछ नहीं है,
न मनुष्य हैं न बुद्ध,
दुनिया की सारी वस्तुएं समुद्र के बबूले जैसी हैं
सन्त और ज्ञानी सब बिजली की एक कौंध में लुप्त हो जाते हैं।
आत्मप्रत्यक्षकारी बोध जगने पर जो ध्यान का विद्यार्थी अपने चित्त की समता
को रखता है
सदा-सदा वह ध्यान करता रहता है।
चाहे सूर्य ठंडा हो जाय, चन्द्रमा गरम हो जाय
परन्तु कोई असुर या राक्षस बुद्ध-धर्म के परम सत्य को नष्ट नहीं कर
सकता।
जब हाथी[1] गाड़ी को खींचता है तो उसके बड़े-बड़े पहिये[2] घूमते हैं,
क्या सड़क बन्द हो सकती है यदि एक मूर्ख झींगुर अपनी टांगों को फैला-
कर बैठ जाय ?

महान् गजराज खरगोश के पगडंडी मार्ग पर नहीं चलता,
सम्यक् सम्बोधि बौद्धिकता के संकरे दायरे से बाहर है;
सरकंडे के एक टुकड़े से आकाश को मापना बन्द करो।
यदि अब भी तुम्हें स्पष्ट दृष्टि नहीं मिली,
तो इस तरफ मेरे पास आओ
मैं तुम्हारा मामला तय करवा दूंगा।

चीनी ध्यानी सन्तों के अलावा जापानी ध्यान-साधकों ने भी अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति गाथाओं के रूप में की है। इनकी संख्या बहुत अधिक है और

---

१. बोधि।
२. बुद्ध-धर्म।

सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। जापान में दाए-ओ (१२३५ ११०८) नामक महात्मा हुए हैं, जो ध्यान की शिक्षा सेने चीन गये थे। इन्होंने 'ध्यान' पर गाथाएं लिखी हैं। कुछ-एक पंक्तियां स्मरणीय हैं

"स्वर्ग और पृथ्वी से भी पहले एक सत्य था;
इसका कोई रूप नहीं और नाम भी नहीं है,
आँखें इसे देख नहीं सकतीं;
इसके कोई शब्द नहीं जिन्हें कान सुन सकें

इसको मन या बुद्ध कहना इसके स्वभाव को बिगाड़ना है
क्योंकि तब यह आकाश-कुसुम के समान काल्पनिक हो जाता है
यह मन नहीं है बुद्ध नहीं है"

अपने शब्दों को समाप्त करो, अपने विचारों को खाली करो
तब आमने सामने तुम इस एक सार को पहचान सकोगे।

ध्यान-गीत

हेकुयिन् (१६८५ १७६८) नामक एक अन्य जापानी महात्मा हुए हैं जिन्होंने 'ध्यान-गीत' लिखा है। केवल कुछ पंक्तियां ही उद्धृत की जा सकती हैं

"सब प्राणी मूलतः बुद्ध हैं ;
यह बरफ और जल के समान है
जल के बिना बरफ नहीं है
प्राणियों से बाहर हम बुद्ध को कहां पाते हैं ?
यह न जानते [illegible] कि सत्य कितना समीप है
लोग इसे दूर खोजते हैं, कितने अफसोस की बात है।
उनकी हालत ऐसी है जैसे जल के बीच में खड़ा कोई
प्यासा आदमी पानी के लिये चिल्लाये !
वे उस धनिक के पुत्र के समान हैं
जो गरीबों में भटक गया है।

ध्यान की प्रशंसा करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं
महायान में उसका अभ्यास किया जाता है।
दान शील आदि की पारमिताओं के गुण,
बुद्ध के नाम का आह्वान पाप-प्रायश्चित्त और तपस्या के साधन
और दूसरे अनेक पुण्यकारी कृत्य,
ये सब ध्यान के अभ्यास में से ही उत्पन्न होते हैं।
जो अपने अन्दर ध्यान करते हैं,
वे अपने स्व-भाव (शून्यता) के सत्य की गवाही देते हैं।

उनके लिये कारण और कार्य के अद्वैत का दरवाजा खुल जाता है,
और अ-द्वैत और अ-त्रैत का ऋजु मार्ग चलता है,
विशेषों में विद्यमान् अ-विशेष में रहते हुए
वे सदा अविचल रहते हैं, जाते हुए या लौटते हुए;
विचारों में निर्-विचार को पकड़ कर
अपने प्रत्येक कार्य में वे सत्य की आवाज सुनते हैं।
कितना असीम और निर्बाध है समाधि का आकाश!
कितनी पारदर्शिनी है चतुर्थ सत्य की पूर्ण चाँदनी!
और तब वस्तुतः उन्हें किस बात की कमी है?
शाश्वत शान्ति का सत्य उनके लिये अपने को प्रकट करता है।

और तब यह धरती ही उनके लिये विशुद्धि का पुण्डरीक-लोक बन जाती है
और यह शरीर ही बुद्ध का शरीर हो जाता है।

मोन्दो

इस प्रकार गाथाओं के रूप में ध्यान सम्प्रदाय का प्रमुख आध्यात्मिक साहित्य है जिसमें ध्यानी सन्तों के अनुभव स्पन्दित हुए हैं। चीन और जापान, दोनों देशों में ही इस प्रकार की वाणियाँ गाथाओं के रूप में ध्यानी महात्माओं के मुख से निःसृत हुई हैं। चीनी साधकों के द्वारा लिखी गई ये गाथाएं उनकी भाषा में *'चिह्-तो'* कहलाती हैं। *'चिह्-तो'* शब्द संस्कृत 'गाथा' का चीनी रूप है। जापानी भाषा में लिखी गई गाथाएं तो 'गे' ही कहलाती हैं, जो बिलकुल 'गाथा' शब्द की ही जापानी अनुलिपि है। ध्यान-सम्प्रदाय के गुरुओं के द्वारा लिखी गई कुछ गाथाओं के उदाहरण हम द्वितीय परिच्छेद में दे चुके हैं। अब हम ध्यान-साहित्य के एक दूसरे रूप पर आते हैं जिसे

चीनी भाषा में 'वेन्-त' और जापानी भाषा में 'मोण्डो' कहा जाता है। 'मोण्डो' गुरु-शिष्य संवाद हैं, प्रश्नोत्तर रूप में। ध्यान-सम्प्रदाय की यह अपनी अभिव्यक्ति है और ऐसे संवाद विश्व के अन्य धार्मिक या किसी प्रकार के साहित्य में प्रायः नहीं मिलते। 'मोण्डो बिलकुल स्पष्ट होते हों या पूछे गये प्रश्नों या जिज्ञासाओं का वे शब्दों में पूरा समाधान कर देते हों, यह बात बिलकुल नहीं है। अधिकतर उनका समझना मुश्किल होता है। कहीं कहीं वे पहेलियां ही बुझाते हैं और कहीं-कहीं विरोधी भाषा में उत्तर देते हैं। कहीं-कहीं प्रश्न की ही पुनरावृत्ति कर वे उसका उत्तर देते हैं और कहीं-कहीं ऊटपटांग सी बातें भी कर बैठते हैं जिनका प्रश्न के स्वरूप से ऊपर से कोई सामंजस्य दिखाई नहीं पड़ता। कभी-कभी ध्यानी साधु प्रश्नों का उत्तर न देकर सिर्फ अपने डंडे से काम लेते हैं और दो बार ही नहीं तीस-तीस बार उससे चोट कर बैठते हैं। कभी प्रश्न पूछने वाले को चांटे लगा देते हैं तो कभी उसकी नाक को सीधा पकड़ लेते हैं। इस प्रकार वे बिलकुल सीधे ढंग पर और अपने मन की पूरी मौज के साथ सत्य का अवतरण शिष्य के मन पर करना चाहते हैं। जिस प्रकार के प्रश्न 'मोण्डो' में अक्सर पूछे जाते हैं उनकी बानगी यह है मन क्या है? बुद्ध क्या है बोधिधर्म का पश्चिम (भारत) से चीन आने का उद्देश्य क्या था? बौद्ध धर्म का मूलभूत सिद्धान्त क्या है? तुम कहां से आये हो? कहां जाओगे? आदि। साधारण से साधारण घटना से लेकर जो सामने घट रही हो गहन से गहन तात्त्विक प्रश्नों तक 'मोण्डो' का क्षेत्र हो सकता है। ग्यारहवीं शताब्दी की रचना (ग्रंथ) 'दीप प्रेषण अभिलेख' (जिसे चीनी भाषा में 'चिंग्-तेह चुआन्-तेंग लु' कहा जाता है और जापानी भाषा में ('केटोकु देन्तो रोकु') ध्यानी सन्तों के आध्यात्मिक संवादों या 'मोण्डो' का एक अतुल भाण्डार है। ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी 'मोण्डो' भरे पड़े हैं। यद्यपि हम आगे के परिच्छेदों में ध्यान सम्प्रदाय की साधना और तत्त्वज्ञान का परिचय देते समय ध्यानी सन्तों के अनेक प्रश्नोत्तरमय संवादों का उपयोग करेंगे फिर भी यहां 'मोण्डो' की शैली और विचाराभिव्यंजना को दिखाने के लिए कुछ उदाहरण आवश्यक होंगे। कहीं-कहीं ये प्रश्नोत्तर बिलकुल साफ होते हैं जैसे कि सेंग्-त्सान् ने जब हुइ-के से पूछा कि बुद्ध क्या है? धर्म क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया "मन बुद्ध है मन धर्म है। बुद्ध और धर्म अलग-अलग नहीं हैं।" परन्तु कहीं-कहीं ध्यानी गुरु को सीधी कार्यवाही करते हुए भी देखिये। आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ध्यानी सन्त और दार्शनिक म-त्सु से एक व्यक्ति ने पूछा कि बोधिधर्म का भारत से

चीन आने का उद्देश्य क्या था ? म-त्सु ने उसकी छाती पर ऐसा धक्का मारा कि वह धस्ता धरती पर गिर पड़ा। कहा गया है इससे उसकी मर्मदृष्टि जग गई और असंख्य समाधियों के रहस्य उसे पता लग गये। ताली बजाता हुआ और जोर से हँसता हुआ वह कृतज्ञतापूर्वक गुरु को प्रणाम कर चला गया।

कभी-कभी साधारण फटकार से ही काम चल जाता है। सातवीं शताब्दी के एक ध्यानी सन्त से जब एक व्यक्ति ने उपर्युक्त प्रश्न ही पूछा तो उसने उत्तर दिया "तुम अपने मन के बारे में ही क्यों नहीं पूछते ? कभी-कभी कोई भी उत्तर न देकर ध्यानी गुरु केवल मौन रह जाते हैं। उदाहरणतः उपर्युक्त प्रश्न ही जब ध्यानी गुरु चिए-सु कु-मिग् से पूछा गया तो वह चुप रह गये। इसी प्रश्न के बहुतेरे उत्तर भी द्रष्टव्य हैं। एक गुरु से जब यह पूछा गया कि बोधिधर्म का पश्चिम (भारत) से चीन में आने का उद्देश्य क्या था तो उसने उत्तर में सिर्फ अपना डंडा उठाया। एक अन्य ने कहा 'जब वसन्त आती है तो सब पौधे फल-फूल उठते हैं। एक अन्य ने कहा, "जब तुम सिरके को चखते हो तो वह खट्टा होता है, जब तुम नमक को चखते हो तो वह खारी होता है।' एक अन्य का उत्तर था, पूर्णमासी का चन्द्रमा याङ्-त्सी-क्याङ् नदी में प्रतिबिम्बित हो रहा है। एक अन्य ने कहा "अपनी आँखों में धूल मत डालो।" जब इसको स्पष्ट करने के लिए उससे कहा गया तो उसने कह दिया "अपने कानों में पानी मत डालो।" एक अन्य ने उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में ही कहा "आँगन में खड़ा देवदार का पेड़।" इस प्रकार गुरुओं के उत्तर इस ढंग से दिये जाते हैं कि पूछने वाले के हृदय पर सोचते-सोचते सत्य की झलक का अवतरण हो। यह सत्य का अनुभव स्वयं उसकी ही अन्तःप्रज्ञा से उत्पन्न होता है, गुरुओं के शाब्दिक उत्तरों या इशारों से नहीं। वे उसके केवल साधन होते हैं, सत्य की झलक साधक के मन पर अपने चिन्तन से ही पड़ती है, जबकि साधक शब्द से उच्चतर चेतना-स्तरों की ओर अग्रसर होता है। डंडे का प्रयोग ध्यानी सन्त अपने उपदेशों में अक्सर करते हैं। अभिव्यक्ति का इनके लिए यह एक अत्यन्त लोकप्रिय और सहज साधन है। तेह्-शान् (७८२-८६५ ई०) नामक चीनी भिक्षु—(जापानी उच्चारण 'तोकुसन') अपने शिष्यों को डंडा दिखाते हुए कहा करता था "यदि तुम 'हाँ' कहोगे तो इस डंडे के तीस बार तुम्हारे सिर पर पड़ेंगे। यदि तुम 'न' कहोगे तो भी तीस बार ही बिलकुल एक समान।" यह ध्यानी साधु अपने उपदेशों में डंडा प्रयोग करने का

बड़ा शौकीन था जैसे कि प्रायः सभी ध्यानी साधु होते हैं। डंडे के माध्यम से ही वह 'अस्ति' और 'नास्ति' के चिर द्वन्द्व को पार किया करता था। "जब तुम पूछते हो तो तुम अपराध करते हो; जब तुम नहीं पूछते तो तुम विपरीत चले जाते हो।" एक बार की बात है कि तेइ-शन् ने अपने शिष्यों से कहा "मैं नहीं चाहता कि आज की शाम तुममें से कोई मुझ से कोई प्रश्न पूछे। यदि कोई पूछेगा तो मैं उस पर अपने डंडे के तीस वार करूंगा।" एक भिक्षु सामने आया और गुरु को प्रणाम करने लगा। झट गुरु ने उस पर वार कर ही तो दिया। "अभी तो मैंने आपसे प्रश्न भी नहीं पूछा है फिर आप मुझे क्यों मारते हैं?" "तुम कहां से आये हो?" "कोरिया से।" "तब तो जिस समय तुमने नाव में पैर रखे उससे पूर्व ही तुम मेरे डंडे के तीस वार खाने के अधिकारी हो गये!" ऊटपटांग उत्तर का यह उदाहरण देखिये। एक गुरु से जब यह पूछा गया कि बुद्ध क्या है, तो उसने उत्तर दिया "बिल्ली खूंटे के ऊपर छलांग मार रही है।" इसी प्रकार इस प्रश्न के उत्तर में एक अन्य गुरु ने कहा, "कुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकड़े हुए है।" ग्यारहवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध ध्यानी आचार्य से एक शिष्य ने पूछा, "विशुद्ध निर्विकार मूल से पर्वत नदियां और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई?" गुरु ने उत्तर-स्वरूप इस प्रश्न को ही दुहराते हुए कहा "विशुद्ध, निर्विकार मूल से पर्वत नदियां और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई!" इसी प्रकार दसवीं शताब्दी के एक ध्यानी सन्त से जब यह पूछा गया कि "बुद्ध क्या है" तो इसके उत्तर में उसने कहा "बुद्ध!" ध्यानी गुरु-शिष्यों के संवादों की एक बड़ी विशेषता उनकी सहजता और सीधी अभिव्यक्ति है। उनमें पहेली की सी अस्पष्टता भले ही हो परन्तु बनावट बिलकुल नहीं है और आडम्बर तो ध्यानी सन्तों की अभिव्यक्ति के बिलकुल बाहर की चीज है। उनके वचन और संकेत मर्म छिपाये हुए रहते हैं और चिन्तन करने पर उनमें तत्त्व मिलता है यह निर्विवाद है। 'जोशो' की दैनिक जीवन जैसी सहजता और सीधी युक्ति का एक मनोरंजक उदाहरण यह देखिये। (जोशु ७७८-८९७ ई०) नामक ध्यानी महात्मा के आश्रम में एक बार एक नया भिक्षु उनसे मिलने आया। इस भिक्षु से गुरु ने पूछा "क्या कभी पहले भी तुम इस आश्रम में आये हो?" आगन्तुक ने उत्तर दिया, "नहीं भन्ते, मैं पहली ही बार यहां आया हूं।" इस पर गुरु ने उससे कहा "जाओ एक प्याला चाय पीओ।" कुछ देर बाद एक दूसरा भिक्षु वहां उनसे मिलने आया और उससे भी जब गुरु ने यही प्रश्न पूछा कि वह पहली बार आश्रम में आया है या उससे पहले भी कभी तो उसने उत्तर दिया

"मैं पहले भी यहाँ आया हूँ।' इस पर गुरु ने उससे भी कहा, "लो, एक प्याला चाय पीयो।' उस आश्रम का व्यवस्थापक भिक्षु जिसका नाम इंजु था, वहीं खड़ा था। वह बड़ा हैरान हुआ। उसकी समझ में यह नहीं आया कि गुरु ने दोनों आगन्तुकों से एक ही प्रश्न पूछा और उन दोनों ने भिन्न-भिन्न उत्तर दिये फिर भी गुरु ने उन दोनों से समान रूप से कहा, "लो एक प्याला चाय पीयो।" उसने अपनी यह कठिनाई गुरु के सामने रखदी। जब इंजु अपनी बात समाप्त कर चुका, तो गुरु ने पुकारा, "ओ इंजु!" इसके उत्तर में जैसे ही इंजु ने "हाँ, गुरुदेव' कहा कि तत्काल गुरु ने उससे कहा, "लो एक प्याला चाय पीयो, इंजु! ऐसी विनोद भावना गम्भीर भाव से युक्त होकर ध्यानी सन्तों के दैनिक संलापों में भरी पड़ी है। इसी ध्यानी सन्त (जोशु) के एक अन्य विनोद-पूर्ण विरोधी कथन को देखिये। वह अक्सर आगन्तुकों से, जो कुछ चीज अपने साथ लाते थे, कहा करता था, "इसे डाल दो! एक बार एक भिक्षु ने उससे पूछा कि 'यदि मैं अपने साथ कुछ भी न लेकर आपके पास आऊँ, तो आप क्या कहेंगे।" गुरु ने झट उत्तर दिया, "इसे डाल दो!' "परन्तु मेरे पास तो कुछ है ही नहीं, मैं क्या डालूंगा?' "यदि ऐसा है, तो इसे ले जाओ!' विनोदी ध्यानी सन्त का उत्तर था। चाओ-चाउ नामक ध्यानी सन्त के पास एक शिष्य आया और उसने उनसे कहा, 'क्या आप कृपा कर मुझे कुछ उपदेश करेंगे?" गुरु ने उससे पूछा 'क्या तुमने अभी नाश्ता कर लिया है या नहीं?" "हाँ भन्ते! मैं नाश्ता कर चुका हूँ" "तो अपने बर्तनों को मांजो। कहा जाता है कि इस उत्तर के परिणाम-स्वरूप शिष्य को सम्बोधि की प्राप्ति हो गई। एक उदाहरण और। वु-शन् और यंग्-शन् नामक दो भिक्षुओं की भेंट एक बार गर्मी के मौसम के बाद हुई। वु-शन् ने यंग्-शन् से पूछा, "इस गर्मी में मैंने तुम्हें इधर नहीं देखा। तुम क्या करते रहे हो?" यंग्-शन् ने उत्तर दिया "मैं उधर कुछ जमीन जोतता रहा और कुछ बाजरे का बीज मैंने उसमें बोया है।' इस पर वु-शन् ने उससे कहा, "तो तुमने अपनी गर्मियाँ बर्बाद नहीं की हैं।" तदनन्तर जब यंग्-शन् ने वु-शन् से पूछा कि वह गर्मियों में क्या करता रहा, तो वु-शन् ने उत्तर दिया "बस, दिन में एक बार भोजन और रात में अच्छी नींद!" इस पर यंग्-शन् ने अपनी टिप्पणी दी, "तो तुमने अपनी गर्मियाँ बर्बाद नहीं की हैं!"

अन्य ग्रन्थ

म-त्सु के शिष्य ताई-शु हुइ-हाइ (संक्षेप में हुइ-हाइ) नामक महात्मा चीन में आठवीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने 'युगपत् बोधि के मूल तत्त्व' नामक पुस्तक लिखी है जिसका चीनी भाषा में शीर्षक है 'तुन्-वु यओ-मेन् लुन्'। यह एक गम्भीर दार्शनिक महत्त्व की रचना है। जोह्न ब्लोफेल्ड (चु-चुन्) ने 'दि पाथ टु सडन अटेनमेण्ट' शीर्षक से इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है। नवीं शताब्दी के चीनी महात्मा हुआङ्-पो (जिनके नाम का जापानी उच्चारण है ओबाकु) का उल्लेख हम पहले (द्वितीय परिच्छेद में) कर चुके हैं। इनके प्रवचनों के संग्रह का नाम है 'मन के प्रेषण पर' (चीनी भाषा में 'चुआन्-हसिन् फ-यओ') जिसका भी अंग्रेजी अनुवाद उपर्युक्त विद्वान् के द्वारा किया गया है। नवीं शताब्दी के चीनी महात्मा लिन्-चि (जापानी उच्चारण 'रिंजई') के प्रवचनों और तेरहवीं शताब्दी के जापानी ध्यानाचार्य दो-गेन् के ९२ निबन्धों का उल्लेख हम द्वितीय परिच्छेद में कर चुके हैं।

तुन्-हुआङ् के प्रसिद्ध सहस्रबुद्धगुहाविहार से भी ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास पर लिखी दो महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। इनमें से एक है "लेंग् चिआ शिह्-त्सु ची" अर्थात् 'लंकावतार आचार्यों के अभिलेख'। यह आठवीं शताब्दी ईस्वी की रचना है और लंकावताराचार्यों की परम्परा के रूप में इसमें ध्यान सम्प्रदाय का उस समय तक का इतिहास दिया गया है। दूसरी रचना है 'धर्म-निधि की परम्परा का अभिलेख'। यह भी ध्यान-सम्प्रदाय का इतिहास है और इसकी कुछ बातें पहले इतिहास-ग्रन्थ से भिन्न हैं।

एक अन्य पुस्तक जिसका शीर्षक है 'चेन्-हुइ यु' ('चेन्-हुइ के उपदेश') चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालती है।

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के प्रसंग में हमें यहाँ दो पुस्तकों का उल्लेख और कर देना चाहिये जो जापान में प्रचलित हैं और ध्यान-सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें मानी जाती हैं। इनमें से एक का नाम है 'पि-येन्-चि'। इसमें '(धर्म) दीप प्रेषण अभिलेख' से (जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है) १०० 'प्रश्न' या ध्यानी जिज्ञासुओं के 'मामले' संगृहीत हैं। विशेषतः गुरु शिष्यों के मिलने के समय के वार्तालाप इस पुस्तक में हैं और उन पर स्युह्-तउ (९८०-१०५२ ई०) नामक भिक्षु की पद्यात्मक टिप्पणियाँ और युआन्-वु (१०६३ ११३५ ई०) नामक भिक्षु की उन टिप्पणियों पर टिप्पणियाँ हैं। युआन्-वु का निवास-स्थान एक पहाड़ी पर था जो 'पि-येन्' कहलाती थी जिस का अर्थ है 'हरी पहाड़ी'। 'चि' शब्द का अर्थ है 'संग्रह'। चूंकि यह संग्रह

पि-येन्' पहाड़ी पर किया गया था इसलिये इसका नाम 'पि-येन्-चि' पड़ा है। किस प्रकार जिज्ञासु ध्यानी महात्मा एक-दूसरे से मिलते थे, किस प्रकार उनके संलाप होते थे उनके दार्शनिक मन्तव्य क्या थे, आदि बातें 'पि-येन्-चि' से स्पष्ट होती हैं। ध्यान-सम्प्रदाय की दूसरी पाठ्य-पुस्तक का नाम है मु-मेन्-कुमान्' (मु-मोन्-क्वान्) जिसका अर्थ है बिना द्वार का अपरुही दर्रा या 'द्वारहीन द्वार'। यह गद्यपद्यात्मक रचना है और हुइ-काइ नामक ध्यानी भिक्षु (११८३-१२६०) द्वारा लिखित है। इसमें केवल ४८ ध्यानी भिक्षुओं के 'प्रसंग' हैं। 'द्वारहीन द्वार' ध्यान-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का प्रतीक है जिसके सम्बन्ध में इस रचना में एक महत्त्वपूर्ण गाथा है

महामार्ग में दरवाजे नहीं हैं,
फिर भी कितने एक दूसरे को काटते हुए हैं इसके रास्ते।
एक बार इस अपरुही दर्रे को पार हुए नहीं
कि राजकीय एकान्त का आनन्द लेते हुए
तुम इस विश्व में कहीं भी घूम सकते हो।

जापानी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि बाशो (१६४४-१६९४ ई०) ध्यान-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उनका जीवन गरीबी और पवित्रता का उदाहरण था और वे एक महान् शून्यवादी थे। रात-दिन 'सटोरी' अनुभव में रहते थे। समुराई जाति के थे जिसका परम्परागत धर्म ही ध्यान-सम्प्रदाय है। 'ध्यान' उनके निःश्वास में था। उन्होंने जापानी भाषा में प्रसिद्ध 'हाइके' लिखे हैं। 'हाइके' या 'हाइकु' जापानी भाषा में तीन पंक्तियों और १६ अक्षरों की एक कविता होती है। इसमें प्रायः कवि के मन पर पड़े वातावरण के प्रभाव का वर्णन होता है। कवि की आत्मा की तीव्रता की अभिव्यक्ति भी इस काव्य-रूप की एक विशेषता है। 'हाइकु' या 'हाइके' बाशो के साथ जापानी काव्य-साहित्य की एक बड़ी विशेषता हो गई। यह 'हाइके' या 'हाइकु' काव्य ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षाओं का प्रभावशाली वाहन बना और उसके प्रकृति-प्रेम, सादगी पवित्रता और अकिंचनता की भावनाएं उसमें पूरी तरह संचित हैं। बाशो का एक प्रसिद्ध 'हाइकु' है, जिसमें वह एक रात में एक नीरव जापानी विहार में निवास करते हुए उसकी शान्ति और अपने मनोभाव का सहज रूप से वर्णन करता हुआ कहता है

ओह ! पुराना पोखरा—
और पानी की आवाज़
जब कि मेंढक उसमें छलांग मारता है !

विहार के वातावरण की निस्तब्धता नीरवता, जो कभी-कभी उसके अन्दर स्थित पोखरे में मेंढक के उछलने के शब्द से भंग हो जाती है। इसी का सरल और स्पष्ट वर्णन कवि-साधक ने किया है। (मेंढक जापानी साहित्य में शान्त और एकान्त जीवन का प्रतीक है।)

बाशो का यह वसन्त-वर्णन भी, एक 'हाइकु' के रूप में है

वसन्त की शाम
चेरी के पेड़—चेरी के पेड़
आह ! वसन्त आ गई !

ध्यानाचार्य दो-गेन् ने भी 'हाइकें' लिखे हैं। देखिये

मध्य-रात्रि !
हवा शान्त है—अनूठी शान्ति—
पानी दर्पण के समान है,
हवा में चांदनी—पानी में प्रकाश, सर्वत्र प्रकाश,
पवित्र, ओह पवित्र—पारदर्शी—
एक नाव वहां होकर गुज़रती है !

यह ध्यानी साधक की पवित्र शान्त और पारदर्शी आत्मा की अभिव्यक्ति है। दो-गेन् ने ही ध्यान-साधक के तटस्थ, अनासक्त जीवन का वर्णन करते हुए यह 'हाइकु' लिखा है

बांसों की छाया सीढ़ियों को बुहार रही है,
परन्तु कोई धूल नहीं उठती,
चन्द्रमा का प्रकाश पानी के तल में
अन्तर्प्रवेश करता है
परन्तु उसके अन्दर कोई चिह्न नहीं छोड़ता !

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य की यह एक संक्षिप्त-सी विज्ञप्ति है। ध्यान परम्परा के ऐतिहासिक, तात्त्विक और साधनात्मक पक्षों पर चीनी और जापानी भाषाओं में प्रभूत साहित्य है जिसके अवगाहन का सौभाग्य और आनन्द इन भाषाओं के मर्मज्ञ ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु ध्यान का अनुभव इतने थोड़े धर्मों तक सीमित नहीं है और न भाषा उसमें कोई बाधा ही है। छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग) के इस वचन को हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं कि "बुद्धों के उपदेश की गम्भीरता का लिखित भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।" अतः भाषा या भाषाओं के ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी ध्यान-सम्प्रदाय और उसकी साधना को कुछ-न-कुछ समझ ही सकते हैं, क्योंकि वास्तविक समझना तो अपने मन का ही है। जिसने उसे समझ लिया, उसके अन्दर प्रज्ञा की ज्योति प्रकट होने लगती है और फिर ध्यान-अनुभव तो उसका अपना ही है।

चौथा परिच्छेद

साधना विधि

साधना ध्यान-सम्प्रदाय का प्राण है। अनन्य मनोबल का विकास कर अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सत्य की खोज में लगा देना तथा देना ही ध्यानी जीवन का उद्देश्य है। प्रत्यक्ष जीवन का यह साधना निषेध नहीं करती, बल्कि जिसका उसमें साक्षात्कार न हो सके उसे वह सत्य ही नहीं मानती। प्रत्यक्ष और परोक्ष 'इस' और 'उस' के बीच भेद करना ही वस्तुतः ध्यान-सम्प्रदाय के बाहर की बात है। ध्यान-सम्प्रदाय परिकल्पनात्मक नहीं भावुकतामय नहीं बल्कि सीधा और व्यावहारिक है। जो कुछ बोलता है, डंडे के जोर से बोलता है, जो कुछ करता है डंडे के जोर से करता है। डंडा अर्थात् सीधा अनुभव-ज्ञान जो विकल्प नहीं जानता भय नहीं जानता और जिसकी मार भयंकर होती है। प्रज्ञा, निरपेक्ष निर्विकल्प ज्ञान जो शून्यता-रूप है ध्यानी साधक का लक्ष्य है परन्तु उसकी खोज वह इस सापेक्ष जगत् में ही करता है। सत् और असत् के सम्पूर्ण द्वैतवादों और विकल्पों का उससे कठोर शत्रु और कोई नहीं है। उसके लिए ध्यान एक पथ ही नहीं, स्वयं मुक्ति-स्वरूप भी है। अधूरी बातों और भावों में उसका विश्वास नहीं है और न दूसरों के अनुभवों से ही वह अपने को तृप्त मान सकता है। ज्ञान उसके लिए 'प्रत्यात्मवेद्य' होना चाहिए और इस ज्ञान को प्राप्त करके भी वह उसकी अभिव्यक्ति के लिए लालायित नहीं होता, क्योंकि उसके लिए जीवन ही सत्य की सच्ची अभिव्यक्ति है और मौन ही सबसे बड़ी वाणी है। अपने अनुभव का विज्ञापन करना पागलपन है। एक ध्यानी सन्त का संस्मरण है कि एक बार उसने एक साधक को साधना की विधि बतलाई। उसने कहा "शास्त्र के श्रवण और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोड़ो। दस दिन के लिए अपने कमरे में बन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर, शान्त होकर बैठो और अपने विचारों को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोड़कर अपने आन्तरिक संसार को देखो।" साधक भिक्षु जो स्वयं परम विद्वान् उपदेशक था, रात भर इस आदेश के अनुसार ध्यान में बैठा रहा। प्रातः चार बजे के करीब उसे बांसुरी का-सा शब्द सुनाई दिया और उसके चित्त ने समाधि-सुख का प्रथम स्पर्श किया। प्रातःकाल उठकर उसने

गुरु का दरवाजा खटखटाया। गुरु ने उसे फटकारते हुए कहा, "मैं तो चाहता था कि तू सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर उसका रक्षक और प्रेषक बनेगा। तू शराब पीकर सड़क पर क्यों चरटि ल रहा है?"[1] ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता है कि हमारे मौन में सत्य बोलता है और जब हम बोलते हैं तो वह चुप हो जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक उच्च कोटि के साधकों ने कुछ नहीं लिखा, कुछ ने लिखकर नष्ट कर दिया। अनेक ऐसे सन्त हुए जिन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टता में लीन रहते हुए जीवन व्यतीत किया और अपने को समाज में प्रकट तक नहीं किया। उन्हें एक अतीत अनुभव प्राप्त था उस जगत् की सचाई से एक सचाई उनके सामने थी। तभी यह सम्भव हो सका। फिर भी यह आश्वासन की बात है कि कुछ सन्तों ने अपने साक्षात्कृत गूढ़ अनुभवों को 'सैना-बैना' के द्वारा समझाने का प्रयत्न भी किया है और इस प्रकार अनायास रूप से हमें साहित्य और कला की कुछ उच्चतम कृतियाँ मिल गई हैं। आध्यात्मिक अनुभव और सत्य के रस से भरपूर ध्यानी साधकों का यह वाणी साहित्य अध्यात्म जिज्ञासुओं की पिपासा और परिभ्रान्ति को शान्त करने में समर्थ है। अपने मन के सार को खोजने वाला प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष गृहस्थ हो या प्रव्रजित इसके सत्य को स्वयं अपनी प्रज्ञा से देख सकता है।

परन्तु अभ्यास के बिना कुछ सम्भव नहीं है और अभ्यास चित्त का अनायास, ही ध्यान है। ध्यान-सम्प्रदाय के साधन-पथ का परिचय देते हुए हम यहाँ पहले यह देखेंगे कि स्वयं योगी बोधिधर्म ने इस सम्बन्ध में क्या कहा है और उनका गूढ़ सन्देश इस सम्बन्ध में क्या है? ध्यान के अन्य आचार्यों और सिद्ध पुरुषों ने भी अपने-अपने अनुभवों के आधार पर साधना के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से कहा है। फिर इस सम्प्रदाय की धर्मशालियों से गृहीत अपनी व्यवस्थित साधना-पद्धति भी है, जिसका प्रशिक्षण उसके विहारों और ध्यानागारों में दिया जाता है। इन सबका क्रमिक विवरण हम यहाँ देंगे।

---

१ यदि कोई पहुँचा हुआ भिक्षु तपस्वी साधु होता तो वह भी इस पलायनी व्यक्ति से कहा जन बकता "चल, हीरा पा लिया, गाँठ गठिया लिया, बार-बार उसे क्यों खोलता है?" 'हीरा पाया गाँठ गठियायो बार-बार वाकू क्यों खोलै?' या "जो कोई पाता है वह अपनी मुट्ठी पकड़कर रखता है। जीभ स्वाद में लय पाती है। रतन निराला पाया है। जगत में ढिंढोरा पीटना व्यर्थ है।" 'जिन पाया तिनि गठि गह्यो रसना लागी स्वादि। रतन निराला पाया जगत ढिंढोल्या बादि।' और फिर 'अभी तो तेरा समुद्र में ही है, जब तू लक्ष्य पर पहुँच जाय और वहाँ आनन्द से बैठ जाय तो कह लेना। अभी से बोलकर क्यों अपने को विनष्ट करता है?" कबीर के ही शब्दों में 'पहुँचेंगे तब कहेंगे उमड़ेंगे उस ठाँई। अजहूँ तो तेरा समुद्र मँह बोलै बिगू के ठाँई।'

बोधिधर्म ने सत्य में प्रवेश के दो द्वार बताये हैं एक ज्ञान या उच्च अन्तर्बोध के द्वारा और दूसरा कर्म या व्यावहारिक जीवन के द्वारा। ज्ञान या उच्च अन्तर्बोध के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है 'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सब प्राणियों में एक ही सत्य निहित है। वे सदैव बाह्य विषयों से प्रभावित रहते हैं और इसीलिये मैं उनसे असत्य को त्यागकर सत्य को ग्रहण करने का आग्रह करता हूं। दीवार को देखते हुए उनको अपने चित्त की वृत्तियों को यह मनन करते हुए एकाग्र करना चाहिये कि 'अहं' ('मैं') और 'अपर' ('दूसरा') का अस्तित्व ही नहीं है, तथा ज्ञानी और अज्ञानी एक समान हैं।

कर्म या व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में बोधिधर्म ने कहा है कि उसमें चार कृत्य सम्मिलित हैं (१) साधक को सब कठिनाइयों को यह सोचकर सहना चाहिये कि मैं अपने पूर्वजन्म के कुकर्मों का फल भोग रहा हूं। (२) उसे अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहना चाहिये चाहे दुःख हो या सुख लाभ हो या हानि। (३) उसको किसी वस्तु की तृष्णा नहीं करनी चाहिये। (४) उसको धर्म के अनुसार जिसका स्वरूप इस भाव (सत्य) और बुद्धि है, आचरण करना चाहिये।"

"साधक को सब कठिनाइयों को यह सोचकर सहना चाहिये कि मैं अपने पूर्वजन्म के कुकर्मों का फल भोग रहा हूं" इसकी विवृति करते हुए बोधिधर्म ने कहा है, "जो साधक मार्ग का अभ्यास कर रहा है उसे प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए, अतीत के असंख्य युगों से मैं अनेक योनियों में भूला हूं और मैंने सारवान् वस्तुओं को छोड़कर अपने को जीवन की छोटी छोटी हीन बातों में लगाया है और इस प्रकार घृणा द्वेष और बुराई के अनन्त अवसर मैंने पैदा किये हैं। यद्यपि इस जीवन में मैंने अपराध नहीं किये, परन्तु अतीत के पापों के फल अब भुगतने होंगे। देवता और मनुष्य कोई यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि मुझ पर क्या आने वाला है। मुझ पर जो भी विपत्तियां आयेंगी मैं उन्हें राजी से और सब से सहूंगा और न कराहूंगा, न शिकायत करूंगा। "उसे अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहना चाहिये, चाहे दुःख हो या सुख, लाभ हो या हानि।" इसके सम्बन्ध में बोधिधर्म का कहना है कर्म की अवस्थाओं के परिणामस्वरूप प्राणी पैदा होते हैं और उनमें 'आत्मा' जैसी कोई वस्तु नहीं है। दुःख और सुख जो भी मैं भोगता हूं मेरे पूर्व-कर्मों के परिणाम हैं। यदि मैं धन या सम्मान पाता हूं तो यह मेरे पिछले कर्मों के परिणाम-स्वरूप है जो कारण-कार्य के नियम के अनुसार मेरे वर्तमान जीवन को प्रभावित करते हैं। जब कर्म की शक्ति समाप्त हो जायगी तो जो परिणाम मैं अब भोग रहा हूं, अदृश्य हो जायेंगे। तब फिर उन पर प्रसन्न होने से

क्या लाभ ? लाभ हो या हानि, मुझे कर्म को ही स्वीकार करना चाहिये जो हो इनमें से एक या दूसरे (लाभ या हानि) को प्राप्त कराता है। सुख या दुःख की हवा मुझे हिला नहीं सकेगी क्योंकि मैं चुपचाप मार्ग के साथ एकाकार हूं।" "उसको किसी वस्तु की तृष्णा नहीं करनी चाहिये। इसके सम्बन्ध में बोधिधर्म कहते हैं संसारी मनुष्य शाश्वत रूप से विभ्रमित होकर, सभी जगह एक न एक वस्तु से आकृष्ट होते रहते हैं। इसको ही तृष्णा कहते हैं। ज्ञानी पुरुषों को सत्य विदित होता है इसलिये वे अज्ञानी पुरुषों के समान नहीं होते। उनका मन असंस्कृत' में शान्तिपूर्वक निवास करता है, जबकि उनका शरीर कार्य कारण नियम के अनुसार कार्य करता रहता है। सभी चीजें शून्य हैं और ऐसा कुछ नहीं है जिसे खोजने की इच्छा की जाय। जहां प्रकाश का गुण है, वहां अन्धकार का अवगुण भी निश्चयतः छिपा हुआ है। दोनों सब यहां हम दुःख मिलाकर बहुत समय तक ठहरते हैं एक आग लगे हुए घर के समान है। जो भी शरीरधारी हैं सब दुःख भोगते हैं और कोई नहीं जानता कि शान्ति क्या है। चूंकि ज्ञानी पुरुष इस सत्य को पूरी तरह से जानते हैं इसलिये वे परिवर्तनशील वस्तुओं में कभी आसक्त नहीं होते उनके विचार शान्त हो जाते हैं और वे किसी चीज की तृष्णा नहीं करते। सूत्र कहता है 'जहां तृष्णा है वहां दुःख है। तृष्णा को छोड़ दो तो तुम धन्य हो। इस प्रकार हम जानते हैं कि किसी वस्तु की तृष्णा न करना वस्तुतः सत्य तक पहुंचने का मार्ग है। 'उसको धर्म का अनुसरण करना चाहिए" इसके सम्बन्ध में बोधिधर्म ने साधक को ये निर्देश दिये हैं "सत्य, जिसे हम धर्म कहते हैं अपने सार में विशुद्ध है, और यह सत्य ही शून्यता है जो सब में प्रकटित हो रहा है, यह सब मलों और आसक्तियों से ऊपर है और इसमें 'अपना' या 'पराया' कुछ नहीं है। जब ज्ञानी पुरुष इस सत्य को समझ लेते हैं और इसमें विश्वास करते हैं तो उनका जीवन धर्म के अनुरूप हो जाता है। चूंकि धर्म के सार में कुछ भी अपने अधिकार में करने की इच्छा नहीं होती इसलिये ज्ञानी पुरुष सदा दान करने के लिए तैयार रहते हैं अपने शरीर को जीवन को सम्पत्ति को और कभी किसी से द्वेष नहीं करते और वे यह तो जानते ही नहीं कि बुरा व्यवहार करना क्या होता है। उन्हें शून्यता के त्रिविध स्वभाव का पूरा ज्ञान होता है इसलिये वे पक्षपात और आसक्ति से ऊपर होते हैं। सब प्राणियों के मलों को शुद्ध करने की उनकी इच्छा होती है, इसीलिए वे उनके बीच में आते हैं परन्तु उनको रूप में आसक्ति नहीं होती। उनके जीवन का यह आत्म-उपकारी पक्ष होता है। परन्तु वे दूसरों का उपकार करना भी जानते हैं और बोधि के सत्य

की प्रशंसा करता भी । दान के समान वे शेष पांच पारमिताओं का भी अभ्यास करते हैं । ज्ञानी पुरुष विभ्रमित विचारों से छुटकारा पाने के लिए छह पारमिताओं का अभ्यास करते हैं परन्तु इसके साथ ही उनके अन्दर ऐसी कोई चेतना नहीं होती कि वे कोई पुण्य कार्य कर रहे हैं । यही कहलाता है धर्म के अनुकूल होना ।

बोधिधर्म ने अपने शिष्यों की आध्यात्मिक जिज्ञासाओं और प्रश्नों के उत्तर दिये थे । हम पहले (तृतीय परिच्छेद में) देख चुके हैं कि तुन्-हुआङ् में एक हस्तलिखित प्रति मिली है जिसमें बोधिधर्म के शिष्यों के कुछ प्रश्न और बोधिधर्म के द्वारा दिये गये उनके उत्तर संक्षिप्त रूप में निहित हैं, जिन्हें उनके शिष्यों ने संकलित किया था । इनमें से कुछ प्रश्नोत्तर यहां दे देना साधकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा :

प्रश्न बुद्ध-चित्त क्या है ?

उत्तर : तुम्हारा मन ही यह है । जब तुम इसके सही सार को देखो, तो तुम इसे 'तथता' कह सकते हो । जब तुम इसके अपरिवर्तनशील स्वभाव को देखो तो तुम इसे 'धर्मकाय' कहकर पुकार सकते हो । यह किसी का नहीं है, इसलिये तुम इसे 'विमुक्ति' कह सकते हो । यह सहज और स्वतंत्र रूप में कार्य करता है और कभी दूसरों से बाधाग्रस्त नहीं होता, इसलिये यह 'सच्चा मार्ग' कहलाता है । यह कभी पैदा नहीं हुआ इसलिये यह कभी मरेगा भी नहीं इसीलिये यह 'निर्वाण' कहलाता है ।

प्रश्न तथागत क्या है ?

उत्तर : जो यह जानता है कि वह न कहीं से आता है और न कहीं जाता है ।

प्रश्न शून्यता की समाधि क्या है ?

उत्तर प्रतीयमान जगत् में वस्तुओं को सायक देखता है परन्तु सदा शून्यता में रहता है । यही शून्यता की समाधि है ।

प्रश्न यदि कोई पुरुष अर्हत् का निर्वाण प्राप्त करले, तो क्या उसे 'ध्यानी' का साक्षात्कार प्राप्त है ?

उत्तर वह स्वप्न देख रहा है और तुम भी ।

प्रश्न यदि कोई पुरुष छह पारमिताओं का अभ्यास कर ले दस बोधिसत्त्व भूमियों को पार कर ले और दस हजार शीलों को पूरा कर ले और यह ज्ञान भी प्राप्त कर ले कि सब वस्तुएं उत्पन्न नहीं हुई हैं इसलिये वे मरेंगी भी नहीं । क्या ऐसे पुरुष को 'ध्यानी' अनुभव प्राप्त है ?

उत्तर वह स्वप्न देख रहा है और तुम भी ।

प्रश्न मोह को विच्छिन्न करने के लिए मनुष्य को किस प्रकार के ज्ञान का प्रयोग करना चाहिए ?

उत्तर जब तुम अपने मोहों का अवलोकन करोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि वे आधारहीन हैं और आश्रय लेने योग्य नहीं । इस प्रकार तुम मोह और संशय को काट सकते हो । इसी को मैं ज्ञान कहता हूँ ।

प्रश्न जिस मन को कुछ जानना नहीं, कुछ साक्षात्कार करना नहीं उसे तुम क्या कहते हो ?

उत्तर बोधिधर्म ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

प्रश्न स्वाभाविक सरल मन क्या है, और कृत्रिम जटिल मन क्या है ?

उत्तर अक्षर और भाषण कृत्रिम जटिल मन से आते हैं । जब मनुष्य लौकिक और अलौकिक दोनों जगतों में सहज और भोले-भाले ढंग से चलता है या ठहरता है, बैठता है या लेटता है या घूमता है, तो इसे उसके स्वाभाविक सरल मन से उत्पन्न कहा जा सकता है । जब कोई व्यक्ति सुख या दुःख से विचलित नहीं होता तो इसे भी उसका स्वाभाविक, सरल मन कहा जा सकता है ।

बोधिधर्म के नाम से एक गाथा प्रचलित है जिसमें ध्यान-सम्प्रदाय की साधना-विधि और तत्त्व-ज्ञान का पूरा सार-संकलन है, परन्तु यह निश्चित जान पड़ता है कि गाथा बोधिधर्म द्वारा रचित नहीं बल्कि आठवीं शताब्दी के किसी अज्ञात ध्यानी सन्त की रचना है । गाथा इस प्रकार है

'शास्त्रों से बाहर एक विशेष सम्प्रेषण;
शब्दों और अक्षरों पर कोई निर्भरता नहीं
मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत;
अपने ही स्व भाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना ।"

बोधिधर्म ने समग्र जीवन-साधना की शिक्षा अपने शिष्यों को दी और उन्हें साफ-साफ यह बताया "यह मार्ग मन की शान्ति को प्राप्त करने का है" 'यह मार्ग दुनिया में व्यवहार करने का है' "यह मार्ग तुम्हारे अपने परिपार्श्व के साथ सामंजस्यपूर्वक रहने का है" और "यह उपाय है ।" 'उपाय' से बोधिधर्म का तात्पर्य 'अनासक्ति' से था । इस प्रकार बोधिधर्म ने पूर्ण

शान्ति-योग का उपदेश दिया और अध्यात्म के साथ-साथ व्यवहार को भी उन्होंने अपने शिष्यों को सिखाया।

बोधिधर्म के बाद काल-क्रम की दृष्टि से तृतीय धर्मनायक सेंग्-त्सन् का नाम आता है जिन्होंने साधकों के लिए बहुत कुछ अपनी रचना 'मन में विश्वास' या 'विश्वासी मन' में कहा है, जिससे हम काफी उद्धरण द्वितीय परिच्छेद में दे चुके हैं। अब हम छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् पर आते हैं जिनके 'मंच-सूत्र' से भी काफी उद्धरण हम द्वितीय और तृतीय परिच्छेदों में दे चुके हैं। यहाँ उनके कुछ अन्य कथनों को साधना की दृष्टि से देख लेना आवश्यक होगा। हुइ-नेंग् सहज ज्ञानी थे। हम पहले देख चुके हैं कि वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता के एक उच्छिष्ट वाक्य से उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। वह वाक्य था 'न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तमुत्पादयितव्यम्'। इसमें "न क्वचित् प्रतिष्ठितं" से यह तात्पर्य नहीं है कि मन को कहीं भी न लगाकर रिक्तता की अवस्था में छोड़ दिया जाय। हुइ-नेंग् कहते हैं "मूर्ख पुरुषों का एक वर्ग है जो चुपचाप बैठते हैं और मन को खाली रखने का प्रयत्न करते हैं। वे किसी भी वस्तु का चिन्तन करने से बचते हैं और अपने को 'महान्' कहते हैं। उनके इस मिथ्या सिद्धान्त के कारण हम उनसे बात करना भी नहीं चाहते।"[1] एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने कहा है "सम्पूर्ण विचार से अपने मन को निरुद्ध करना एक बहुत बड़ी गलती है।" तब फिर निर्विचार समाधि क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं "जब हम प्रज्ञा के द्वारा आत्म-निरीक्षण करते हैं तो हम अन्दर और बाहर प्रकाशित हो जाते हैं और अपने मन को जानने की स्थिति में हो जाते हैं। अपने मन को जानना विमुक्ति को प्राप्त करना है। विमुक्ति को पाना ही प्रज्ञा-समाधि है जो ही निर्विचार समाधि कहलाती है। क्या है 'निर्विचारता'? 'निर्विचारता' अनासक्ति से विमुक्त चित्त से सब वस्तुओं को देखना और जानना है। जब यह प्रयोग में होती है तो यह सब जगह व्याप्त है परन्तु कहीं चिपटती नहीं। जो कुछ हमें करना है वह है अपने मन को शुद्ध करना ताकि छह विज्ञान (चेतना के स्वरूप) छह दरवाजों (इन्द्रियों) में होकर गुजरते हुए इन्द्रिय-विषयों से न मलीन हों और न उनमें लिप्त हों। जब हमारा मन स्वतन्त्र रूप से, बिना किसी बाधा के कार्य करता है और 'आने' या 'जाने' के लिए स्वतन्त्र होता है तो हम प्रज्ञा या विमुक्ति की समाधि को प्राप्त करते हैं—यह अवस्था ही 'निर्विचारता' की

[1] दि सूत्र ऑफ वेई-लॉग् (हुइ-नेंग्) पृष्ठ ९९।

क्रिया कहलाती है। परन्तु किसी भी वस्तु के चिन्तन से बचना ताकि सम्पूर्ण विचार निरुद्ध हो जायं, यह तो साधक पर धर्म की जकड़ सवार हो जाना है और एक मिथ्या सिद्धान्त है।' शून्य-समाधि चित्त की अवस्था नहीं है बल्कि अनासक्त मन का व्यवहार ही है इसे और भी स्पष्ट करते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं "कुछ लोग समाधि का अर्थ करते हैं लगातार मौन होकर बैठना और मन में कुछ भी विचार उत्पन्न न होने देना। इस प्रकार की व्याख्या से तो हम जड़ पदार्थों की श्रेणी में पहुंच जायेंगे और यह सत्य मार्ग की एक बाधा होगी जिसे हमें खुला रखना चाहिए। यदि सब वस्तुओं की आसक्ति से हम अपने मन को विमुक्त कर दें तो मार्ग साफ हो जाता है अन्यथा हम अपने को बन्धन में डालते हैं।"[1] इस प्रकार ज्ञात होता है कि जिस "न क्वचित् प्रतिष्ठित चित्त' से हुइ-नेंग् को अन्तर्बोध हुआ और जिसका बाद में उन्होंने चीनी जनता में व्यापक प्रचार किया वह वास्तव में मुक्त पुरुष का विहार ही है और गीता के अनासक्ति-योग या निष्काम कर्म-योग की अवस्था ही है जैसा कि बार-बार हुइ-नेंग् के इस बात पर जोर देने से सिद्ध होता है कि "यदि सब वस्तुओं की आसक्ति से हम अपने मन को विमुक्त कर दें तो मार्ग साफ हो जाता है।" उन्होंने और भी जोर देते हुए कहा है, "हमें शून्यता या उपेक्षा का अभ्यास करना चाहिये और किसी वस्तु से अपने को आसक्त नहीं करना चाहिये।"[2] अनासक्ति को हुइ-नेंग् साक्षात्कार का सार कहते थे। उनका कहना था कि जो विचार हमें इन्द्रिय-विषयों में फंसाता है वह 'क्लेश' है और जो विचार हमें आसक्ति से विमुक्त करता है वही 'बोधि' है।[3] अनासक्ति हुइ-नेंग् की साधना पद्धति में उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि 'गीता' के सर्वस्पर्शी दर्शन में। 'गीता' तो इतना स्पष्टतः और एकाग्र भाव से कहती भी नहीं जितना हुइ-नेंग ने कहा है यह हमारे सम्प्रदाय की परम्परा रही है कि अनासक्ति को हम अपना आधारभूत सिद्धान्त मानते हैं।" अतः "न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तम् उत्पादयितव्यम्" से तात्पर्य मन के अनासक्ति-योग के अभ्यास से ही है यह 'वज्र-सूत्र' के पृष्ठ-पृष्ठ पर स्पष्ट होता है। 'बाह्य विषयों की आसक्ति से विमुक्त होना ही ध्यान है और आन्तरिक शान्ति प्राप्त करना समाधि है। जब हम ध्यान करने की स्थिति में होते हैं और अपने आन्तरिक मन को समाधि में

---

१ दि सूत्र ऑव वे-लँग् (हुइ-नेंग्) पृष्ठ ४७।
२ वही पृष्ठ ३०।
३ वही „ ३०-३१।

रखते हैं तो यही ध्यान-समाधि है।[1] हुइ-नेंग् न तो यह चाहते हैं कि साधक बिलकुल अपने अन्तर्मन में ही रम जाय बिलकुल शम का ही उपासक बन जाय और वस्तु-जगत् का तिरस्कार कर दे और न वे यह चाहते हैं कि बाह्य संसार में आसक्त होकर वह साधना के मार्ग को ही भूल जाय। इसलिये वे साधना के जिस स्वरूप का प्रचार करते हैं वह 'गीता' के बहुत कुछ सदृश मान से युक्त कर्मयोग जैसा ही है। "समाधि के कुछ शिक्षक अपने शिष्यों को शिक्षा देते हैं कि वे शम की प्राप्ति के लिए अपने मन पर निगरानी रक्खें, ताकि वह सोचने की क्रिया करना बन्द छोड़ दे। इस शिक्षा का अनुसरण कर शिष्य मन के सब उद्योग को छोड़ देते हैं। इस प्रकार की शिक्षा में बहुत अधिक विश्वास रख कर अज्ञानी पुरुष विक्षिप्त तक हो जाते हैं। ऐसे उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं और इस प्रकार की शिक्षा दूसरों को देना एक बहुत बड़ी गलती है।"[2] अभावात्मक शून्यता और बाह्य विषयों की आसक्ति, दोनों का ही निषेध करते हुए वे कहते हैं 'साधारण आदमी बाहरी वस्तुओं से अपनी आसक्ति बांध लेते हैं और अन्दर वे रिक्तता के विचार में पड़ जाते हैं। विषयों से सम्पर्क में आने पर जब वे उनकी आसक्ति से अपने को मुक्त करने में समर्थ हो जाते हैं और इसी प्रकार जब वे विनाश या रिक्तता के मिथ्या सिद्धान्त से अपने को मुक्त कर लेते हैं, तो वे अन्दर के सब मोहों और बाहर के सब भ्रमों से मुक्त हो जाते हैं। जो इसे समझता है और इस प्रकार एक क्षण में जिसे बोधि मिल गई है, उसी के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसने बुद्ध-ज्ञान के दर्शन के लिए अपनी आँखें खोली हैं।"[3] निर्विचार-समाधि यदि मन को विचार से खाली कर देना नहीं है, तो इस प्रकार की समाधि में हमें क्या चिन्तन करना चाहिये और क्या चिन्तन नहीं करना चाहिये, इसके सम्बन्ध में साधकों को स्पष्ट निर्देश देते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं 'निर्विचारता में हमें किससे पीछा छुड़ाना चाहिये और किस पर अपना मन लगाना चाहिये? हमें द्वन्द्वों से और सब मलिनताकारी विचारों से पीछा छुड़ाना चाहिये। हमें तथता के सच्चे स्वभाव पर अपने मन को जमाना चाहिये, क्योंकि तथता विचार का सार है और विचार तथता की क्रिया का परिणाम है।" शून्य के वास्तविक स्वरूप का विवेचन करते हुए हुइ-नेंग् ने उसे आकाश के समान सर्वव्यापक बताया है। 'विश्व का असीम शून्य अनेक आकारों

---

१ वही, पृ. ५१।
२ वही, पृ. ४८।
३ वही पृष्ठ ६८।

और स्वर्गों की वस्तुओं को अपने अन्दर समेटे हुए है, जैसे कि सूर्य, चन्द्र, तारे, पर्वत, नदियां संसार, वसन्त, सिर्फरिश्तियां, झाड़ियां, जंगल, अच्छे-बुरे आदमी, अच्छी-बुरी वस्तुएं, देव-लोक नरक महासागर, और महामेरु के सब पर्वत। आकाश में ये सब समाविष्ट हैं और इसी प्रकार हमारे स्वभाव की शून्यता में। हम कहते हैं कि मन का सार महान् है, क्योंकि इसमें सब पदार्थ समाविष्ट हैं, सब वस्तुएं हमारे स्वभाव के अन्दर हैं।"[1] सब कुछ अन्दर ही है। प्रज्ञा भी अन्दर से ही आती है, किसी बाहरी स्रोत से नहीं। प्रज्ञा हर प्राणी में विद्यमान है और बुद्ध और अ-बुद्ध में केवल यह अन्तर है कि एक ने इसका साक्षात्कार कर लिया है जबकि दूसरा इसे नहीं जानता। अन्तःसाधना पर जोर देते हुए हुइ-नेंग ने कहा है, "हमारा यह भौतिक शरीर एक नगर के समान है। हमारी आंखें कान, नाक और जीभ इसके दरवाजे हैं। पांच दरवाजे बाहरी हैं, जबकि अन्दर का दरवाजा विचार है। मन भूमि है। मन के राज्य में निवास करने वाला 'मन का सार' ही राजा है। जब मन का सार अन्दर रहता है, तो राजा अन्दर है और हमारे शरीर और मन स्थित रहते हैं। जब मन का सार बाहर चला जाता है तो राजा बाहर चला जाता है और हमारे शरीर और मन नष्ट हो जाते हैं। मन के सार के अन्दर ही हमें बुद्धत्व के लिए प्रयत्न करना चाहिये और हमें इसे अपने से बाहर नहीं खोजना चाहिये। करुणावान् होना ही अवलोकितेश्वर है पवित्र जीवन के लिए योग्य बनना ही शाक्यमुनि है। समता और ऋजुता ही अमिताभ है।[2]

हुइ-नेंग का यह कहना था कि ध्यानी साधक को अपने अन्दर ही बुद्ध को देखना चाहिये। 'हमारा स्वभाव ही बुद्ध है और इस स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई बुद्ध नहीं है।"[3] अपने एक अन्य प्रवचन में वे कहते हैं, "हमारे मन के अन्दर एक बुद्ध है और यह अन्दर का बुद्ध ही सच्चा बुद्ध है। यदि बुद्ध को अपने मन के अन्दर नहीं खोजा जाय तो अन्यत्र हम सच्चे बुद्ध को कहां पायेंगे? इस बात में सन्देह मत करो कि बुद्ध तुम्हारे मन के अन्दर है, जिससे बाहर कुछ अस्तित्व विद्यमान नहीं हो सकता।"[4] इस सम्बन्ध में उनकी यह सुन्दर गाथा भी है

१ वही, पृ० ८८।
२ वही, पृ० ४४-४५।
३ वही, पृ० ६८।
४ वही, पृ० ११२।

'जो बुद्ध को बाहर खोजता है, बुद्ध सिद्धान्तों का अभ्यास करते हुए,
वह नहीं जानता कि सच्चा बुद्ध कहाँ मिलेगा
परन्तु जो अपने मन के अन्दर ही सत्य को साक्षात्कार करने की योग्यता रखता है,
उसने बुद्धत्व के बीज को बोया है;
जिसने मन के सार का साक्षात्कार नहीं किया और बुद्ध को जो बाहर खोजता है
वह मूर्ख है और गलत इच्छाओं से प्रेरित है।"[1]

सत्य का साक्षात्कार अपने मन के अन्दर ही होता है इस पर हुइ-नेंग् ने बड़ा जोर दिया है। त्रि-शरण (बुद्ध धर्म संघ की शरणागति) को उन्होंने मन के अन्दर ही माना है बुद्ध धर्म संघ मन के सार के अन्दर ही हैं और वहीं उनकी सच्ची शरण ली जाती है। अपने मन के सार को जानना और बुद्धत्व प्राप्त करना दोनों बिलकुल एक बात है।[2]

हुइ-नेंग् के शिष्य युंग् चिया त-सिइ् ये जिनके 'साक्षात्कार-पथ-गीत' या 'बोधि-गीत' में साक्षात्कार-पथ के साधन और अनुभवों का वर्णन है। इसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसलिये अब हम एक अन्य ध्यानी साधक पर आते हैं जिन्होंने ध्यान-विद्यार्थियों के लिए बहुत स्पष्ट सुझाव दिये हैं। वे हैं पेन्-चेस्सु, जिनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी है। ध्यान-विद्यार्थियों के लिए उनके सुझाव इस प्रकार हैं—

'संसार में रहना परन्तु उसकी धूल से आसक्ति पैदा न करना—यही सच्चे ध्यान विद्यार्थी का मार्ग है।
किसी अन्य पुरुष के सत्कर्मों को देखकर उसके उदाहरण का अनुसरण करने के लिए अपने को उत्साहित करो परन्तु किसी दूसरे आदमी के गलत कर्म को देखकर उसका अनुसरण न करने के लिये अपने को समझाओ।
यदि तुम अकेले किसी अंधेरे कमरे में भी हो तब भी इस प्रकार बरतो जैसे कि कोई बड़ा अतिथि तुम्हारे सामने हो।

---

१ वही पृष्ठ १९१।
२ वही, पृष्ठ ६०—६१।

अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करो, परन्तु अपने सच्चे स्वभाव से अधिक
अभिव्यक्त मत होओ।
गरीबी एक खजाना है। इसे आराम के जीवन से मत बदलो।
एक व्यक्ति मूर्ख की तरह दिखाई पड़ सकता है, परन्तु वह मूर्ख नहीं होता।
सम्भव है कि वह अपने ज्ञान को संरक्षित कर रहा हो और सावधानीपूर्वक
उसकी रखवाली कर रहा हो।
भूल आलस-स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। वे मेघ की वर्षा या ओलों की तरह
अपने आप आकाश से नहीं गिरते।
विनम्रता सब गुणों का आधार है। इससे पहले कि तुम स्वयं अपना
परिचय अपने पड़ोसियों को दो
उन्हें तुम्हारे (गुणों के) बारे में जानना चाहिये।
एक आर्य हृदय कभी अपने आपको दूसरों से आगे बढ़ाकर नहीं रखता,
उसके शब्द दुर्लभ रत्नों के समान अल्प ही दिखाई पड़ते हैं।
प्रत्येक दिन एक सच्चे विद्यार्थी के लिये एक सौभाग्यमय दिन होता है।
समय बीतता है, परन्तु वह कभी नहीं पिछड़ता।
न यश और न लज्जा उसके हृदय को विचलित कर सकते हैं
सही और गलत का विवेचन मत करो। सदा अपनी ही निन्दा करो,
दूसरों की नहीं।
हालांकि कुछ चीजें सही थीं परन्तु अनेक पीढ़ियों तक वे गलत समझी
गईं।
चूंकि सत्य का मूल्य शताब्दियों के बाद तक निर्धारित किया जा सकता है
अतः तत्काल प्रशंसा की तृष्णा करने की आवश्यकता नहीं है।
विश्व के महान् नियम पर ही सब कुछ क्यों नहीं छोड़ देते
और हर दिन को एक शान्त मुस्कराहट से क्यों नहीं बिताते?'

ध्यान-सम्प्रदाय की साधना का सार पूर्ण अनासक्ति और सहजता के जीवन में है। लंकावतार-सूत्र में भगवान् बुद्ध का एक वचन है जिसमें वे कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के समय से लेकर निर्वाण में प्रवेश के समय तक उन्होंने धर्म पर एक शब्द भी नहीं कहा है। "यस्यां रात्र्यामभिसम्बुद्धः यस्यां च परिनिर्वृतः। एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम्।" वस्तुतः भगवान् बुद्ध इस पूरे काल में निरन्तर धर्म प्रवचन करते रहे थे। अतः भगवान् बुद्ध का यह कहना उनकी अनासक्ति भावना का ही द्योतक था। पालि 'महापरि-

निब्बाण-सुत्त' में भी हम बुद्ध को यह कहते देखते हैं कि उन्हें कभी ऐसी चेतना नहीं हुई कि धर्म को उन्होंने स्थापित किया है या कि संघ उनके सहारे से है। यह भी तथागत की पूर्ण अनासक्ति और निरभिमानता ही थी। इसे महायान के पारिभाषिक शब्दों में बुद्ध की 'अनाभोगचर्या' कहा गया है। जिसे गौड़पाद ने 'अस्पर्श-योग' कहा है और जिसके उपदेष्टा के रूप में बुद्ध की ओर संकेत किया है ('अस्पर्शयोगो वै नाम' देशितस्तं नमाम्यहम्'), वह यह 'अनाभोग चर्या' ही है और ध्यानी जीवन का बिलकुल यही उद्देश्य है। कर्म में अकर्म देखना साधना में अ-साधना देखना अर्थात् इस प्रकार साधना करना कि साधक को पता ही न चले कि वह कुछ कर रहा है और सहज रूप से, बिना उसे पता लगे ही साधक अनायास रूप से लक्ष्य तक पहुँच जाय—यही है 'बिना दरवाजे का दरवाजा' या 'द्वारहीन ड्योढ़ी वही' जिसे पार कर ध्यानी साधक सत्य साक्षात्कार के विमान में प्रवेश करते हैं।

ध्यान-सम्प्रदाय का साधना-मार्ग पूर्णतः अद्वैत पर अवस्थित है—संसार और परमार्थ के, पवित्र और अपवित्र के, अद्वैत पर। एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण नहीं करना है, बल्कि एक में ही दूसरे को देखना है। अंजन में ही निरंजन को देखने की जो बात हमारे देश में बाद में चलकर गोरख ('अंजन माँहि निरंजन भेंट्या') और कबीर ('अंजन माँहि निरंजन रहिये') ने कही उसकी ध्यान-सम्प्रदाय के साधना-मार्ग से पूरी सदृशता है। ध्यानी साधक परामर्श देते हैं कि इच्छाओं के इस लोक में रहकर ही साधना करो, इस चलते घर (पार्थिव सत्ता) में ही धर्मराज को देखो। यह सम्भव है इसका आदेश देते हुए से ही कबीर प्रतीत होते हैं जबकि वे कहते हैं कि हमने तो औघट में ही घाट को पा लिया है। "घट माँहि औघट लह्या औघट माँहि घाट।"

ध्यानी सन्त उन्-मैन् ने ध्यान की निर्लिप्त साधना के सम्बन्ध में कहा है "सारे दिन विविध विषयों पर विचार करने के उपरान्त भी तुम्हारे ओठों पर या दाँतों पर कुछ भी (शब्द) न आना एक भी शब्द न बोलना; दिन भर भोजन खाने और कपड़े पहने रहने पर भी एक चावल के सम्पर्क में न आना और न रेशम के एक भी धागे को छूना—यही 'ध्यान' है। ध्यान-सम्प्रदाय की साधना का यह पूरा वक्तव्य है। कितनी सहज और निर्लिप्त साधना ध्यानी सन्त चाहते हैं इसका एक और उदाहरण एक अन्य ध्यानी सन्त के शब्दों में देखिये जो उन्होंने अपने शिष्यों से कहे थे "तुम लोग जो साधना में लगे हो और बुद्ध-दर्शन में सिद्धि प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हारे लिए

प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। केवल एक ही मार्ग है और वह है कुछ विशेष न करके साधारण काम करते रहना मल-मूत्र त्याग करना खाना खाना और कपड़े पहनना, थकने पर लेट जाना और एक सरल व्यक्ति की तरह इन कामों पर अपने ऊपर हँसना विशिष्ट साधना करते समय दैनिक जीवन के साधारण कामों के परे कुछ प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है वरन् दैनिक जीवन के मध्य ही न तो किसी पदार्थ का बोध ग्रहण करना चाहिये न कोई विचार मन में आने देना चाहिये। यही अ-साधना द्वारा साधना, अ-प्रयत्न द्वारा प्रयत्न है।" कई ध्यानी साधुओं ने इस प्रकार सहज साधना के अपने अनुभव प्रकट किये हैं। एक कहता है चाय पीते हुए और चावल खाते हुए, मैं अपने समय को बिताता हूं जैसे भी वह जाता है। एक दूसरे ने उपदेश दिया है, 'अपनी इच्छानुसार कार्य करो, जहां इच्छा हो वैसे बसो दूसरा विचार मत आने दो। यही अनुपम मार्ग है।' इस प्रकार के उदाहरण काफी बढ़ाये जा सकते हैं।

साधारण जीवन में ही साधना करने का इतना आग्रह ध्यान-सम्प्रदाय में है कि कहीं-कहीं अतिवाद-सा ध्यानी सन्त कर देते हैं और जिज्ञासु विस्मित-सा रह जाता है। जब एक पूर्वकालीन ध्यानी साधु से पूछा गया 'आप किस प्रकार अभ्यास करते हैं? तो उसका उत्तर था 'मुझे जब भूख लगती है तो खा लेता हूं। जब थक जाता हूं तो सो जाता हूं।' इसी प्रकार एक अन्य से जब पूछा गया कि "परमार्थ क्या है?" तो उसने उत्तर दिया, तुम्हारा दैनिक जीवन—यही परमार्थ है। साधारण जीवन के व्यापारों में ही सत्य के दर्शन करने चाहिये, इसके सम्बन्ध में एक और ध्यानी सन्त और उसके शिष्य के इस प्रसंग को देखिये। चुंग्-शिन् नामक चीनी शिष्य ने अपने गुरु ताओ-वू की बड़ी सेवा की। एक दिन शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा, "जिस दिन से मैं आया हूं आपने मुझे धर्म के सार के विषय में कभी नहीं बताया।" गुरु ने उत्तर दिया "जब से तुम यहां आये हो, मैं कभी तुम्हें धर्म का सार बताये बिना नहीं रहा हूं।" "आपने मुझे कब धर्म का सार बताया है?" शिष्य ने पूछा। गुरु ने उत्तर दिया "जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आये हो, मैं कभी उसे बिना ग्रहण किये नहीं रहा हूं। जब तुमने हाथ जोड़ कर आदरपूर्वक मुझे प्रणाम किया है, तो मैं कभी अपना सिर झुकाये बिना नहीं रहा हूं। बताओ मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नहीं दिया है। शिष्य काफी देर तक चुपचाप खड़ा रहा। फिर गुरु ने कहा 'यदि तुम देखना चाहते हो तो तुम्हें सीधे और एक क्षण में ही देख लेना होगा। यदि तुम सत्य के

साक्षात्कार के मानसिक विश्लेषण पर आग्रह करोगे तो तुम सत्य से दूर जा पड़ोगे।' चून् सिन् ने प्रकाश की एक झलक में अपने गुरु के मन्तव्य को समझ लिया।

जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक जो साधना की जाती है, वह साधना का उच्चतम रूप नहीं है। ध्यानी साधक मानते हैं कि वहां साधना प्रकट हो गई है। साधना का सच्चा रूप वह है जहां वह अन्तर्हित रहती है प्रकट नहीं होती। संसार को ध्यानी छोड़े यह साधना का प्रकट होना है। संसार स्वयं शून्य धाम यह अन्तर्हित साधना है। ध्यानी साधक इसी पर ज़ोर देते हैं। यह तथ्य कितने सुन्दर रूप में एक ध्यानी सन्त और उनके शिष्य के इस जीवन प्रसंग में व्यक्त होता है। एक बार एक ध्यानी सन्त अपने एक शिष्य के साथ नदी पार कर रहे थे। गुरु ने शिष्य से पूछा कि नदी को पार करना किस प्रकार का कर्म है? शिष्य ने उत्तर दिया कि ऐसा कर्म जिसमें पानी पैरों को नहीं भिगोता। गुरु ने कहा "तुमने उसे घोषित कर दिया है।" तब शिष्य ने पूछा कि फिर उसका वर्णन किस प्रकार करना चाहिये। गुरु ने उत्तर दिया "पैर पानी से नहीं भीगते।" यही पूर्ण अनासक्ति है जो ध्यानी सन्तों की साधना में समाई हुई है।

गीता के अनासक्ति-योग के सम्बन्ध में कई बार मनीषियों को यह कठिनाई हुई है कि एक ओर वह योग को 'कर्मसु कौशलम्' कहती है और दूसरी ओर उससे अनासक्त रहने का उपदेश देती है। यह कैसे सधे? कर्म में कुशलता के लिए अनिवार्यतः उसमें बंधना पड़ता है। बिना बंधे कौशल नहीं आता और बंधने पर आसक्ति नहीं है यह कैसे कहा जाय? गीता में इस समस्या का पूरा समाधान विद्यमान है परन्तु यदि इसकी विधि के सच्चे रूप को काव्यमय रूप से देखना है तो एक पूर्वकालीन ध्यानी सन्त (बो-मेन्) के इन शब्दों को देखिये जिन्हें एक बार उद्धृत करने पर भी फिर उद्धृत करना पड़ता है

बांसों की छाया सीढ़ियों को बुहार रही है
परन्तु कोई धूल नहीं उठती;
चन्द्रमा का प्रकाश पानी के तल में अन्तर्प्रवेश करता है
परन्तु पानी में कोई चिह्न नहीं छोड़ता।

प्रकृति के बीच में गरीबी का जीवन ध्यानी साधकों को बहुत प्रिय है। वे इसे किसी भी सांसारिक वैभव के लिए छोड़ना नहीं चाहते। ध्यानी सन्त बुद्ध की वाणी को प्राकृतिक दृश्यों में ही सुनते हैं। एक जापानी ध्यानी सन्त ने कहा है, 'मुरझाई हुई पत्तियों का गिरना और फूलों का खिलना हमारे लिए बुद्ध-धर्म की वास्तवता को अनुप्राणित करते हैं।" इसी प्रकार एक अन्य ध्यानी सन्त का कहना है "मर्मर ध्वनि करती हुई पर्वतीय निर्झरिणी ही बुद्ध की विस्तृत, लम्बी जिह्वा है। नित्य नवीन रंगों को धारण करने वाला पर्वत ही क्या बुद्ध का विशुद्ध शरीर नहीं है?' एक बार एक भिक्षु मैधा नामक एक जापानी ध्यानी सन्त के पास गया और उसने उनसे पूछा कि सत्य के मार्ग का द्वार कहाँ है? मैधा ने उससे पूछा, "क्या तुम उस झरने की मर्मर ध्वनि सुनते हो?" "हाँ, मैं सुनता हूँ।" "तो प्रवेश यहीं है।' एक अन्य ध्यानी सन्त ने मन्दिर के दरवाजे के पास पड़े एक पत्थर के टुकड़े को लक्ष्य करते हुए कहा था "इसमें अतीत वर्तमान और भविष्य के सब बुद्धों का निवास है।" इसी प्रकार एक अन्य ध्यानी सन्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसने एक बार आड़ू के फलते-फूलते पेड़ों को देखकर ही क्षण में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली थी। प्रकृति के माध्यम से ही ध्यानी सन्त सत्य का साक्षात्कार करते हैं और उनके आश्रम अधिकतर प्राकृतिक वातावरण में ही स्थित होते हैं। गरीबी के आनन्द के सम्बन्ध में तो अनेक ध्यानी सन्तों ने बड़े अनुभवपूर्ण और मनोरंजक उद्गार किये हैं। एक भिक्षु का प्रकरण याद आता है, जिसने ऊँचे पर्वत पर स्थित अपनी एकान्त झोंपड़ी का वर्णन करते हुए कहा है कि किस प्रकार वह बादल के साथ उस झोंपड़ी में अकेला रह रहा है

पर्वत की चोटी पर एक एकान्त झोंपड़ी हजारों दूसरी
चोटियों पर मीनार की तरह खड़ी हुई,
इस झोंपड़ी के आधे भाग में एक वृद्ध भिक्षु रह
रहा है और दूसरे आधे भाग में एक बादल !

नवीं शताब्दी के एक ध्यानी सन्त ने भी जिसका नाम रैंपू था अकिंचनता के रूप में शून्यता का एक गीत गाया है, जो इस प्रकार है

वृद्ध रैंपू को इस संसार में कोई आवश्यकता नहीं,
सब कुछ उसके लिये शून्य है एक आसन भी उसके पास नहीं है।
निरपेक्ष शून्यता का उसके घर में आसन है !

जब सूर्य उगता है तो शून्यता में ही वह घूमता है।
जब सूर्य छिपता है तो वह शून्यता में सो जाता है।
शून्यता में बैठकर वह अपने शून्य गीत गाता है
और उसके शून्य गीत शून्यता में प्रतिध्वनित होते हैं।
शून्य की इस शून्यता पर आश्चर्य मत करो
क्योंकि शून्यता ही सब बुद्धों का आसन है।
यदि तुम कहो कि शून्यता नहीं है
तो तुम बुद्धों के प्रति गम्भीर अपराध करते हो।

ध्यान सम्प्रदाय तीव्र जिज्ञासा पर आधारित ध्यान-योग है परन्तु हमारे लिए एक बहुत महत्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध में लक्ष्य करने की यह है कि अनेक ध्यान-योगी सत्य के साक्षात्कारार्थ और बौद्ध जीवन के पूरे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बुद्ध के नाम का जप करते हैं। इसे वे ध्यान-सम्प्रदाय के लक्ष्य की प्राप्ति का एक प्रभावशाली साधन मानते हैं। अमिताभ बुद्ध के नाम का जप वैसे एक अन्य बौद्ध सम्प्रदाय की साधना का केन्द्र बिन्दु है जिसका नाम सुखावती-सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय चीन और जापान में बहुत लोक-प्रिय हुआ और इन देशों में बौद्ध धर्म का जो लोक-धर्म के रूप में प्रसार हुआ उसका यही सम्प्रदाय प्रतिनिधित्व करता है। बौद्ध धर्म में भक्ति का विकास और उसमें नाम-जप या नाम-साधना का स्थान ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं कि यहां संक्षेप में उनका निरूपण नहीं किया जा सकता और अलग विचार की अपेक्षा रखते हैं। होनेन् और शिनरैन् जैसे महात्मा जो बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में जापान में हुए नाम-जप के एकनिष्ठ साधक थे और उनका सम्बन्ध सुखावती-सम्प्रदाय से ही है। इसी प्रकार अन्य अनेक उच्च कोटि के साधक महात्मा इस सम्प्रदाय के चीन और जापान में हुए हैं। चीन में अभी अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में सेंग्-यु ए और कु-युन् नामक साधक भिक्षु हुए हैं जिनका जीवन अमिताभ के नाम-जप से ओतप्रोत था। इनमें से पहले ने 'अमिताभ बुद्ध-नाम-जप-गाथा' पुस्तक लिखी है और दूसरे ने 'अमिताभ-नाम जप के महत्व पूर्ण शब्द' और 'अमिताभ नाम-जप के चार तात्त्विक उपदेश'। हमारी अपनी भक्ति-साधना की दृष्टि से हमारे लिए सुखावती-सम्प्रदाय में गृहीत और साधित नाम-जप के स्वरूप को जानना बहुत आवश्यक होगा और यह बहुत महत्वपूर्ण विषय भी है परन्तु जैसा हम अभी कह चुके हैं यह एक स्वतन्त्र विषय है और अलग से ही इसका निरूपण किया जा सकता है। सुखावती-

सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है "नम अमितबुद्धाय" (जापानी भाषा में "नमु अमिदा बुत्सु") जिसका लाखों की संख्या में नित्य जप करना सुखावती-सम्प्रदाय के साधक अपना एकमात्र कर्तव्य समझते हैं और गोस्वामी तुलसीदास जी के राम-नाम जप के समान उनका भी इस मन्त्र के सम्बन्ध में यह विश्वास है कि जिसने इस मन्त्र को "भाय कुभाय अनख आलस हू" जपा है, "ताको भलो कठिन कलि कालहुँ आदि मध्य परिनामो" (एक प्रकार के कलि-युग में जापानी बौद्ध भी विश्वास करते हैं अर्थात् नैतिक ह्रास के युग में जिसमें बिलकुल हमारे भक्तों के अनुसार उनका भी विश्वास है कि योग ज्ञान आदि की साधना सम्भव नहीं है और केवल नाम-जप—अमिताभ बुद्ध का नाम-जप—ही एकमात्र साधन है) और 'नाम जपत भव-सिन्धु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मन माहीं।" इस प्रकार नाम-जप बौद्ध साधना में नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए और सत्य के साक्षात्कार के लिए एक प्रभावशाली साधन—समाधि के आलम्बन—के रूप में स्वीकृत है और महायान के आदि से ही सम्भवतः यह (नाम-जप की) साधना भारत में प्रचलित थी। चीन में हमें इस साधना के प्रचलित होने के साक्ष्य पाँचवीं शताब्दी ईसवी में मिलते हैं जबकि हुइ-युआन् नामक भिक्षु ने वहाँ 'पुण्डरीक समाज' की स्थापना की। बाद में पन्द्रहवीं शताब्दी से तो नाम-जप की साधना बौद्ध धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदायों में चीन और जापान में प्रचलित हो गई। जहाँ तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है दसवीं शताब्दी में चीन में ह्वे यंग् मिंग् नामक ध्यानी भिक्षु ने ध्यान साधना में सम्मिलित किया और तब से निरन्तर ध्यानी साधक इसका अभ्यास करते रहे हैं। 'नम अमितबुद्धाय' ('नमु अमिदा बुत्सु') का जप ध्यान योगियों के लिए महत्त्वपूर्ण है और इसके द्वारा वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति ध्यान-मार्ग की अपेक्षा अधिक सरलता से कर लेते हैं ऐसा ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक साधकों का अनुभव है। अपने नाम-साधक भक्तों के साक्ष्य को देखते हुए हमें यह कहना ही पड़ता है कि नाम-जपी ध्यान-योगियों का अनुभव उनके मेल में है। 'साधु! साधु!' ऐसी ध्वनि सभी यहाँ भारतीय भक्ति-साधना की ओर से सुनाई पड़ रही है।

ध्यान-योगी किस प्रकार अपने मन पर अधिकार प्राप्त करते हैं, उसकी अवस्थाओं को दिखाते हुए ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा में (जिसकी सुगमठीस कलात्मक अभिव्यक्तियाँ महान् हैं और जिसके समान कोई चीज हमें अपनी सन्त-परम्परा में नहीं मिलती) कुछ तस्वीरें प्रचलित हैं जिनका उल्लेख भी यहाँ कर देना चाहिए। ये तस्वीरें संख्या में दस हैं और इनका शीर्षक है 'बैल के चित्रण

सम्बन्धी दस तस्वीरें। बैल यहाँ मन का प्रतीक है। मन के लिए बैल के प्रतीक का प्रयोग गुरु गोरखनाथ ने भी किया है और कबीर ने भी, जिसके सम्बन्ध में हम आगे छठे अध्याय में कुछ कहेंगे। बैल के चित्रण सम्बन्धी दस तस्वीरों के चार संस्करण जापान में प्रचलित हैं, (१) ककु-आन्-कृत (२) सेक्यो-कृत (३) जितोकु-कृत और (४) एक अज्ञात चित्रकार द्वारा चित्रित। ककु-आन् सुंग्-काल (११६० १२७८ ई०) के एक जापानी ध्यानी सन्त थे। उनके द्वारा चित्रित दस तस्वीरें अपने मूल रूप में आज भी क्योतो के शो-को-कु-जी मन्दिर में पाई जाती हैं। उनके शीर्षक हैं—(१) *बैल की तलाश में* (२) *चिह्नों को देखना* (३) बैल को देखना (४) बैल को पकड़ना (५) बैल के नकेल डालना (६) बैल की पीठ पर बैठकर घर आना (७) बैल की याद नहीं रही, आदमी अकेला रह गया (८) बैल और आदमी दोनों गायब (९) मूल की ओर लौटना उद्गम की ओर वापस आना और (१०) आनन्द की शरद मुद्रा में नगर में प्रवेश। इन दस तस्वीरों के द्वारा ककु-आन् ने ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार मन के संयम की अवस्थाओं के चित्रण के द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को दिखाया है। सेक्यो सम्भवतः ककु आन के या तो समकालिक थे या कुछ पूर्ववर्ती और उन्होंने इन पाँच या छह तस्वीरें इसी विषय पर दीं जो दुर्भाग्यवश अब प्राप्त नहीं हैं और नष्ट हो गई हैं। जितोकु ने छह तस्वीरें इसी विषय पर चित्रित की हैं और आज भी प्राप्य हैं। अज्ञात चित्रकार चीन के थे और उनके द्वारा चित्रित तस्वीरें भी दस हैं। उनके शीर्षक इस प्रकार हैं (१) अ-संयमित (२) संयम का आरम्भ (३) बन्धन में डाल लिया (४) मोड़ कर सामने किया, (५) पालतू बनाया (६) निर्विघ्न (७) यथेच्छकारिता (८) सब कुछ भूल गया (९) एकाकी चाँद और (१०) दोनों गायब। ध्यानी कवियों ने उपर्युक्त तस्वीरों के संस्करणों की व्याख्या स्वरूप कविताएं भी लिखी हैं। हम यहां विस्तार भय से इन सब संस्करणों के चित्र नहीं दे सकते, परन्तु इनमें सरलतम केवल रेखाओं में बद्ध और कुछ अजीब-सी अभिव्यक्ति लिये हुए उन दस तस्वीरों को देंगे जो किसी अज्ञात चीनी ध्यानी चित्रकार ने खींची हैं और चीन और जापान में प्रचलित हैं। वे इस प्रकार हैं



१ अ-संयमित

अपने सींगों को भयंकर रूप से हवा में उठाये हुए पशु हाँफता हुआ दौड़ रहा है
पर्वतीय मार्गों में मदमस्त दौड़ता हुआ वह दूर से दूर चला जाता है,
घाटी के प्रवेश-द्वार के उस पार एक काला बादल छाया है
कौन जानता है कि कितनी बढ़िया और ताजी जड़ी-बूटियों को इस जानवर ने अपने जंगली खुरों के नीचे कुचल डाला है !



२ संयम का आरम्भ

मेरे पास तिनकों की बनी एक रस्सी है और इसे मैं उसके नथुनों में होकर डाल देता हूं

एक बार उसने भागने का उन्मत्त प्रयत्न किया नहीं कि बस उस पर सख्ती से कोड़े पर कोड़े बरसते हैं

अंधनी और अशासित प्रकृति में जितनी भी शक्ति है, उससे वह नियंत्रण का प्रतिरोध करता है

परन्तु देहाती रखवाला भी अपनी कस कर पकड़ी हुई रस्सी को कभी ढीली नहीं करता और अपने कोड़े को भी सदा तैयार रखता है।



१ बन्धन में डाल लिया

क्रमश: बन्धन में डाल लिया गया पशु अब नाक से घसीट लिए जाने में सन्तुष्ट है,
नदी को पार करते हुए या पर्वतीय मार्ग में चलते हुए वह अपने रखवाले के प्रत्येक पग का अनुसरण करता है,
परन्तु रखवाला उसकी रस्सी को अभी तक अपने हाथ में कस कर पकड़े हुए है और कभी उसे छोड़ता नहीं,
थकावट की कुछ भी पर्वाह न करते हुए वह सारे दिन चौकस रहता है।



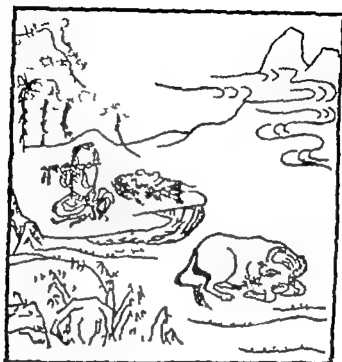
४ मोड़कर सामने किया

अनेक दिनों के लम्बे प्रशिक्षण के बाद नतीजा मालूम पड़ने लगता है और
पशु को मोड़कर सामने कर लिया गया है,
जंगली और अन्-शासित प्रकृति अन्त में शिक्षित कर ली जाती है
अब जानवर सीधा हो गया है।
परन्तु अभी रखवाले ने उसमें पूरा विश्वास नहीं किया,
तिनकों की रस्सी को वह अभी पकड़े हुए है और उसने अपने बैल को पेड़
में बांध दिया है।



२ पालतू बनाया

हरे बेंत के पेड़ के नीचे और पुरातन पर्वतीय नदी के किनारे,
अब बैल को स्वतन्त्र रूप से छोड़ दिया गया है वह अपनी इच्छानुसार
दूब भी चरे
सन्ध्या के समय जब [illegible] कोहरा चरागाह पर आ जाता है,
तो बालक (रखवाला) अपने घर की ओर चल देता है और बैल धीरे-धीरे
उसका अनुसरण करता है।



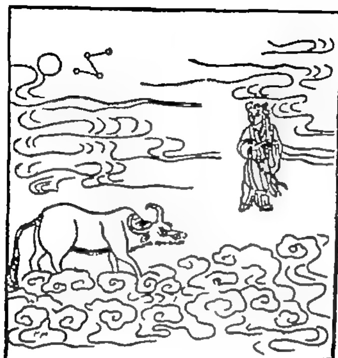
१ निर्विघ्न

हरे खेत में पशु सन्तोषपूर्वक लेटा हुआ है, अपने समय को आराम के साथ गुजारते हुए,
अब किसी कोड़े की आवश्यकता नहीं रही, किसी नियन्त्रण की जरूरत नहीं रही
लड़का (चरवाहा) भी चीड़ के पेड़ के नीचे बेफिक्री से बैठ जाता है,
शान्तिपूर्वक बाँसुरी बजाते हुए, आनन्द से परिपूरित !



• यथेच्छकारिता

बसन्त ऋतु में नदी सन्ध्या के प्रकाश में धीमी धीमी बहती है और उसके
किनारे बेंत के पेड़ों की पत्तियाँ फैली हैं,
धुंधले वातावरण में चरागाह की घास और नमी नजर आती है,
जब भूख लगती है तो बैल घास खा लेता है, जब प्यासा होता है तो
पानी पी लेता है,
समय मजे में गुजरता है
रखवाला घंटों तक चट्टान पर बैठा ऊँघता रहता है और उसे कुछ
पता नहीं कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है।



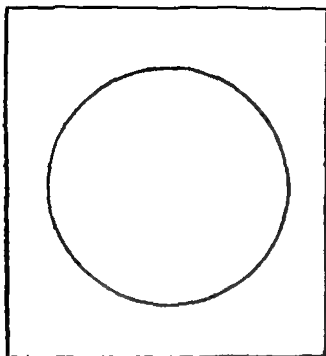
८. सब कुछ भूल गया!

अब पशु पूरी तरह सफेद रंग का हो गया है उसके ऊपर सफेद बादल छाये हैं
आदमी पूरी तरह आराम में है और बिलकुल निश्चिन्त।
चाँदनी से छिपे बादल अपनी सफेद छाया नीचे डाल रहे हैं,
सफेद बादल और चमकती चाँदनी—दोनों अपने गमन-मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं!



६ एकाकी भाव !

अब पशु नहीं रहा, रस्सीवाला अपने आपका स्वामी है,
वह उस एकाकी सारस के समान है, जो पर्वत की चोटियों पर धीमी गति से संचरण करता है,
हाथों से तालियाँ बजाता हुआ वह घाटी में आनन्दपूर्वक गाता है,
परन्तु याद रखो कि अभी एक आखिरी दीवार उसके घर के मार्ग को रोके हुए है।



१० दोनों गायब!

आदमी और पशु दोनों गायब हैं उनके कोई चिह्न बाकी नहीं रहे
चमकती चाँदनी सूनी और परछाईं रहित है
फिर भी अनन्त वस्तुएं उसमें निहित हैं,
यदि कोई इसके अर्थ को पूछे,
तो खेत में हरी कुमुदिनियों को देखो और इसकी ताजी सुगन्धित हरियाली को!

इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के साधना-क्रम में मन और व्यक्ति दोनों अन्त में शून्य में विलीन हो जाते हैं। परन्तु कुओ-आन् द्वारा संकलित चित्रावली में दसवीं तस्वीर का शीर्षक 'आनन्द की वरद मुद्रा में नगर में प्रवेश' दिया गया है और उसके नीचे जो कविता दी गई है, वह इस प्रकार है "नंगी छाती और

नंगे पैर वह बाजार में आता है। कीचड़ और राख में लिपटा, वह कितना विस्तृत रूप से (मुँह चौड़ा कर) मुस्कराता है। देवताओं की विभूति-शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं, देखो, वह छूता है और सूखे हुए पेड़ों में बहार आ जाती है।" यह आनन्दवाद की अभिव्यक्ति निश्चयतः शून्यवाद से मानव-मन को अधिक आकर्षित करती है। हैं वास्तव में दोनों ही एक!

ध्यान-सम्प्रदाय की शिक्षा-पद्धति में 'को-आन्' का बड़ा महत्त्व है। 'को-आन्' एक प्रकार की समस्या होती है जिसे गुरु शिष्य को सुलझाने के लिये देता है। उदाहरणतः 'दो हाथों को आपस में मिलाने पर शब्द होता है, एक हाथ का शब्द क्या है?' यह एक 'को-आन्' है। इसी प्रकार 'इसे नाम दो' यह भी एक 'को-आन्' है। 'जब तुम्हारी लाश जला दी जाय और राख चारों ओर बखेर दी जाय, तब तुम कहाँ हो?' यह भी एक 'को-आन्' है। ऐसे सैकड़ों 'को-आन्' ध्यान-साहित्य में भरे पड़े हैं, जो ध्यानी पुरुषों के अनुभव से निकले हुए हैं और उन पर मनन करते-करते अन्तर्बोध पैदा होता है जिसे जापानी भाषा में 'सटोरी' की प्राप्ति कहते हैं। 'सटोरी' एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान ही है, सत्य का भासना या उसकी झलक भी उसे हम कह सकते हैं या साधारण मनुष्य के धरातल पर बोधि की क्षणिक प्राप्ति भी। हम जानते हैं कि बुद्ध भगवान् अपने शिष्यों को ध्यान के विषय (कर्म-स्थान) दिया करते थे जिन पर चिन्तन और मनन करते हुए उनकी चेतना पर सत्य का अवतरण होता था। आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग (तृतीय परिच्छेद) में चालीस कर्मस्थानों का उल्लेख किया है। परन्तु इनकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती और बहुत अधिक हो सकती है। स्वयं बुद्ध भगवान् ने अनेक भिक्षु और भिक्षुणियों को अवसर और पात्रता के अनुकूल ध्यान के विषय दिये, जिनका परिगणन उपर्युक्त चालीस कर्मस्थानों में नहीं है। उदाहरणतः भगवान् ने चूलपन्थक को एक बार एक कपड़े का टुकड़ा देकर उससे कहा था "अच्छा भिक्षु, इसे हाथ से मलते हुए 'धूल दूर हो जाय' 'धूल दूर हो जाय' ('रजोहरणं, रजोहरणं') इस प्रकार बार-बार पाठ करो। इस प्रकार करते-करते चूलपन्थक को ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार बाहिय दारुचीरिय से भगवान् बुद्ध ने कहा था, "देखने में केवल देखना ही चाहिए, सुनने में केवल सुनना ही चाहिए।" यह एक ध्यान-विषय ही था और इस पर मनन करके तत्क्षण ही बाहिय दारुचीरिय ने ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी प्रकार 'थेरीगाथा' में हम पढ़ते हैं कि बुद्ध ने कई स्थविरियों को उपदेश दिया, जिसे ध्यान का विषय बनाकर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। बुद्ध के द्वारा दिये गये कर्म-स्थान (ध्यान-विषय) बहुत सरल होते थे, [illegible]

और जापानी प्रतिभा के अनुकूल कौ-आनों का विकास हुआ है। और जो 'सटोरी' की विधि है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करते भी हम बुद्ध के अनेक शिष्यों को देखते हैं। एक ध्यानी सन्त (चीनी महात्मा तुंग-शान्—८०७-८६९ ई०) को नदी पार करते हुए अपनी परछांईं को पानी में देखकर ज्ञान पैदा हुआ था। यह अनुभव कितना समान है उस स्थविर (वीतशोक) के अनुभव से जिसने एक बार नाई के दर्पण में अपना चेहरा देखकर ज्ञान प्राप्त कर लिया था। एक बुद्धकालीन भिक्षुणी (पटाचारा) के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि वह दीपक की बत्ती को तेल में डुबो रही थी कि अचानक दीपक के बुझ जाने पर उसे अपने चित्त की विमुक्ति का अनुभव हुआ था। इसी प्रकार के अनुभव 'ध्यानी' सन्यासियों को भी होते हैं। यह अनुभव जापानी भाषा में 'सटोरी' कहा जाता है और इसे ध्यान के अभ्यास करने वाले कहीं भी प्राप्त कर सकते हैं। जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के मन्दिरों में प्रायः सोलह अर्हतों की मूर्तियां रहती हैं, जिन्होंने 'सटोरी' अनुभव प्राप्त किये थे। इनमें अर्हत् भद्रपाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्हें स्नान करते समय 'सटोरी' अनुभव हुआ था। 'ध्यानी' भिक्षु नहाते समय अक्सर इस अर्हत् की स्मृति करते हैं। कामाकुरा के ऐंगाकु-जी नामक ध्यान-मन्दिर में (निर्माण-काल १२८२ ई०) इस अर्हत् की एक मूर्ति है जो जापान की राष्ट्रीय निधि मानी जाती है।

अब हम ध्यान-सम्प्रदाय की गम्भीर अन्तःसाधना से कुछ नीचे उतर कर उसके एक सामाजिक, हल्के पक्ष पर आते हैं जिसका भी अनुष्ठान या व्यवहार ध्यानी साधक करते हैं। वस्तुतः ध्यान-साधना में भारी या हल्के का भेद ही नहीं है। उसके लिए जीवन का प्रत्येक व्यापार और प्रत्येक क्रिया गम्भीर से गम्भीर भी है और साथ ही एक बड़ा मजाक भी। यही कारण है कि एक ओर गम्भीर ध्यान की साधना है और दूसरी ओर चाय-पान का अनुष्ठान जिसे जापानी भाषा में 'चा-नो-यु' कहा जाता है। यह कोई विनोदपूर्ण क्रिया नहीं है और न कोरा उपचार ही। चाय घनिष्ठ रूप से 'ध्यान' के साथ सम्बद्ध है। एक ध्यानी साधक ने तो यहां तक कहा है कि चाय का स्वाद और ध्यान का स्वाद एक समान है। तत्काल प्रभाव दिखाने वाले! वह ज्ञान ही क्या जिसका 'युगपद्' अनुभव न हो? इसीलिये चाय के साथ 'ध्यान'-अनुभव की समानता है। प्रत्येक ध्यान-विहार या ध्यान-चैत्य के अहाते में एक अलग कायम की बनी झोंपड़ी या कोठरी होती है जिसे 'शून्यता-कक्ष' कहा जाता है। यहीं चाय बनाई जाती है और बड़ी सादगी और उपचार के साथ परोसी जाती है। तत्पश्चात् ध्यान किया जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय में कोई कर्मकाण्ड नहीं

है परन्तु यदि कोई कर्मकाण्ड है तो यह चाय की रस्म ही है और इसने जापानी संस्कृति में अपना एक अलग स्थान बना लिया है और उसकी सौन्दर्य भावना और कला-प्रियता में वृद्धि की है। चाय और 'ध्यान' का प्रकरण बड़ा मनोरंजक और विस्तृत है परन्तु यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही कुछ कहा जा सकता है। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास के आरम्भ से ही चाय-संस्कार की प्रथा चीन और जापान में प्रचलित रही है। यहाँ तक कि चाय की पत्ती की उत्पत्ति तक का सम्बन्ध बोधिधर्म के जीवन से एक कल्पित गाथा द्वारा जोड़ दिया गया है। कहा गया है कि एक बार बोधिधर्म ध्यान में लीन थे। अचानक उनकी आँखों में झपकी लग गई। तत्काल उस उग्र ध्यान-योगी ने या कि कहिये हठयोगी ने अपने पलकों को काटकर धरती पर गिरा दिया। वही चाय की पत्तियाँ बनकर उगे। यही कारण है कि आज भी जो उन्हें पीता है, उसकी आँखों में झपकी नहीं लगती और वह देर तक ध्यान कर सकता है तथा उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है। इस कथा में ऐतिहासिक सत्य तो क्या हो सकता है, परन्तु यह ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है कि चाय का आविष्कार बौद्ध भिक्षुओं ने पहली-दूसरी शताब्दी ईसवी में दक्षिणी चीन में किया था। आठवीं शताब्दी ईसवी में यह उत्तरी चीन में पहुँची और उसी समय तिब्बत में। जापान में सन् १२०० ई० में एक बौद्ध भिक्षु ने ही इसे प्रचारित किया। सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी के एक 'ध्यानी' कवि ने 'चा किङ्' ('चाय-शास्त्र') नामक एक पुस्तक लिखी है जिसमें उसने चाय के दर्शन और कर्मकाण्ड का पूरा विवेचन किया है। प्रायः इसी समय के एक अन्य 'ध्यानी' कवि ने चाय-पान के सम्बन्ध में अपने अनुभव को इस प्रकार से वर्णन किया है "पहला प्याला मेरे होठों और गले में नमी लाता है। दूसरा प्याला मेरे एकाकीपन को दूर कर देता है। तीसरा प्याला मेरी गहरी अन्तर्दशा की खोज करने लगता है। ...चौथे प्याले से थोड़ा पसीना आता है, जीवन का सारा मल मेरे रोम-कूपों से होकर बाहर निकल जाता है। पाँचवें प्याले पर मैं निर्मल हो जाता हूँ छठा प्याला मुझे अमरों के लोक का बुलावा देता है। सातवाँ प्याला—अरे है कि मैं अधिक नहीं ले सकता। केवल शीतल मन्द पवन की मैं अनुभूति करता हूँ जो मेरी आस्तीनों में उठती है। स्वर्ग कहाँ है? क्यों न मैं इस मधुर वायु के इस झोंके पर चढ़कर वहाँ पहुँच जाऊँ!" कुछ विवेचकों ने ध्यान-सम्प्रदाय के इस चाय-अनुष्ठान में ताओ-वाद के साथ उसके समन्वय को देखा है और कुछ ने उसके सौन्दर्यशास्त्र की व्याख्या की है। कुछ भी हो चाय के साथ बौद्ध धर्म के इस सम्प्रदाय को मिलाकर उसके

संस्थापकों ने यह निश्चित कर दिया है कि जब तक मध्य और पूर्वी एशिया के लोग चाय की पत्तियों को पीते हैं तब तक 'ध्यान' के रस को भी वे इसके साथ पीते रहेंगे। इस प्रकार के उपाय-कौशल्य का परिचय बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने अन्यत्र भी विदेशों में दिया है और इस प्रकार बौद्ध धर्म के विदेशी रूप को हटा कर उन्होंने उसे वहां की जनता का अपना धर्म बना दिया है।

जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के अनेक विहार और चैत्य हैं जिनमें से कुछ को तो महान् ऐतिहासिक महत्त्व ही प्राप्त है। क्योतो के म्योशिन्-जी और शेकुग्योन्-जी तथा कामाकुरा के ऐंगाकु-जी और केन्शो-जी जैसे ध्यान-मन्दिर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों के बने हुए हैं। अन्य भी अनेक ऐतिहासिक ध्यान मन्दिर हैं। यहां भिक्षुओं का जीवन अत्यन्त व्यवस्थित रूप से संचालित होता है और ध्यान का नियमित अभ्यास किया जाता है। यहां विद्यार्थियों को शिक्षित किया जाता है, साथ ही शारीरिक श्रम भी उन्हें करना होता है और समाज सेवा का भी प्रशिक्षण मिलता है। प्रत्येक ध्यान मन्दिर में एक अलग ध्यान भवन होता है जिसे 'जेन्दो' कहा जाता है। बाग और उपवन भी इन ध्यान मन्दिरों में होते हैं। साधारण जनता यहां आती है और शाक्यमुनि की मूर्ति के सामने बैठकर ध्यान (ज़-ज़ेन) करती है। उसे अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करने के लिए मानसिक शान्ति और स्वस्थता यहां मिलती है। औद्योगिक जीवन का भार हल्का होता है। इस प्रकार उच्च साधकों और साधारण लोक-समाज दोनों की आध्यात्मिक शिक्षा और मानसिक शान्ति के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान ध्यान-सम्प्रदाय अपने जीवन्त रूप में आज जापान में दे रहा है।

पाँचवाँ परिच्छेद

तत्त्वज्ञान

एक प्रसिद्ध ध्यानी सन्त और विचारक ने कहा है, 'ध्यान का अनुशीलन करने से पूर्व किसी भी मनुष्य के लिए पर्वत पर्वत हैं और पानी पानी। परन्तु जब वह किसी योग्य गुरु से शिक्षा प्राप्त कर ध्यान के सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है तो उसके लिए पर्वत पर्वत नहीं रहते और न पानी पानी। परन्तु इसके बाद भी जब वह वास्तविक रूप से विश्राम में निवास प्राप्त करता है तो उसके लिए फिर एक बार पर्वत पर्वत हो जाते हैं और पानी पानी।" ध्यान-सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान की परिस्थिति का इसे हम पूरा वक्तव्य मान सकते हैं। संसार और परमार्थ में ज्ञानी के लिए कोई अन्तर नहीं है और न बन्धन और मोक्ष में ही। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों समान हैं। यही परम ज्ञान है।

हम जानते हैं कि नागार्जुन के शून्यतावादी दर्शन के निष्कर्ष भी यही हैं। 'माध्यमिक-कारिका' में उन्होंने स्मरणीय शब्दों में कहा है, "निर्वाणस्य च या कोटि: कोटि: संसरणस्य च। न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।" अर्थात् "निर्वाण की जो कोटि है वही संसार की कोटि है। इन दोनों में थोड़ा भी सूक्ष्म अन्तर नहीं है।" सांवृतिक दृष्टि से जो आवागमन रूपी संसार है वही पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण है। अभेद का यह दर्शन जिसे हो गया है उसके लिए भव-सागर सूख गया है फिर जन्म-मरण की समस्या हल हो गई है। ऐसे पुरुष के लिए न तो फिर ऐसी कोई वस्तु ही रह जाती है जिसका वह ग्रहण कर सके और वह जानता है कि कोई ग्रहण करने वाला भी नहीं है। चित्त अपने आप शान्त हो जाता है। जो सत् था वह असत् हो जाता है, जो असत् था वह सत् हो जाता है। प्रज्ञा ज्ञान की यह स्थिति जो शून्यता-रूप है ध्यान-सम्प्रदाय की अपनी है, परन्तु इस पर वह कल्पना या दार्शनिक ऊहापोह के द्वारा नहीं पहुँचता, बल्कि स्वाभाविक रूप से प्रज्ञा-ज्ञान के द्वारा ही इसका अधिगम उसे होता है और उसका प्रयोग वह अनायास रूप से अपने साधारण दैनिक जीवन में करता है। ध्यानी साधक का मन किसी भी प्रकार के द्वन्द्व में सम-विषम में, सुख-दुःख में, लाभ-हानि में, भले-बुरे में फँस सके यह सम्भव नहीं है।

साधना और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तीन प्रकार की विचारणाएं हमें क्रमिक रूप से बौद्ध धर्म के विकास में मिलती हैं। पहली विचारणा जो स्थविरवाद या मूल बुद्ध-धर्म की है इस भव को क्लेश के रूप में देखती है। इस विचारणा के अनुसार साधक भव में क्लेश अनुभव करता है उसमें निर्वेद प्राप्त करता है तीव्र आध्यात्मिक पुरुषार्थ करता है और भव के निरोध-स्वरूप निर्वाण का साक्षात्कार करता है। इसके बाद दूसरी विचारणा महायान के प्रारम्भिक विकास में आती है। इसके अनुसार साधक भव से आवागमन से भिन्न नहीं होता बल्कि उसमें रहते हुए और उसके क्लेशों को अनुभव करते हुए अपने मन की साधना करता है और प्राणि-सेवा आदि करते हुए अपने विकारों को बोधि के रूप में परिवर्तित कर देता है। उत्तरकालीन महायान के विकास में इससे आगे बढ़कर यह तीसरी विचारणा आती है कि चित्त के संस्कारों को नष्ट कर देने से बोधि नहीं मिलती बल्कि उसका उपाय है मनुष्य की शान्त चेतना का अनन्त बुद्ध-चित्त या बुद्ध-स्वभाव के साथ सीधा अभेद और अद्वैत साक्षात्कार कर लेना। यह अन्तिम विचारणा ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्त्वज्ञान से मल खाती है और ऐसा कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त की साधना भी इसके बहुत समीप है। अनन्त बुद्ध-चित्त या बुद्ध-स्वभाव (जिसे मूल मन एक मन मन का सार निरपेक्ष अपरिच्छिन्न मन या तथता भी कहा गया है) और विश्वात्मा या परमात्मा कहने भर को असम-असम हैं। वैसे तो अद्वय-ज्ञान में विश्व की सम्पूर्ण विचारणाएं ही परिसमाप्त हो जाती हैं, परन्तु जैसा हम आगे (छठे परिच्छेद में) देखेंगे ध्यान-सम्प्रदाय की अद्वय-निष्ठा वेदान्त की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र और पूर्ण है उसमें प्राणों की शक्ति भी अधिक है और जीवन और समाज से वह अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध भी है।

ध्यान-सम्प्रदाय (और सामान्यतः महायान) यह मानता है कि प्रत्येक प्राणी के अन्दर बुद्धता या बुद्ध-स्वभाव विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी अपने मौलिक स्वभाव में बुद्ध है। यह बुद्धता या बुद्ध-स्वभाव जो प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है क्या है? चीनी 'महापरिनिर्वाण-सूत्र' में कहा गया है कि सब प्राणियों के अन्दर एक ऐसी वस्तु विद्यमान है जो सत्य है वास्तविक है शाश्वत है अपनी ही शक्ति वाली है और सदा अ-विकारी अ-परिवर्तित है। नित्यत्व आनन्द और विशुद्धि (विशुद्धि अर्थात् कार्यकारण-भाव और सत् असत् से अतीत होना) इसके लक्षण हैं। परन्तु साथ ही इसे अन्य दर्शनों में

प्राप्त 'आत्मा' के विचार से भिन्न बताया गया है।[1] इस शुद्धता या बुद्ध-स्वभाव को साक्षात्कार करना ही ध्यान-सम्प्रदाय का लक्ष्य है। इसे ही बुद्ध होना कहा गया है।

ज्ञानी पुरुष के लिए, ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार, यह वस्तु-जगत् असत्य है, अभास है माया है आकाश-पुष्प के समान है। ज्ञानी इसे अपनी प्रज्ञा से इस रूप में देखता है। बुद्ध की प्रज्ञापारमिता भी यही है। सत् और असत् के एक ओर अनेक के रूप और अरूप के संसार और निर्वाण के विद्या और अविद्या के, अच्छे और बुरे के, पवित्र और अपवित्र के, आत्मा और अनात्मा के जितने भी द्वैत के रूप हैं जिनका कोई अन्त नहीं है, उन सबको अतिक्रमण करना ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार वास्तविक ज्ञान है। जब तक हम इन द्वन्द्वों के संसार में हैं, सापेक्षता के जाल में फंसे हैं, हमारे लिए कुछ भी सत्य नहीं है और न हम अपने दुःखों का अन्त ही कर सकते हैं। इसलिये हमें निरपेक्ष सत्यता को साक्षात्कार करने का यत्न करना है। ध्यान-सम्प्रदाय का यह आश्वासन है कि यह सत्यता सर्वथा विविक्त धर्म नहीं है, बिल्कुल अलग और हमसे एकान्त नहीं है। यह वह अतीत है जो हमारे अन्दर भी है। लंका-वतार-सूत्र में इसे जल में चन्द्रमा या दर्पण के अन्दर पुष्प के समान बताया गया है।[2] यह अन्दर है, फिर भी बाहर है। यह बाहर है फिर भी अन्दर है। सत्यता के इस अनुभव को लंकावतार-सूत्र अनुपलब्ध बतलाता है क्योंकि इस नानात्मक वस्तु-जगत् में इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती और इसीलिये यह सापेक्ष वस्तु-जगत् एक स्वप्न है माया-मरीचिका है। मूलभ सत्यता के साथ जगत् का सम्बन्ध वर्णनातीत है, शब्दों में कहना मुश्किल है परन्तु यह अपने रहस्यों को उस व्यक्ति के समक्ष प्रकट कर देता है जिसने

---

१ परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। नित्य, आनन्द और विशुद्धि लक्षणों वाले बुद्ध-स्वभाव को वेदान्तिक आत्मा से किस प्रकार भिन्न करना होगा?

२ मिलाइये 'मन में चन्द्र झलकै।' कबीर। एक बार पहले भ्रम (लीमर वर्रेन्डर में) इसे कबीर के इस वचन की याद आई थी जब हमने शु-पु-चिया स-हिए द्वारा यह कहते सुना था 'एक ही चन्द्रमा सब जलों में पाया जाता है जहाँ कहीं भी जल का विस्तार है और जल के अन्दर के सब चन्द्रमा एक ही चन्द्रमा में समाविष्ट हैं।' अवतंसकीय देशन में विशेषतः उसके ग्रन्थ 'संक्षेप शारीरक में प्रतिबिम्बवाद' का विवेचन है जिसके अनुसार ब्रह्म नित्य है और यह जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। लंकावतार-सूत्र शंकर से भी पूर्व का ग्रन्थ है और यह सम्भव नहीं है कि कबीर ने 'संक्षेप शारीरक' को पढ़ा हो। यह प्रतिबिम्बवाद तो उन्हें स्वानुभव से मिला या लंकावतार-सूत्र की अलिखित परम्परा से।

आर्यज्ञान या आर्यप्रज्ञा के द्वारा उसे पाने का प्रयत्न किया है और वह भी इसे केवल स्वानुभव से ही समझ सकता है। सत्य जगत् की द्वैतपरक व्याख्या में नहीं मिल सकता वह सत् और असत् की सभी कोटियों से अतीत है यह विचार ध्यान-सम्प्रदाय में जगह-जगह आता है और उसकी तात्त्विक परिस्थिति का केन्द्र बिन्दु है।

परम सत्य ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार, एक ऐसी वस्तु है जिसकी आरम्भ से ही सदा सत्ता रही है। लंकावतार-सूत्र में इसे 'पूर्वधर्म स्थितिता' या 'पौराणस्थितिधर्मता' कहकर पुकारा गया है। यह 'धर्मस्थिति' या 'स्थितिधर्मता' आदि काल से है, बिलकुल आरम्भ से है। यह परिवर्तन या विकार से अतीत है। ध्यान-सम्प्रदाय कहता है कि यही हमारा आदिम मूल मुकाम है। जैसे खान में सोना रहता है, वैसे ही सब कुछ यहां विद्यमान है। चूंकि यह हमारा आदिम, मूल निवास है, इसलिये यहां पहुंचना ही वास्तव में 'स्वस्थ' होना है अपने में स्थित होना है। यहां पहुंच जाने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में ही यह कहा जा सकता है कि "वह अपने स्थान में ठहरा हुआ है।" "स्वस्थानेऽवतिष्ठते"। ध्यान-सम्प्रदाय हमें यहीं पहुंचाना चाहता है, यही उसका गन्तव्य है। जब हम अपने मूल घर को पहुंचते हैं तो हमें कितनी खुशी होती है और चारों ओर की प्रत्येक वस्तु कितनी चिरपरिचित प्रतीत होती है। परम सत्य का अनुभव भी इसी प्रकार का उल्लासमय होता है। अपने मूल घर पर पहुंच जाना और वहां जाकर विश्राम करना—यही ध्यान सम्प्रदाय का अन्तिम ध्येय है। तृतीय धर्मनायक (सेंग्-त्सन्) ने कितनी सच्चाई और स्वानुभूति के साथ कहा है—

जब भूततथता के गहरे रहस्य को थाह ले ली जाती है
तो बाहरी बन्धनों को हम एक दम भूल जाते हैं।
जब दस हजार वस्तुएं अपने सहज रूप में देख ली जाती हैं
तो हम अपने मूल उद्गम पर लौट आते हैं
और वहां निवास करते हैं जहां हम सदा से हैं।"

यह कितना आश्चर्यजनक है कि तात्त्विक परिस्थिति और अभिव्यक्ति में कुछ भेद होते हुए भी पातंजल योग-सूत्र में इसी प्रकार समाधि की अवस्था में आत्मा या चितिशक्ति के स्व-रूप में स्थित होने की अवस्था वर्णित की गई है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।" कबीर साहब ने अपने अन्दर विचार करते-

करते मन्त में जहाँ अपना घर बनाया था, (जिसकी ओर इशारा करते हुए वे 'सच घर' कहते हैं और जिसकी तुलना में इस दुनिया को 'अपर' पर-घर या परदेश बतलाते हैं ('घर अपर') यह वास्तव में वही अपना मूल निवास जान पड़ता है जहाँ ध्यान-अनुभव के अनुसार हमें लौटना और विश्राम करना है इसे प्रपंचित करने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'जहाँ के सो तहाँ जाइ' में यह पूरी तरह स्पष्ट है। छप-कम ध्यान-वाणी है 'उत्पत्ति को वापिस मूल उद्गम को वापिस'। कबीर का 'आदि विचार' भी यही है जिसे उनके अनुसार कोई 'बिरला' ही कर सकता है। बिरला आदि विचार। और फिर कबीर और ध्यान-सम्प्रदाय के साधक ही क्या अपने आदि में शिव रूप में अपने मूल मुकाम में, तो हम सबको ही, अपने-अपने ढंग से पहुंचना है और वहां जाकर विश्राम करना है, क्योंकि वही एक जगह वास्तव में अपनी है और इस जगत् में इस परदेश में तो हम अज्ञानवश भटक कर आ गये हैं। मध्य-युगीन उड़िया कवि चैतन्यदास ने (जो बौद्ध धर्म से प्रभावित थे और जिन्होंने शून्य को ब्रह्म के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया है) शून्य को साधक का 'निज घर' बताया है। शून्य हि ताहार अटई निज घर। यह वस्तुतः 'ध्यान' वाणी ही है। उपदा, मुक्ता यही है और यही मत का सार भी है।

अब अपने मूल मुकाम, मूल उद्गम, पर पहुंचे हुए, शून्य को प्राप्त, ब्रह्म को प्राप्त व्यक्ति की क्या दशा होती है और संसार को वह किस दृष्टि से देखता है? इसे ध्यानी सन्त हेकुमिन् (११८२ १२५८ ई०) के शब्दों में इस प्रकार रखना ठीक होगा

> "यह धरती ही (उसके लिए) पुण्डरीक-लोक बन जाती है
> और यह शरीर ही बुद्ध है!"

छठा परिच्छेद

ध्यान-सम्प्रदाय और भारतीय साधना

बाह्य वस्तुओं से परावृत्त होकर मन जब अन्तर्मुख होता है और गूढ़ अन्तःसत्ता की खोजबीन करने लगता है तो यह कार्य पृथ्वी के चाहे जिस खण्ड में हो और किसी भी समय हो अपने आरम्भ विकास और परिणति में कुछ न कुछ समान नियमों का अनुसरण अवश्य करता है। कम से कम उसकी अनेक समानताएं होती हैं। बाहरी परिस्थितियां भिन्न होती हैं, समाज भिन्न होता है देश-काल भिन्न होते हैं, परन्तु मूल अनुभव एक होता है। इसीलिये आध्यात्मिक अनुभव या गूढ़भाव का कोई समाज नहीं होता भूगोल नहीं होता, इतिहास नहीं होता, विशिष्ट संस्कृति नहीं होती। आध्यात्मिक अनुभवों को समझने और उनको एक दूसरे से मिलाने में यदि इस एक बात को हम ध्यान में रक्खें तो किसी एक साधना प्रणाली पर दूसरी के ऋण को दिखाने की उतावली हम नहीं कर सकते। अनुभव पर किसी का आयत्त नहीं है। जिसके हृदय में यह होता है उसका वह है। तुलनात्मक पौर्वापर्य स्थापित करना चाहे इतिहास का काम भले ही माना जाय परन्तु उससे साधना में तिल भर भी सहायता मिल सकेगी ऐसी आशा नहीं की जा सकती। फिर भी इतिहास की हम सर्वथा उपेक्षा भी नहीं कर सकते। उसको स्वीकार करके ही और उसके योगदान को महत्वपूर्ण मानकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास देश और काल तथा कार्यकारणभाव पर टिका है। यह ठीक है कि उसका भोग अधिकतर कामना मूलक है और उसका घात प्रतिघात सब कामना-जनित है। फिर भी सामाजिक धरातल पर, सामूहिक रूप में कर्म-फल का नियम उसमें प्रतिफलित है। इस लिये उसका समझना कभी-कभी साधकों के लिए भी आवश्यक और महत्वपूर्ण हो जाता है। इतिहास के घटना-प्रवाह और उसमें निहित कारण-कार्य-शृंखला को देखकर मन में स्वाभाविक रूप से निर्वेद पैदा होता है जिससे आगे स्थिति विराग और विमुक्ति की है। इस प्रकार सारा इतिहास अनित्यता पर प्रवचन बन जाता है। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में वह मनुष्य-समाज में कर्म-फल का निर्मम उपदेष्टा है। इस दृष्टि से वह साधना में सहायक भी हो सकता है।

'ध्यान' और बौद्ध धर्म

ध्यान-सम्प्रदाय मूलतः एक भारतीय साधना थी। अतः उसके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना अनिवार्य है। बौद्ध धर्म का तो वह एक सम्प्रदाय ही है। बौद्ध धर्म—महायान बौद्ध धर्म—के इस सम्प्रदाय का सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की रूपरेखा में क्या स्थान है, मूल बुद्ध-धर्म की साधना के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, उसके ध्यान से इसके ध्यान की क्या समानताएं या असमानताएं हैं, बुद्ध की मूल शिक्षाओं के संरक्षण के साथ-साथ इसमें क्या नयी प्रतिक्रियाएं भी सन्निहित हैं और किस प्रकार एक भिन्न मानसिक बनावट वाली जाति के द्वारा बुद्धानुभव को अपने अनुकूल बनाने का यह प्रतिफलन है, आदि प्रश्न महत्वपूर्ण हैं और स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। यहाँ केवल इतना कहा जा सकता है कि ध्यान-सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म का सार या हृदय रक्खा हुआ है, क्योंकि यह उसके अनुभव-पक्ष का विकास है। बुद्ध ने क्या कहा, इस पर यहाँ जोर नहीं है। बुद्ध ने बोधि-वृक्ष के नीचे और अपने शेष जीवन में क्या अनुभव किया, इसे यह स्वयं अपने हृदय में मन में अनुभव करना चाहता है। इसलिये यह बुद्ध-ज्ञान का सीधा संप्रेषण है। इसीलिये इसे 'बुद्ध चित्त सम्प्रदाय' या तथागत का 'हृदय' भी कहा गया है। ध्यान-सम्प्रदाय मानता है कि बुद्ध धर्म का सार अपने मन को पहचान कर बुद्धत्व प्राप्त कर लेना है। अतः उसमें बौद्ध धर्म की साधना का परम विकास हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है।

बुद्ध ने धर्म या सत्य को 'प्रत्यात्मवेदनीय' कहा था। 'पच्चत्तं वेदितब्बो धम्मो।' उनका कहना था कि धर्म का अनुभव प्रत्येक शरीर में होना चाहिये। ध्यान-सम्प्रदाय इसी को लेकर चलता है। ध्यानी साधक का हृदय ही बुद्ध का हृदय है और वहीं बोधि का साक्षात्कार होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो शाक्यमुनि की ऐतिहासिक बोधि-प्राप्ति हमारे किसी काम की नहीं है। बुद्ध जब तक बाहर के हैं, वे इतिहास के हैं, परन्तु जब हम उन्हें अपनी आत्मा में पैठा देते हैं तो वे हमारे अपने बन जाते हैं, आध्यात्मिक बन जाते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय के बुद्ध यह आध्यात्मिक बुद्ध ही हैं। इसी उद्देश्य को सामने रखकर ध्यान-सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ 'लंकावतार-सूत्र' में तथा महायान के अन्य सामान्य ग्रन्थों में शाक्यमुनि के ऐतिहासिक अस्तित्व और उनके ऐतिहासिक उपदेशों तक का निषेध कर दिया गया है। कहा गया है कि "बुद्ध-वचन वचन ही नहीं है" ("अवचनं बुद्धवचनमिति") और बोधि प्राप्ति से लेकर निर्वाण में प्रवेश करने के समय तक तथागत ने कहीं किसी को कोई उपदेश नहीं दिया। 'यस्यां रात्र्यामधिगमः यस्यां च परिनिर्वृतिः। एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम्।' ये वाणियां

अन्तर के बुद्ध के रहस्य को समझने और प्रज्ञा की गहरी अवमता को दिखाने के लिए ही कही गई है। हुइ-नेंग् ने इसी तत्त्व को समझाते हुए एक ऐसे व्यक्ति से जिसने अनेक बार सद्धर्म-पुण्डरीक-सूत्र को पढ़ा था परन्तु जिसे उसका वास्तविक मर्म प्रकट नहीं हुआ था कहा था 'यदि तुम केवल इतना विश्वास कर सको कि बुद्ध कोई शब्द नहीं बोलते, तो 'पुण्डरीक' स्वयं तुम्हारे मुख में ही खिलेगा !" बौद्ध साधना ध्यान-सम्प्रदाय में आकर पूरी तरह अन्तर्मुखी और अ-शब्द बन गई है।

भगवान् बुद्ध ने एक बार कहा था कि मैं बेड़े की तरह पार होने के लिए धर्म का उपदेश करता हूं, पकड़ कर रखने के लिए नहीं। "कुल्लूपमं वो भिक्खवे धम्मं देसिस्सामि नित्थरणत्थाय नो गहणत्थाय।" ध्यान-सम्प्रदाय में बुद्ध के धर्म के इस स्वरूप को जितना अच्छी प्रकार समझा गया है उतना बौद्ध धर्म के अन्य किसी सम्प्रदाय में नहीं। वह अपने उपाय-कौशल्य से नाव बनाता है और उतनी ही कुशलता से पार हो जाने के बाद उसे छोड़ भी जाता है। यही कारण है कि कुछ पहुंचे हुए ध्यानी सन्तों ने सूत्रों और शास्त्रों के पठन पाठन और स्वयं बुद्ध के 'शरीर' (मूर्ति आदि) आदि के सम्बन्ध में भी मौज में आकर ऐसी बातें कह दी हैं या उनके प्रति ऐसा व्यवहार प्रकट कर दिया है जो प्रारम्भिक विद्यार्थियों को उनका उपहास जैसा या श्रद्धा के अभाव का द्योतक जैसा लगता है। परन्तु बात इसके बिलकुल विपरीत है। उनके जैसी बुद्ध के ज्ञान की उच्चता और उनके प्रति उच्च निष्ठा दिखाने वाली कोई वस्तु ही वास्तव में सम्पूर्ण बौद्ध धर्म में नहीं है और स्वयं बुद्ध के उपदेशों और आदेशों के वह अनुकूल भी है।

पालि साहित्य से ही कुछ उदाहरण लें। वक्कलि बुद्ध के रूपकाय में अनुरक्त था। उससे बुद्ध ने यही कहा कि जिस प्रकार उसका शरीर गन्दगी से भरा है, उसी प्रकार उनका (बुद्ध का) शरीर भी है। फिर उसे देखने से क्या लाभ ? तथागत के धर्मकाय को देखना चाहिये जो उनका वास्तविक रूप है। 'जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।' जहां धर्म या धर्मकाय से अलग तथागत को देखते किसी को भी ध्यान के स्वामी देखते हैं, उस पर अपना डंडा लेकर पिल पड़ते हैं। इसमें वे (अपने ढंग से) बुद्ध के शासन का अनुसरण ही करते हैं। एक दूसरा उदाहरण लें। बुद्ध के परिनिर्वाण के समय उनके सभी शिष्य उनके दर्शनार्थ आ रहे थे। परन्तु एक शिष्य एकान्त कुटा में आकर ध्यान लगा रहा था। वह दर्शनार्थ नहीं आया था। जब कुछ अन्य शिष्यों ने उसकी शिकायत-सी करते हुए यह बात

शास्ता के सामने कहीं तो उन्होंने उन सबको उस एकान्त ध्यानी शिष्य का ही अनुसरण करने को कहा और उसे ही अपने शासन का सर्वोच्च अभ्यासी बताया। बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा भी आवश्यक है परन्तु ध्यान उससे अधिकतर कर्तव्य है। ध्यानी सन्त धक्का सा देते हुए कभी-कभी इस सत्य को हमारे हृदय के ऊपर उतारना चाहते हैं।

यही बात शास्त्रों और सूत्रों के महत्त्व के सम्बन्ध में भी है। कभी-कभी वे इसका तिरस्कार कर देते हैं। यह भी केवल धक्का देने के लिए। वैसे स्थविर वाद की साधना तक में भी धार्मिक ग्रन्थों के पठन पाठन का गौण और प्राथमिक महत्त्व ही स्वीकृत है। संयुत्त-निकाय के वज्जिपुत्त-सुत्त में हम एक ऐसे भिक्षु को देखते हैं जो पहले बहुत स्वाध्याय किया करता था और 'धर्मपदों' को पढ़ा करता था, परन्तु अब उसने ऐसा करना छोड़ दिया है। जब उससे इसका कारण पूछा जाता है तो वह कहता है कि जब तक उसे वास्तविक वैराग्य नहीं हुआ था तब तक उसका मन 'धर्मपदों' को पढ़ने की ओर लगा रहता था परन्तु अब उसे इसकी आवश्यकता नहीं रह गई है। सचमुच ऐसा लगता है कि वह भिक्षु तो 'ध्यान' का विद्यार्थी ही था। हम पहले (तीसरे परिच्छेद में) युङ्-चिया त शिह् (जापानी भाषा में उच्चारण 'योका दैशी') के 'बोधि-गीत' का परिचय दे चुके हैं। उसकी पहली ही पंक्तियां हैं "क्या तुम ध्यान के इस विद्यार्थी को देखते हो? वह सब कुछ भूल चुका है जो उसने याद किया था"। ऐसा लगता है कि योका दैशी का यह ध्यान का विद्यार्थी कहीं वज्जिपुत्त-सुत्त का उपर्युक्त भिक्षु ही तो नहीं है? बोध धर्म सर्वत्र एक है और उसका रस सर्वत्र एक है—विमुक्ति रस। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे विदित होता है कि अनुभवहीन विद्वानों से बुद्ध उनका अधिक आदर करते थे जिनमें विद्वत्ता भले ही न हो पर अनुभव हो। धम्मपदट्ठकथा में एक कथा है कि एक बार दो मित्रों ने बुद्ध की शरण प्राप्त की। उनमें से एक वृद्ध था और पढ़ लिख नहीं सकता था। उसे बुद्ध ने ध्यान की विधि बतला दी और उस पर चलते हुए उसने अर्हत्व का साक्षात्कार कर लिया। दूसरा विद्वान् था। उसने सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को याद कर लिया और एक महान् उपदेशक बन गया। एक दिन यह विद्वान् भिक्षु अपने वृद्ध मित्र से मिलने गया। बुद्ध समझ गये कि यह पण्डित भिक्षु अपने साथी वृद्ध भिक्षु को झमेले में डालेगा। इसलिये वे स्वयं भी वहां पहुंच गये। बुद्ध ने पहले पण्डित भिक्षु से दार्शनिक महत्त्व के कुछ प्रश्न पूछे जिनके उसने सन्तोषजनक उत्तर दे दिये, परन्तु जब बुद्ध ने उससे 'मार्ग' के सम्बन्ध में तथा स्रोत आपन्न होने के समय के अनुभव के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे तो वह उत्तर न दे सका, क्योंकि

इसका कोई व्यक्तिगत अनुभव उसे नहीं था। परन्तु जब वही प्रश्न बुद्ध ने उस अपढ़ वृद्ध भिक्षु से पूछे तो एक के बाद एक वह उनके सीधे उत्तर दे गया क्योंकि उसे केवल उन अवस्थाओं को ही तो बतलाना था जिनमें होकर वह स्वयं गुजर चुका था और जिनका उसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञान था। बुद्ध ने इस अपढ़ वृद्ध भिक्षु की प्रशंसा की। इस पर जब पण्डित भिक्षु के शिष्य कुछ खिन्न होने लगे तो बुद्ध ने उनसे कहा—तुम्हारा गुरु उस व्यक्ति के समान है जो दूसरों की गायें चराता है और यह अपढ़ भिक्षु उसके समान है जिसकी अपनी गायें हैं और जो पंच गोरसों का सेवन करता है। इस प्रकार बुद्ध-शासन में अनुभव विद्वत्ता से सर्वत्र बड़ा है। एक उदाहरण और लें। चूल पन्थक चार महीने में भी एक गाथा याद नहीं कर सका था परन्तु उसे आश्वासन देते हुए बुद्ध ने उससे कहा था "पाठ नहीं कर सकने के कारण मेरे शासन में कोई अयोग्य नहीं होता। बुद्ध ने उसे सरल ध्यान विधि बताई, जिसके परिणाम स्वरूप उसने ज्ञान प्राप्त किया। बुद्ध अपने इस शिष्य का बड़ा आदर करते थे। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय जो शास्त्रीय पठन-पाठन को अधिक महत्व नहीं देता तो यह बुद्ध-शासन के अनुगत ही है और अनुभव को प्रथम स्थान देने के कारण ही है। छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् के शब्दों को हम यहां उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते। उन्होंने कहा है कि "जो अपने मन को नहीं जानता उसके लिए बौद्ध धर्म को सीखने का कोई उपयोग नहीं है।" ध्यानी साधक इसी बात पर जोर देते हैं कि सबसे पहले हमें अपने मन या स्व-भाव को जानना चाहिये। फिर सब ग्रन्थों की संगति लग जायगी सब शास्त्र समझ में आ जायेंगे। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' को लक्ष्य कर हुइ-नेंग् ने सम्पूर्ण शास्त्रों के ही प्रति ध्यान सम्प्रदाय की दृष्टि को कितनी अच्छी प्रकार व्यक्त कर दिया है जबकि उन्होंने तीन हजार बार इस सूत्र का पाठ करने वाले और फिर भी इसका मर्म न समझने वाले एक भिक्षु से अपनी अपूर्व व्यंजनात्मक भाषा में कहा कि जो व्यक्ति बिना अर्थ को समझे पाठ करता है, वह सूत्र के द्वारा 'घुमाया जाता है' परन्तु अभ्यास के साथ-साथ पाठ करने वाला व्यक्ति स्वयं सूत्र को 'घुमाता है।

"जब हमारा मन मोह के अधीन होता है, तो
'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' हमें घुमाता है।
परन्तु प्रबुद्ध मन से हम स्वयं 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' को घुमा देते हैं।"

ऐसा लगता है कि हुइ-नेंग् (६३८ ७१३ ई०) के समय में ही कुछ छिछले ध्यानी लोग अनुचित रूप से शास्त्रों और सूत्रों की अवहेलना करने लगे थे और

इनको महत्व देने वाले लोगों को वे 'भारतीय प्रधिकार के मदों के मारे' बताते थे। हुइ-नेंग् इस प्रवृत्ति को अच्छा नहीं मानते थे ऐसा उन्होंने अपने शिष्यों को दिये गये अन्तिम निर्देशों में स्पष्ट कर दिया है। ऐसे लोगों की भर्त्सना करते हुए उन्होंने अपने शिष्यों से कहा "तुम लोगों को जानना चाहिये कि सूत्रों की बुराई करना एक गम्भीर अपराध है और इसका दुष्परिणाम सचमुच बड़ा भयंकर होगा।[1]

भारतीय विधि से आसन लगाकर ध्यान करना उपयोगी है और ध्यानी साधक इसका उपयोग करते हैं। स्वयं छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) को (जिन्होंने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी रूप दिया) हम एक बार प्रवचन प्रारम्भ करने से पूर्व अपने श्रोताओं से यह कहते देखते हैं "अब हम भारतीय विधि से बैठें।"[2] परन्तु यह भी निश्चित है कि ध्यान के लिए वे इसे अनिवार्य नहीं मानते थे। एक बार जब उनसे इस सम्बन्ध में पूछा गया तो उन्होंने अपनी विलक्षण शैली में कहा, "जिन्दा आदमी बैठता है और (सब समय) लेटता नहीं। मुर्दा लेटता है और बैठता नहीं। अपने इस भौतिक शरीर पर हम पालथी मारकर बैठने का भार डालकर क्यों उसे पीड़ित करें?" इसमें बुद्ध-शासन के विपरीत कुछ नहीं है। किसी भी अवस्था में हो चित्त एकाग्र होना चाहिये क्योंकि चित्त को ही सत्य का साक्षात्कार करना है। इस सम्बन्ध में उपदेश देते हुए हुइ-नेंग् कहते हैं "धर्म का साक्षात्कार मन को करना होता है और यह आसन मारकर बैठने की स्थिति पर निर्भर नहीं करता।" यह उल्लेखनीय है कि ध्यान की उत्तरी शाखा या "क्रमवस्त" सम्प्रदाय (जिसके प्रवर्तक हुइ-नेंग् के गुरु भाई शिन्-शेन्-शिउ थे) आसन लगाकर ध्यान करने पर कुछ अधिक जोर देता है। कुछ भी हो उस समय आसन लगाकर बैठना ध्यान का पर्याय नहीं होता, इसे समझाने के लिए ध्यानी सन्त कभी-कभी हमारी पीठ पर तड़ाक से डंडा जमाने के लिए तैयार खड़े दिखाई देते हैं और कभी-कभी सिर्फ आसन लगाने वालों को आश्रम से बाहर भी निकाल देते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि ऐसे आसन लगाने से तो पत्थर की मूर्तियाँ ही उनके यहाँ अधिक हैं।[3]

जैसा हम पहले कह चुके हैं, ध्यान-सम्प्रदाय मूलतः एक भारतीय साधना थी। परन्तु उसका विकास चीन और जापान में हुआ। अतः इन देशों की प्रकृति

---

१ दि सूत्र ऑफ वे लैंग् (हुइ-नेंग्) पृ० १११।

२ वही पृ० ५६।

३ स्वामी गुइ क्वेशन् (१२००-१२६० ई०) ने इसी प्रकार फटकार कर एक आसनमुक्त भिक्षु को आश्रम से बाहर निकाल दिया था।

के अनुकूल उसमें अनेक परिवर्तन हुए। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय को हम भारतीय धर्म-साधना का, चीनियों की प्रकृति के अनुरूप मनोवैज्ञानिक परिणाम ही कह सकते हैं। यह अक्सर कहा जाता है कि हुइ-नेंग् ने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। यह कहना इस अर्थ में ठीक है कि हुइ-नेंग् ने ध्यान-सम्प्रदाय को चीन का अपना धर्म बना दिया और उसके सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा न रही कि यह कोई विदेशी धर्म-साधना है। इसका कारण यह था कि हुइ-नेंग् पूरे अर्थों में एक अनुभव-सम्पन्न महात्मा थे और उन्होंने चीनी मानस की पूरी भूमिका में ध्यान-सम्प्रदाय की व्याख्या की जिससे चीनी जनता के हृदय में ध्यान-सम्प्रदाय ने जड़ें जमा लीं और वह उनकी अपनी साधना-विधि बन गई। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय के इस चीनीकरण की विधि में भारतीय तत्त्व सर्वथा निश्शेष नहीं किये गये और न भारतीय बौद्ध धर्म के साथ उसका सम्बन्ध ही विच्छिन्न हो गया। ऐसा समझना गलत होगा। स्वयं हुइ-नेंग् ने 'मंच-सूत्र' में यह स्वीकार किया है कि जो कुछ उन्होंने सिखाया है वह सब बोधिधर्म के द्वारा सिखाये गये मूल सिद्धान्त ही हैं। इसी 'सूत्र' में उन्होंने और भी स्पष्टतापूर्वक जोर देते हुए कहा है कि "यह उपदेश अतीत के धर्मनायकों की परम्परा से चला आया है और यह कोई मेरे द्वारा आविष्कार किया हुआ सिद्धान्त नहीं है।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्यान-सम्प्रदाय का जैसा उपदेश हुइ-नेंग् ने दिया उसमें मूल भारतीय धारा से कोई आधार भूत परिवर्तन नहीं किये गये थे, भले ही उसमें चीनी मानस के अनुकूल बनाने के लिए चीनी सांस्कृतिक तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया हो जो अनिवार्य था। छठे धर्मनायक ने अपने द्वारा भाषित 'सूत्र' में जगह-जगह विमलकीर्ति-निर्देश सूत्र' और 'बोधिसत्त्व-शील-सूत्र' जैसे महायान-सूत्रों से उद्धरण दिये हैं और 'वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता के तो वे एकान्त भक्त थे ही। एक बार किसी आगन्तुक ने जो कुछ शंकाओं के समाधान के लिए हुइ-नेंग् के पास आया था, हुइ-नेंग् की एक व्याख्या को सुनकर यह मत प्रकट किया कि उन्होंने 'सूत्र' के विपरीत व्याख्या की है, इस पर हुइ-नेंग् ने उससे कहा था "मैं ऐसा करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि मैं बुद्ध भगवान् की हृदय-मुद्रा का उत्तराधिकारी हूं।"[1] अतः चीन में ध्यान-सम्प्रदाय को वास्तविक रूप से जड़ जमाने वाले और उसे चीनी साधकों की अपनी साधना बनाने वाले अनुभवी महात्मा हुइ-नेंग् पूर्वकाल से चली आती हुई ध्यान-परम्परा के एक विनम्र अनुगामी थे

१ दि सूत्र ऑफ वै-लँग् (हुइ-नेंग) पृष्ठ ६६।

और उससे प्रथम जाना ठीक नहीं समझते थे ऐसा उनके द्वारा भाषित 'सूत्र' से स्पष्ट प्रकट होता है। हुइ-नेंग् के शिष्य युंग्-चिया त-शिह् (जापानी भाषा में योका देशी) ने भी साक्ष्य दिया है कि छोकी (हुइ-नेंग् का निवास-स्थान) में जिस ज्ञान को उन्होंने पाया, वह "बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म के अलावा और कुछ नहीं है।" अतः हुइ-नेंग् के बाद ध्यान-सम्प्रदाय में चीनी मनोविज्ञान के अनुकूल जो भी परिवर्तन हुए, वे चाहे बुद्ध-शासन की चिरस्थिति के लिए महत्त्वपूर्ण थे परन्तु साथ ही मूल परम्परा से वह विच्छिन्न हो गया हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। बुद्ध धर्म में अपूर्व निष्ठा दिखाते हुए युंग्-चिया त-शिह (योका देशी) ने ही कहा है "चाहे सूर्य ठण्डा हो जाय और चन्द्रमा गरम परन्तु कोई असुर या राक्षस बुद्ध-धर्म के परम सत्य को नष्ट नहीं कर सकता। बुद्ध-धर्म से अलग करके ध्यान-सम्प्रदाय को देखना वस्तुतः भारी मूर्खता ही है।

ध्यान-सम्प्रदाय के कुछ सन्तों ने कहीं-कहीं ऐसी बातें अवश्य कह दी हैं जो यह भ्रम पैदा करती हैं कि कदाचित् धर्म—बौद्ध धर्म—को भी उन्होंने कहीं छोड़ तो नहीं दिया है। उदाहरणतः थंग् काल का एक ध्यानी भिक्षु (चोगु—७७८-८९७ ई०) कहा करता था कि "यदि तुम 'बुद्ध' शब्द का उच्चारण करो तो उसके बाद अपने मुँह को अच्छी तरह से धो डालो।" इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु कहता था, "मैं एक शब्द बिलकुल नहीं सुनना चाहता वह है 'बुद्ध'। इसी प्रकार एक अन्य ध्यानी सन्त (त-कुमान्) का प्रकरण है। एक बार इस ध्यानाचार्य से एक भिक्षु ने पूछा "क्या आप कभी 'बुद्ध' नाम का जप करते हैं?" "नहीं कभी नहीं!" "क्यों नहीं करते?" "क्योंकि मुझे भय है कि कहीं मेरा मुँह गन्दा न हो जाय?" एक अन्य विनोदी ध्यानी सन्त ने अपने शिष्य से कहा था "जहाँ बुद्ध हों, वहाँ से होकर जल्दी गुजर जाओ; जहाँ बुद्ध न हों वहाँ मत ठहरो।" ये मन की मौजें हैं जिनमें ध्यान का चरम लक्ष्य तो निहित है ही सन्तों के मौजी स्वभाव की भी ये वाणियाँ द्योतक हैं। वे यहाँ दक्षिण दिशा में ही 'उत्तरी ध्रुव' को दिखाना चाहते हैं। वह भी कहना चाहते हैं कि अपनी सब बाधाओं को हटा दो, किसी बाधा को अपने मार्ग को अवरुद्ध न करने दो। परन्तु कुछ विद्वानों ने सोचा है कि यहाँ चीनी मानस बौद्ध धर्म के प्रति विद्रोह कर रहा है।[1] यह ठीक नहीं है। चीनी मानस बौद्ध धर्म के प्रति विद्रोह नहीं कर रहा वह शाक्यमुनि की उन शिक्षाओं का सर्वोत्तम रूप से अनुगमन कर रहा है जो

१ डा० हु-शिह् का मत तो है कि सम्पूर्ण ध्यान-सम्प्रदाय ही बौद्ध धर्म के प्रति चीनी विद्रोह है। यह मत ठीक नहीं है।

मज्झिम-निकाय के कुल्लूपम-सुत्तन्त में निहित है जहां बुद्ध ने कहा है कि प्रयोजन पूरा होने के बाद धर्म को भी छोड़ा जा सकता है, अधर्म की तो कोई बात ही नहीं। चतुर्थ परिच्छेद में हम देख ही चुके हैं कि जापान के प्रत्येक ध्यानागार में बुद्ध के 'शरीर' की पूजा की जाती है, उनको श्रद्धापूर्वक नमन किया जाता है और यह विश्वास प्रकट किया जाता है कि बिना बुद्ध की शक्ति के हम इस भव-सागर को पार नहीं कर सकते। ध्यान की साधना में अनेक साधक बुद्ध के नाम का जप करते हैं और इस प्रकार 'सटोरी'-अनुभव प्राप्त करते हैं यह भी हम चतुर्थ परिच्छेद में देख चुके हैं। भला बुद्ध का निराकरण भी क्या बौद्ध धर्म के किसी सम्प्रदाय में सम्भव है ? ध्यान-सम्प्रदाय में तो बिल्कुल भी नहीं। आधुनिक काल के सम्भवतः सबसे बड़े ध्यानी चीनी महात्मा और उपदेशक हु-युन (जिनका देहान्त अभी सन् १९६० में १२० वर्ष की आयु में हुआ है) बुद्ध के नाम के जप का उपदेश देते थे। जब उनसे कोई पूछता कि ध्यान-सम्प्रदाय क्या है, तो वे उत्तर-स्वरूप कहते थे "कौन मेरे सामने बुद्ध का नाम ले रहा है ?" अनेक ध्यानी सन्त बुद्ध के नाम का जप करते हैं। अतः बुद्ध या बौद्ध धर्म का निराकरण ध्यान-सम्प्रदाय में हुआ है, ऐसा सोचना भारी मूर्खता है। हां यह बात अवश्य है कि अनासक्ति का पूर्ण अभ्यास ध्यानी सन्तों ने किया है, शून्यता को पूरे रूप में समझा है इसलिये उन की भाषा को समझने में अनभ्यस्त साधारण लोगों के लिए उनके प्रतीयमान विरोधी कथनों को समझना सदा सम्भव नहीं होता। हमें यह समझ लो लेना चाहिये कि ध्यानी सन्त जब 'पूर्व' कहते हैं तो उसका अर्थ 'पूर्व' नहीं होता और जब वे 'पश्चिम' कहते हैं तो उसका अर्थ 'पश्चिम' नहीं होता। जैसा हम अभी कह चुके हैं, वे हमें दक्षिण की ओर मोड़ते हैं और कहीं उत्तरी ध्रुव दिखाना चाहते हैं। सत् और असत् के अद्वैत को न समझने के कारण ही ध्यान-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भ्रान्ति हो गई है, जिसका निराकरण आवश्यक है।

बौद्ध आचार-तत्त्व का निराकरण ध्यान-सम्प्रदाय में नहीं है, बल्कि शून्यता के उच्चतर सत्य के प्रकाश में उसे देखने का प्रयत्न है। बोधिधर्म और चीनी सम्राट् वू-ति के संलाप से यह बात प्रकट हो जाती है। शेन् सिउ के ऊपर हुइ-नेंग् को जो तरजीह दी गई, उसका भी कारण यही है। एक हृदय को दर्पण की तरह साफ रखने पर जोर देता था, दूसरे ने सहज रूप से अनुभव कर लिया था कि शून्यता को जब देख लिया जाय तो दर्पण पर मैल जम ही कैसे सकता है ? ध्यान-सम्प्रदाय उसी तरह काय-विशुद्धि और चित्त विशुद्धि का अभ्यास करता है जैसे कि स्थविरवाद या बौद्ध धर्म के अन्य

सम्प्रदाय। वह केवल शून्यता-ज्ञान या सहज-ज्ञान के प्रकाश में उसे एक मस्ती भरी अभिव्यक्ति और प्रदान कर देता है, यह उसकी विशेषता है। ध्यान सम्प्रदाय में सत्य-प्राप्ति की प्रक्रिया को लेकर 'युगपद्' और 'क्रमपूर्व', ये दो विचारधाराएं प्रचलित हैं यह हम पहले (द्वितीय परिच्छेद में) देख चुके हैं। यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि बुद्ध धर्म के मूल रूप में इन दोनों प्रक्रियाओं की ही स्वीकृति है। मज्झिम-निकाय के 'गणक-मोग्गल्लान-सुत्तन्त', 'रथविनीत-सुत्तन्त' 'चूल राहुलोवाद-सुत्तन्त' तथा पालि त्रिपिटक के अन्य अनेक ग्रंथों से यह प्रकट होता है कि बुद्ध के धर्म में क्रमिक शिक्षा (अनुपुब्बसिक्खा) तथा क्रमिक साधना (अनुपुब्बकिरिया) का विधान था। बुद्ध क्रमशः मुक्ति सिखाते थे और उनके मार्ग में साधक क्रमशः प्रगति करता था। 'आपुब्बेन अनुपुब्बेन सब्बसंयोजनक्खयं'[1] परन्तु साथ ही बाहिय दारुचीरिय जैसे बुद्ध के अनेक शिष्य भी थे जिन्होंने बुद्ध से उपदेश सुनकर तत्काल ही ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बाहिय दारुचीरिय को तो "क्षिप्र अभिज्ञा प्राप्त करने वालों में श्रेष्ठ" ("खिप्पाभिञ्ञानं अग्गो") ही कहा गया है। इस प्रकार आकस्मिक ज्ञान प्राप्ति का भी पूरा विचार यहां रक्खा हुआ है। राहुलोवाद-सुत्त (चूल राहुलोवाद सुत्तन्त) का उपदेश सुनते ही राहुल को अर्हत्व की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इस सुत्त का उपदेश ही बुद्ध राहुल को तब देते हैं जब उसके लिए उसकी पूरी तैयारी वे देख लेते हैं। अतः क्रमिक अभ्यास और आकस्मिक ज्ञान प्राप्ति में सामंजस्य है। इस सामंजस्य के दर्शन हमें 'थेरीगाथा' में भी होते हैं। उत्तमा एक सप्ताह भर तक एक आसन से बैठकर ध्यान करती है। आठवें दिन जैसे ही वह ध्यान से उठती है और अपने पैर फैलाती है कि तत्काल उसका अज्ञानान्धकार छिन्न हो जाता है। 'अट्ठमिया पादे पसारेसिं तमोखन्धं पदालिय।' ज्ञान का उन्मेष एक सहसा अनुभव के रूप में हुआ, परन्तु पहले की गई साधना बेकार गई, यह कौन कहेगा? बुद्ध का स्वयं बोधि का अनुभव इसमें प्रमाण है, और ध्यान-सम्प्रदाय भी इस तथ्य से पूर्ण अवगत है। यह उल्लेखनीय है कि मूल बुद्ध-धर्म की शमथ और विदर्शना की भावना ध्यान-सम्प्रदाय के ध्यान में गृहीत है। यह हम शूरंगम-समाधि-सूत्र में देख चुके हैं। हुइ-नेंग् के शिष्य म-त्सु 'शमथ के महान् स्वामी' कहलाते थे और युंग् चिया त शिह् (जापानी भाषा में 'योका दैशी') ने भी, जो हुइ-नेंग् के शिष्य थे, शमथ और विदर्शना की भावना विशेष रूप से की थी। यह बात अवश्य है

---

१ "क्रमशः सब संयोजनों का क्षय प्राप्त करना चाहिये।" कीटागिरि-सुत्तन्त।

कि ज्ञान की अपेक्षा कुछ व्यावहारिकता पर ध्यान-सम्प्रदाय में जोर है और इस कारण उसका सामाजिक उपयोग भी अधिक किया जा सका है। यह वस्तुतः चीनी प्रतिभा और प्रकृति का अपना योगदान है जिसे उसने ध्यान-सम्प्रदाय को दिया है। श्रमण और विपश्यना के अभ्यासी ध्यानी सन्त भी हैं परन्तु उससे प्राप्त शक्ति को वे कर्मयोग में अधिक प्रयुक्त करते हैं। यही कारण है कि ध्यान-सम्प्रदाय के विहारों में श्रम-निष्ठा अधिक पाई जाती है। जो साधना केवल ध्यानाभ्यास को लेकर चलेगी उसे इस खतरे से सावधान रहना ही पड़ेगा कि कहीं ध्यान खाली चिन्तन, निकम्मेपन और आलस्य का पर्याय न बन जाय। इस खतरे को समझते हुए ही और प्रज्ञा के महत्त्व की ओर इंगित करते हुए ही सातवीं-आठवीं शताब्दी के एक महान् ध्यानी सन्त (हुआई-जंग्—म-त्सु के गुरु और हुई-नेंग् के शिष्य) ने कह दिया था कि केवल ध्यानाभ्यास करते रहने से बुद्धत्व प्राप्त करने की आशा उसी प्रकार बेकार है, जिस प्रकार ईंट को घिस-घिस कर उसे दर्पण बनाने की चेष्टा। ध्यानाभ्यास को निठल्लेपन के खतरे से बचाने के लिए ध्यानी साधक इतने अधिक व्यग्र दिखाई पड़ते हैं कि सुजुकी ने एक जगह सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए यहां तक कह दिया है कि 'ध्यान-सम्प्रदाय ध्यान नहीं है, बल्कि प्रज्ञा है।'[1] परन्तु ऐसा कहना वस्तुतः जमता नहीं है। ध्यान और प्रज्ञा पूरे बौद्ध धर्म में एक-दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। स्वयं छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्) ने समाधि (ध्यान) को प्रज्ञा का सार और प्रज्ञा को ध्यान की क्रिया कहा है और उनका सम्बन्ध प्रकाश और दीपक का सम्बन्ध बताया है। "दीपक प्रकाश का सार है और प्रकाश दीपक की क्रिया।" यही सम्बन्ध समाधि और प्रज्ञा का है। दोनों का अभ्यास साथ-साथ चलना चाहिए। हुइ-नेंग् ने ही 'मंच-सूत्र' में कहा है "मूल, विशुद्ध उपदेश प्रज्ञा और समाधि को साथ-साथ अभ्यास करने का ही है।" अतः उनमें भेद करना वस्तुतः जमता नहीं है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार सच्ची सफलता वह है जिसे पल में ही छुआ जाय। उसका कहना है कि जो कमल आग में खिलेगा, उसके फिर कुम्हलाने का भय नहीं है। इसलिए जगत् के व्यवहारों को ध्यानी साधक स्वीकार करते हैं, पूरी तरह स्वीकार करते हैं और उनके अन्दर ही परमार्थ की खोज करते हैं। चतुर्थ परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि अनेक बुद्धकालीन स्थविरों और स्थविरियों को भी 'सटोरी' जैसे अनुभव हुए थे। 'कोषाम् भी कर्मस्थानों (ध्यान-विषयों) के

१ जेन् एण्ड जापानीज बुद्धिज्म, पृष्ठ ९।

चीनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुकूल विकसित रूप ही है। अतः ध्यान-सम्प्रदाय के बीज मूल बुद्ध-धर्म में विद्यमान हैं।

'ध्यान' प्रस्तुत सिद्धान्त

ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोटे रूप में बौद्ध धर्म का विकास दो शाखाओं में हुआ। एक शाखा में बौद्ध धर्म के शेष सब सम्प्रदाय हैं और दूसरी में केवल ध्यान-सम्प्रदाय। पहली शाखा को हम 'उपदेश-शाखा' कह सकते हैं, क्योंकि बौद्ध धर्म के प्रायः सब सम्प्रदाय जो इसमें आते हैं बुद्ध के मुख से निःसृत उपदेशों पर आश्रित हैं, फिर चाहे उनमें कितनी ही पारस्परिक विभिन्नताएं क्यों न हों। उन सबके अलग-अलग मान्य सूत्र और शास्त्र हैं जिन पर वे आधारित हैं। ध्यान-सम्प्रदाय इन सबसे अलग है और वह एक अलग ही परम्परा है। वह बुद्ध के शब्दों पर आधारित नहीं बल्कि उसका विश्वास है कि वह बुद्ध के मन या हृदय का सीधा सम्प्रयस है, जिसमें जीवन के रहस्यों की कुंजी विद्यमान है। बौद्ध धर्म के अन्य सब सम्प्रदायों से वह एक विलक्षण सम्प्रदाय है जो बुद्ध के मुख की ओर नहीं देखता, बल्कि उनके हृदय और चित्त से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और अपने अर्थों में एक अ-शब्द सिद्धान्त है। यदि कबीर की भाषा का प्रयोग हम कर सकें तो बौद्ध धर्म के अन्य सब सम्प्रदाय 'लेख' हैं और ध्यान-सम्प्रदाय की गणना 'अ-लेख' में की जायगी। जिस प्रकार 'लेख' भाव 'अलेख' में समा जाता है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म के अन्य सब सम्प्रदाय 'ध्यान' में समा जाते हैं ऐसा हम कह सकते हैं। "लेख समाना अ-लेख में। त्रिपिटक या अन्य स्रोतों से प्राप्त ज्ञान से जो बुद्ध के मन्तव्यों को जानकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे बुद्ध के मुख से उत्पन्न पुत्र हैं, जबकि ध्यान के द्वारा बुद्ध को अपने अन्दर देखने वाले साधक बुद्ध के हृदय से उत्पन्न हैं, औरस पुत्र हैं, ऐसा भी हम कह सकते हैं। सम्पूर्ण बौद्ध धर्म के प्रसंग में ध्यान-सम्प्रदाय के स्थान के अनुमापन के लिए, हम समझते हैं इतना विवेचन यहां पर्याप्त होगा। अब हम ध्यान सम्प्रदाय और वेदान्त—अद्वैत वेदान्त—के तात्त्विक सम्बन्ध पर आते हैं।

'ध्यान' और अद्वैत वेदान्त

पीछे के परिच्छेदों में ध्यान-सम्प्रदाय का जो विवरण दिया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि अद्वय सत्य का अनुभव उसका प्राण है। 'ध्यान' के अभ्यासी पूर्ण रूप में 'अनात्मवादी' हैं। उनके लिए सर्वनिर्विकल्प ज्ञान ही परम सत्य

है। प्रथम सत्य की बात इतनी बार ध्यान-सम्प्रदाय में आती है कि हम चकित हुए बिना नहीं रह सकते। और बौद्ध धर्म का केवल ध्यान-सम्प्रदाय ही अद्वय वादी नहीं है। पूरा महायान अद्वय धर्म है। इस बौद्ध अद्वैतवाद का वेदान्तिक अद्वैतवाद से क्या ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्ध है यह समस्या हमारे सामने आती है। भारतीय दर्शन की इसे मैं सबसे महान् और गम्भीर समस्या मानता हूं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ उपनिषदें बुद्ध-काल से प्राचीन हैं। परन्तु अद्वैत वेदान्त का जो विकास बाद में हुआ वह पूरे उपनिषदों के स्रोत पर ही आधारित नहीं है। उस पर पूर्वकालीन महायान साहित्य और दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। परन्तु यह स्थान उसके विवेचन का नहीं है। "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' के द्वितीय खण्ड में लेखक ने इस पर विस्तार से विचार किया है। यहां केवल ध्यान-सम्प्रदाय को ध्यान में रखकर ही कुछ कहना ठीक होगा। सबसे पहली बात यह है कि ध्यान-सम्प्रदाय का अद्वैत 'अद्वैतसिद्धि' या 'खण्डनखण्डखाद्य' का अद्वैत नहीं है, बल्कि 'योग-वासिष्ठ' और कुछ हद तक गौड़पाद के 'आगमशास्त्र' का अद्वैत या सत्यानुभव है। तार्किक पद्धति के द्वारा प्रमाण दे-देकर नहीं बल्कि गहरे आत्म-चिन्तन और आत्मानुभूति से जिसे ध्यान-सम्प्रदाय की परिभाषा में प्रज्ञा या महाप्रज्ञा कहा जाता है ध्यान-योगी इस सत्य तक पहुंचते हैं। अद्वैत सत्ता के प्रमाण में उनका कहना है "एक है तभी दो की सत्ता है।" द्वैत ही अद्वैत के होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। यह बात भारतीय दर्शन में भी आई है। अद्वैत वेदान्त में अधिकतर सत्तात्मक प्रश्न की दृष्टि से अद्वैत का निरूपण है, साधक के पथ में जो कठिनाइयां आती हैं और चित्त में जो क्रियात्मक प्रश्न और विकल्प उठते हैं उनके प्रशमन के लिए उसके पास 'गीता' और 'योग-वासिष्ठ' जैसे कुछ-एक ग्रन्थों के अलावा और कुछ अधिक नहीं है। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय का तो पूरा साहित्य ही इस दृष्टि से साधकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है और उनकी साधना-पद्धति में क्रियात्मक सहायता देने वाला है। यहां केवल 'सत्ता' का अद्वैत ही नहीं, बल्कि 'रास्तों' या 'मार्गों' का भी अद्वैत है और यह निर्विशेष घोषणा की गई है कि "बुद्ध-स्वभाव अद्वयता है।"[1] जहां तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है ध्यान योगी वेदान्तियों की तरह केवल अद्वयवादी ही नहीं अजातिवादी भी हैं। "न जन्म है न मृत्यु है यह परम सिद्धान्त है" ऐसा [illegible] वेदान्त से भी अधिक निर्भय और शक्तिशाली रूप में ध्यान-सम्प्रदाय में उद्घोषित हुआ है। सना-

---

१ दि ज़ेन ऑफ़ हेनॉग (हुइ-नेंग) पृ० ८४।

लंकावतार-सूत्र में हमें अजातिवाद का विस्तृत निरूपण मिलता है और यह निश्चित है कि वह गौडपाद से पूर्व की रचना है। लंकावतार सूत्र के सिद्धान्तों की ही नहीं उसकी पूरी भाषा की छाप गौडपाद के 'आगमशास्त्र' पर है इस तथ्य से वे लोग भी इन्कार नहीं कर सकते जो गौडपाद के दर्शन को मूल रूप से केवल उपनिषदों में ही खोजना चाहते हैं। गौडपाद के ही प्रायः समकालिक छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग) के सामने जब युंग् चिया ता-शिह् (योका देशी) ने फिर जन्म-मरण की समस्या को मुख्य रूप से महत्वपूर्ण बताया था, तो धर्म नायक ने उनसे स्पष्ट कहा था 'तो तुम अजाति के सिद्धान्त का साक्षात्कार कर जीवन की क्षणभंगुरता की समस्या को हल क्यों नहीं कर लेते ?" वेदान्त का अजातिवाद भी केवल मनुष्य की इस आवश्यकता के लिए उत्पन्न हुआ है। परन्तु इससे भी गहरे जाकर हम तो अद्वैत वेदान्त के साथ 'ध्यान' के सम्बन्ध को देखना चाहते हैं।

ध्यान सम्प्रदाय में शून्यता परम सत्य है और उसके सच्चे रूप को समझने के लिए अद्वय सत्य का उपयोग है। बिना वस्तुओं के अद्वय सत्य को समझे शून्यता की स्थापना या उसका निषेध दोनों ही गलत होंगे। ऐसी घोषणा तृतीय धर्मनायक सेंग्-त्सान् ने की थी यह हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं। उनका कहना था कि बिना अद्वैत को समझे सत्ता का निषेध करना उसका स्वीकार करना मात्र होगा और शून्यता का स्वीकार करना स्वयं उसके निषेध में पर्यवसित हो जायगा। अतः शून्यता को समझने के लिए पहले अद्वय सत्य को समझना आवश्यक है। ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता है कि इन्द्रियां, मन, शरीर कुछ भी क्रिया नहीं कर सकते यदि शून्यता न हो। संसार का कोई व्यवहार सम्भव नहीं होगा यदि शून्यता न हो। कोई प्रमाता प्रमाण नहीं रह जायगा यदि शून्यता न हो।

सत् और असत्

सम्पूर्ण माध्यमिक दर्शन की दृष्टि से हम यहां विस्तृत विवेचन में नहीं जा सकते परन्तु केवल ध्यान-सम्प्रदाय की दृष्टि से ही यह कहना जरूरी है कि उसका शून्य अभाव नहीं है। सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन के शून्य को जो अभाव या उच्छेद का पर्याय मान लिया गया है वह बड़ी भारी गलती हुई है और उसका प्रतिकार स्वयं ही शंकर-पूर्ववर्ती महायान संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन से हो गया है। जहां तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है इस पर यह स्पष्ट है कि वह शून्यवादी है परन्तु उसकी शून्यता अभाव या शून्य निषेध नहीं

सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध नहीं और न उसमें सम्पूर्ण व्यवहारों का ही उच्छेद है। सम्पूर्ण व्यवहार सम्भव ही शून्यता से बनते हैं ऐसा उसका सोचने का ढंग है। और फिर वह शून्यता में रमते रहने से भी आगाह करता है। सभी विकल्पों और द्वन्द्वों के परे जाने पर इतना जोर भारतीय दर्शन में अन्यत्र कहीं नहीं दिया गया। ध्यानी साधक अपने मूल घर को लौटने और वहां विश्राम करने की बात कहते हैं। यह उनके द्वारा सम्भव नहीं जो जगत् को अप्रतिष्ठ बताते हैं।

सत् की निषेधात्मक व्याख्या को लेकर कोई साधना आगे नहीं बढ़ सकती। ध्यान-सम्प्रदाय इस बात पर जोर देता है कि 'हैं' से ही कुछ मिलता है 'नहीं' से कुछ नहीं। देखिए, मुंग्-चियाओ त-शिह् (मोका देशी) ने किस मनोरंजक ढंग से इस सत्य को रखा है

जब यह 'हाँ' है तो एक नागा लड़की भी एक क्षण
में बुद्धत्व प्राप्त कर लेती है
परन्तु जब यह 'न' है तो परम विद्वान् ध्यानी
आचार्य (बेन्को) भी जीवित अवस्था में ही नरक में गिरता है।

शून्यता के स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध में इतना कुछ ध्यानी सन्तों ने कहा है कि उससे हमें उसके अभावात्मक होने के सम्बन्ध में सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता। कितनी स्पष्टतापूर्वक मुंग्-चियाओ त शिह् (मोका देशी) ने 'बोधि-गीत' में कहा है

शून्यता का अर्थ है एकाकी न होना
न शून्य न अशून्य
यही तथागत-ज्ञान का सच्चा रूप है।

ध्यानी सन्त सत्य को सदा सत् और असत् के विचारों से अतीत मानते हैं। उन्हें जितना भय शाश्वतवाद से है उतना ही उच्छेदवाद से भी। आत्यन्तिक शून्यवाद या उच्छेदवाद को वे पानी में डूबना कहते हैं तो शाश्वतवाद या वस्तुओं के प्रति आसक्ति को आग की लपटों में पड़ना मानते हैं इसलिये दोनों से ही साधकों को आगाह करते हैं। 'मुझे यही भय है कि कहीं तुम्हारा मार्ग तुम्हें उच्छेदवाद (असत्) और शाश्वतवाद (सत्) के गड्ढे में न गिरा दे।

इस प्रकार अन्ततः ध्यानी सन्त सत् और अ-सत् दोनों से अतीत है और जिस अन्तिम चित्त-अवस्था में वे पहुँचते हैं, उसमें शून्य और अ-शून्य दोनों के ही विचार लुप्त हो जाते हैं

> जब सत् और अ-सत् दोनों ही अलग हटा दिये जाते हैं,
> तो शून्यता और अ-शून्यता के विचार भी लुप्त हो जाते हैं।

छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग) ने भी जो शंकर से कम-से-कम सौ वर्ष पूर्व हुए, बार-बार इस बात से अपने शिष्यों को आगाह किया कि वे शून्य से तात्पर्य अभाव है न मान बैठें। एक बार प्रवचन करते हुए उन्होंने कहा था 'मित्र श्रोताओ! जब तुम मुझे शून्य की बात कहते सुनते हो तो एकदम खालीपन के विचार में मत पड़ो। ऐसा करने से तुम विनाश के मिथ्या सिद्धान्त में गिर जाओगे। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इस विनाश के मिथ्या सिद्धान्त में हम न पड़ें।' इस प्रकार यह बहुत रूप से सिद्ध है कि शून्य ध्यानी साधकों के लिए अभावात्मक या विनाशात्मक नहीं है।

ब्रह्म और अज्ञात

वेदान्त जिसे 'ब्रह्म' कहता है, वह ध्यान-सम्प्रदाय के लिए 'अ-ज्ञात' है। जिस प्रकार वेदान्ती कहते हैं कि इस संसार की उत्पत्ति स्थिति और लय जहाँ से होते हैं वह ब्रह्म है, उसी प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय यह मानता है कि इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय जहाँ से होते हैं वह 'अ-ज्ञात' है। एक कहता है कि जगत् की प्रतिष्ठा ब्रह्म है, दूसरा कहता है अ-ज्ञात है। यह अ-ज्ञात ही निषेधात्मक रूप से शून्यता है और स्वीकारात्मक रूप में यही तथता, भूततथता या बुद्ध-स्वभाव है। इस प्रकार यही तथता या सर्वधर्मशून्यता ध्यान-सम्प्रदाय के लिए परमार्थ है, परिनिष्पन्न सत्य है। दूसरे शब्दों में यही तथागत का 'धर्मकाय' कहलाती है। इस प्रकार वेदान्त के 'ब्रह्म' से बौद्ध 'अ-ज्ञात' या 'तथता' का भेद करना कठिन हो जाता है, क्योंकि दोनों ही निरपेक्ष सत्य हैं। परम निर्विकल्प ज्ञान है। ध्यान-सम्प्रदाय का 'मूल मन' या 'एक मन' वेदान्त का कूटस्थ आत्मा है जो विशुद्ध है, अविकारी है और सम्पूर्ण कार्यकारणभाव से अतीत है। एक सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस सम्बन्ध में जो समस्या वेदान्त के सामने आई है, वही बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय के सामने है। वास्तव में तो यह समस्या वेदान्त या ध्यान-सम्प्रदाय की ही नहीं है मानवीय

चिन्तन के हर युग में यह आधारभूत समस्या विभिन्न रूपों में आई है कि ब्रह्म यदि निर्गुण, निर्विकार है तो यह सगुण और विकारी सृष्टि उससे किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? शांकर वेदान्त का सम्पूर्ण मायावाद इसी जिज्ञासा के समाधान पर आधारित है। चीनी सूरंगम-समाधि-सूत्र में भी यह समस्या आई है। ध्यान-सम्प्रदाय में इस संप्रश्न को इस प्रकार रक्खा गया है 'विशुद्ध, निर्विकार मूल से पर्वत नदियाँ और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई। जब यह प्रश्न ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में एक ध्यानी गुरु (रोक्या एकाकु) से पूछा गया तो उत्तर-स्वरूप उसने इस प्रश्न को ही प्रश्नकर्ता के सामने दुहरा दिया विशुद्ध निर्विकार मूल से पर्वत नदियाँ और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई ? ब्रह्म और सृष्टिद्वन्द्व की समस्या को लेकर वेदान्त ने जो लम्बे विवेचन किये हैं उनसे कितना प्रभावशाली है यह प्रश्न को ही उत्तर बनाकर लौटा देना ! इसका अभिप्राय है कि उत्तर देने वाले को विकल्प में पड़ना इष्ट नहीं है। वेदान्त के विद्या और अविद्या के सारे सम्बन्ध विवेचन केवल विकल्प के ही विस्तार हैं जो निर्विकल्प की अभिव्यक्ति करने में असफल हैं। इस सम्बन्ध में कबीर वेदान्त की अपेक्षा ध्यान-सम्प्रदाय के अधिक समीप हैं क्योंकि अपने 'साहब' या 'कर्ता' के सम्बन्ध में वे भी विकल्प नहीं करते और केवल कहते हैं 'तू जैसा है तैसा रहे'' और कर्ता की गति अगम है'' या 'ऐसा लो नहि तैसा लो'' आदि। 'तू जैसा है तैसा रहे' और "ऐसा लो नहि तैसा लो" में मुझे बिलकुल 'तथता' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। परन्तु 'अंजन' और 'निरंजन' को लेकर कबीर साहब उस ध्यानी सन्त के और भी बिलकुल समान हैं जिसने प्रश्न को उत्तर बनाकर लौटाते हुए कहा था 'विशुद्ध निर्विकार मूल से पर्वत नदियाँ और महापृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई ?" निरंजन (अंजन रहित) के मूल से यह अंजन (जगत्) का पसारा कैसे फैल गया ? 'अवधू निरंजन बाल पसारा। स्वर्ग पताल बीच मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।" कैसे ? कबीर साहब कहते हैं "अंजन माँहि निरंजन रहिये।" ध्यान-सम्प्रदाय का उत्तर भी बिलकुल यही है—जग में ही अचल को देखो। और वह अचल ही सत्य है। विशुद्ध निर्विकार मूल ही पर्वत नदियों और महापृथ्वी में रूपान्तरित है। और ऐसा होते हुए भी वह उनसे अतीत है— 'राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।' या "याही में पै अगम है सो बरति रहा संसार।" इस गहरी भूमिका के कुछ नीचे उतर कर यदि हम 'निरंजन' शब्द पर विचार करें तो बौद्ध सिद्धों ने तो इसका प्रयोग किया है और उनसे ही सम्भवतः कबीर को मिला परन्तु ध्यानी सन्तों की वाणी में (जहाँ तक मैं उसका अध्ययन कर सका हूँ) यह शब्द

नहीं मिलता परन्तु अंजन और निरंजन का पूरा विचार मिलता है। ध्यान-सम्प्रदाय के विवेचन में हम देख चुके हैं कि वहां तथता के विषय में यह कहा गया है कि वह कहीं न आती है और न जाती है। जो आती है और जाती है वह माया है। कबीर साहब ने इसे यों रक्खा है "अंजन आवै अंजन जाइ। निरंजन सब घट रह्यो समाइ।" ध्यान-सम्प्रदाय भी इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है कि जो आता है और जाता है वह अंजन है और जो न कहीं आता और न जाता है वह निरंजन है तथागत है। जैसा हम आगे देखेंगे भारतीय 'धर्म सम्प्रदाय' 'निरंजन' के विचार में सन्त-मत और ध्यान-सम्प्रदाय के साथ है। जिस स्वामी सन्त ने प्रश्न को लौटाकर ही उत्तर दिया था वह यदि ऐसा न कर कबीर साहब की उपर्युक्त वाणी का ही यह देता तो उसका अभिप्राय तो बिलकुल वही होता परन्तु यह उसके लिए सम्भव नहीं था क्योंकि सुंग्-काल ९६०-१२७८ ई० है और कबीर साहब का जीवन-काल पन्द्रहवीं शताब्दी है। सब पसारा अंजन है इस अंजन में ही निरंजन भासित होता है उसमें ही व्याप्त है इसे प्रकट करने के लिए ध्यान-सम्प्रदाय की यह उपमा है कि जैसे जल में चन्द्रमा। चन्द्रमा जल के अन्दर भी है और साथ ही वह उससे न्यारा भी है। बाहर होते हुए भी अन्दर अन्दर होते हुए भी बाहर। युंग्-चिया ता-शिह् (योका दैशी) के महत्वपूर्ण शब्दों को हम पहले उद्धृत भी कर चुके हैं—'एक ही तथता, सर्वस्पर्शी अपने अन्दर सब सत्ताओं को समेटे हुए है, एक ही चन्द्रमा का प्रकाश पड़ता है जहां कहीं भी जल का विस्तार है और जल के अन्दर के सब चन्द्रमा एक ही चन्द्रमा में समाविष्ट हैं।' 'युंग् चिया-ता-शिह् का समय आठवीं शताब्दी है। अब जब कबीर (पन्द्रहवीं शताब्दी) 'जल में व्यंब प्रकासै' कहते हैं तो इसके ऐतिहासिक निष्कर्षों को हम भली प्रकार समझ सकते हैं। कबीर का यह भाव वेदान्तिक प्रतिबिम्बवाद से न आकर ध्यान-सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ 'लंकावतार-सूत्र' की अ-लिखित परम्परा से आया है, यह हम पांचवें परिच्छेद के अन्त में प्रकट कर चुके हैं। इस प्रकार 'निर्गुण' और 'ध्यान' की तत्त्व-मीमांसा के सम्बन्ध में बिलकुल एक ही बात रहती है।

ऐसा लगता है कि अद्वैत-निष्ठा में ध्यान-सम्प्रदाय भारतीय वेदान्त से भी कहीं-कहीं आगे बढ़ गया है। सम्भवतः यह उसके शून्यतावादी दर्शन और सभी प्रकार के विकल्पों के पूर्ण निषेध के कारण है। भारतीय वेदान्त में निर्विशेष अद्वैत है विशिष्ट अद्वैत है शुद्ध अद्वैत है, द्वैत अद्वैत है। अद्वैत की ये विभिन्न कोटियां क्या द्वैत को ही सिद्ध नहीं करतीं ? क्या ये अन्ततः द्वैत का समर्थन

के रूप नहीं है ? फिर यह व्यवहार-सत्य है यह परमार्थ-सत्य है ! यह सत् है यह असत् है ! क्या यह सत्य का द्वैत नहीं है ? ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। यहाँ भी मिथ्या जगत् के ऊपर ब्रह्म का सत्यत्व खड़ा किया गया है। इस प्रकार की अनुभूति रखने वाले को अभी पूरी अद्वैत निष्ठा प्राप्त नहीं हुई है। ध्यानी साधक इस स्थिति से अतीत हैं। वे एक अद्वैत के सामने दूसरा अद्वैत खड़ा नहीं करते एक सत्य को अतिक्रमण कर दूसरे सत्य तक पहुँचने की बात नहीं करते, बल्कि द्वैत में ही अद्वैत को देखते हैं व्यवहार में ही परमार्थ को खोजते हैं। दूसरे शब्दों में जो संसार है वही उनके लिए निर्वाण है। इस प्रकार बिना द्वैत को स्थापित किये वे उसका अतिक्रमण कर बैठे हैं। न व्यावहारिक क्षेत्र में न तात्त्विक चिन्तन में वे किसी प्रकार पक्ष-विपक्ष की स्थापना करते हैं। कबीर के समान उनके लिए यह साधारण अलौकिक अज्ञान ही है। 'पखा पखी के पेखणैं सब जगत भुलाना।' तर्क-वितर्क से विमुक्त पक्ष-विपक्ष से दूर हद और बेहद से अतीत यही वास्तविक अतीत और परम दर्शन है। वेदान्त अनेक को घटा-घटा कर अन्त में एक में लाकर उसको रख देता है। 'एकमेवाद्वितीयम्' से आगे वह नहीं जाता। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय पूछता है—अनेक को घटा-घटा कर तुमने एक में समाविष्ट कर दिया, अब इस एक को घटाकर तुम कहाँ ले जाओगे ? इसी को वह दूसरी तरह भी रखता है—सब वस्तुएं अन्त में एक में लीन हो जाती हैं। परन्तु इस एक का भी अन्तिम विलय कहाँ है ? इस एक को भी कहाँ लीन होना होगा ? वेदान्त एक पर—अद्वैत पर—रुक गया है। ध्यान-सम्प्रदाय ने साहसपूर्वक उसके पार भी झाँकने का प्रयत्न किया है। धर्मगुरु शामो-न्नू का यह कहना ठीक ही था 'एकत्व को भी जब पकड़ा जाता है तो वह लक्ष्य से दूर चला जाता है। इसलिए ध्यान साधना कहती है "इस एक को भी तुम मत पकड़ो।" इस प्रकार ध्यान सम्प्रदाय की परम-निष्ठा वेदान्त से अधिक दूर और दूर तक (शून्य) तक जाने वाली है। इससे भी दूर वह तब चली जाती है जब वह शून्य में भी रमने को नहीं कहती। 'आभ्यन्तरिक शून्य में भी मत रमो।"

अब हम ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्त्वज्ञान को मध्यकालीन निर्गुनिये सन्तों की साधना और उनके दार्शनिक विचारों के साथ मिलाकर कुछ देखेंगे। इस सारे विवेचन में हमें इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए कि ध्यान-सम्प्रदाय का स्वर्ण-युग सातवीं शताब्दी ईसवी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक है जबकि कबीर का जीवन-काल पन्द्रहवीं शताब्दी है और निर्गुणवादी सन्तों की परम्परा को उनसे एक-दो शताब्दी पूर्व ही से पाया

जा सकता है। यह एक साधारण ऐतिहासिक तथ्य है कि मध्यकालीन निर्गुण-वादी सन्त कई-एक बातों में नाथ-पन्थी योगियों के माध्यम से बौद्ध सिद्धों के उत्तराधिकारी थे और नाथ-पन्थ भी बौद्ध धर्म का ही एक रूप था। ध्यान-सम्प्रदाय के साथ मिलान करने पर यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। हम यहां इस सत्य से इन्कार नहीं करते कि सन्तों की मूल साधना वैष्णव है। इसमें बिलकुल भी सन्देह नहीं है। वे राम नाम के एकान्त उपासक हैं, बुद्ध की शरणागति की बात बिलकुल उनके शब्दों या साखियों में नहीं आती। इसलिये वे मुख्यतः वैष्णव भक्त साधक हैं। यह बात समझ कर ही हम उन पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात कह सकते हैं या उनकी साधना के साथ बौद्ध धर्म या उसके किसी सम्प्रदाय के सम्बन्ध को दिखा सकते हैं। जिस समय सन्त-साधना भारत में फल-फूल रही थी बौद्ध धर्म भारत में प्रायः तिरोहित हो चुका था। अतः सन्तों की वाणियों में विशेषतः कबीर की वाणी में कुछ क्षीण और विस्मृत प्रतिध्वनियां ही बौद्ध धर्म की साधना की मिलती हैं। बाद के सन्तों में वे और भी कम होती गयी हैं और बौद्ध धर्म के प्रभाव के लक्षण भी क्षीण होते गये हैं। वस्तुतः सन्त-साधना पर बौद्ध धर्म का जो प्रभाव आया है वह एक अज्ञात और प्रायः विस्मृत साधना-परम्परा के रूप में मौखिक रूप से नाथ-पन्थियों के माध्यम से आया है और उसका रूप साधनात्मक और तात्त्विक ही है, जिसके मार्गों को पकड़ कर हम बौद्ध साधना के साथ सन्तों की साधना के सम्बन्ध को कुछ स्पष्टतापूर्वक समझ सकते हैं।

'ध्यान' और बौद्ध सिद्ध

ऐतिहासिक क्रम से बौद्ध सिद्धों नाथपन्थी योगियों और निर्गुणिये सन्तों के साथ ध्यान सम्प्रदाय के सम्बन्ध की मीमांसा हम करेंगे। ध्यान-सम्प्रदाय छठी शताब्दी ईसवी से चीन में और उसके बाद जापान में प्रवाहित हुआ और उससे पहले भारत में उसकी एक अज्ञात परम्परा थी, जिसके प्रतिनिधि रूप बोधिधर्म ने इस सम्प्रदाय को चीन में स्थापित किया। तान्त्रिक बौद्ध धर्म का उदय महायान के उत्तरकालीन विकास के रूप में करीब छठी शताब्दी से ही हुआ जिसका अन्तिम प्रतिनिधित्व बौद्ध सिद्ध करते हैं। तान्त्रिक साधना या मन्त्रयान के रूप में एक स्वतन्त्र बौद्ध सम्प्रदाय चीन और जापान में प्रचलित है। बौद्ध सिद्धों के साथ वास्तव में उसी की तुलना की जा सकती है, ध्यान सम्प्रदाय का तान्त्रिक साधना से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ध्यान-सम्प्रदाय एक अत्यन्त विमल और गम्भीर आत्म चिन्तन की परम्परा पर आश्रित साधना-पथ है।

विनय-पिटक के नियम उसके भिक्षुओं पर लागू हैं और वे उनका कड़ाई से पालन करते हैं। मांस भक्षण तक नहीं करते। तान्त्रिक बौद्धों की गुह्य साधनाओं की गन्ध भी वहां नहीं है। चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में हम पढ़ते हैं कि एक बार एक निरंकुश चीनी सम्राट् ने ध्यान-सम्प्रदाय के एक भिक्षु के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह उसकी पुत्री के साथ विवाह कर ले। जब भिक्षु ने इसे स्वीकार नहीं किया तो सम्राट् ने उसे मरवा डाला। अन्तिम क्षण में भिक्षु ने सम्राट् से कहा "चार महाभूतों से मेरा आरम्भ से ही कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। इन पंच स्कन्धों ने आपको धोखा दिया है एक शरीर का भ्रम आपको दिखाते हुए। आपकी तलवार मेरे सिर को उसी प्रकार काट सकती है, जैसे यह बसन्त-वायु इस पेड़ से इसकी फूल-पत्तियों को गिराती है।" कहां इतनी उच्च आचार-साधना और कहां बौद्ध तान्त्रिकों की वाम्मा-चारों, डाकिनियों और योगिनियों सम्बन्धी अरुचिकर प्रतीकवाद! बौद्ध सिद्धों के दोहों और चर्यापदों को पढ़ने से विदित होता है कि उनमें बौद्ध धर्म और उसके साहित्य की एक दूर की प्रतिध्वनि ही है उसके मूल रूप से उनकी अवगति या सम्बन्ध सीधा और साक्षात् नहीं है। ऐसा भी लगता है कि बुद्ध के मूल नीतिवादी साधना-दर्शन को जिसे वस्तुतः ही 'कठिन मार्ग' की संज्ञा दी गई थी, जब उत्तरकालीन भारतीय बौद्ध भिक्षु अपने जीवन में निभा नहीं सके और अपने स्वीकृत धर्म की निगाह में ही गिरने लगे तो उन्होंने किसी प्रकार समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अपनी भोगवादी दृष्टि को ही एक दर्शन का रूप दे डाला जसे 'सहज मार्ग' की संज्ञा दी और तिलोपा ने तो नीम-दैया को एक तुस्से का ही रूप दे डाला। 'जिम विस भक्खइ विसहि पलुत्ता। तिम भव भुंजइ भवहिं ण जुत्ता।' अर्थात् "जिस प्रकार विष के भक्षण करते रहने से मनुष्य विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार भव का भोग करने से मनुष्य फिर भव में युक्त नहीं होता।" इस नई दृष्टि का बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्शवाद का क्या सम्बन्ध है? यह तो एक प्रकार उसके प्रति विद्रोह है। जो 'कठिन' था उसे 'सहज' या स्वाभाविक बनाने का उद्योग है। जो विनय-संयम तथोक्त सिद्धों के जीवन में चल रहा था उसी को दार्शनिक समर्थन देने का उद्योग है। हम जानते हैं कि इस उद्योग को कबीर ने प्रशंसनीय नहीं माना। इसलिये उन्होंने कहा—

"सहज सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोइ॥"

और इसीलिये उन्होंने सिद्धों को केवल माया के खेल खेलने वाला ही बताया। "सिध चौरासी माया महि खेला।" बौद्ध सिद्ध अपने सहजवाद के समर्थन में मध्यममार्ग को रखते थे परन्तु कबीर ने बतला दिया कि वास्तविक 'मधि' को समझने में वे षटदर्शनों के समान ही असफल रहे हैं। "मधि की अंग" में ही वे कहते हैं "षट दरसन संसै पड़्या औ चौरासी सिध।" इस प्रकार वास्तविक मध्यम मार्ग के सम्बन्ध में कबीर बौद्ध सिद्धों से दूसरे प्रकार से सोचते हैं और नैतिक आग्रह उनकी विशेषता है। वस्तुत कबीर ने नैतिक दृष्टि से शाक्तों की जो घोर निन्दा अनेक जगह की है ('साकत सुनहा दोनों भाई') उसमें काफी हद तक उपरोक्त बौद्ध तांत्रिक मतवादी भी सम्मिलित हैं। 'जैन बौद्ध और साकत सैना' में भी यही ध्वनि है। (यह उल्लेखनीय है कि जैन धर्म में भी तांत्रिकता इस समय घुस गई थी)। कबीर तो क्या, स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी कलि-काल के 'सिद्ध' और 'योगी' पुरुषों का जो परिचय दिया है, उसमें अभक्ष्यभक्षण का खाना उनका एक मुख्य लक्षण बतलाया गया है "... अभक्ष्यभक्ष जे खाहिं। तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर।" इस प्रकार बौद्ध सिद्धों के अनाचार की विगर्हणा प्रसिद्ध है। यह कितना आश्चर्यजनक है कि नीतिवादी निर्गुणिये वैष्णव सन्तों का जो सहज था सहज ही ऐन्द्रिय वासनाओं के बन्धन और आसक्ति से ऊपर उठना था, 'सहज' समाधि प्राप्त करना था, 'सहज शून्य' में रमना था वही साधना का लक्ष्य ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों का भी है। इस प्रकार बौद्ध होते हुए भी ध्यान-सम्प्रदाय अपनी 'सहज' साधना के सम्बन्ध में बौद्ध सिद्धों की अपेक्षा सन्तों के अधिक निकट है और नैतिक नियमों में कभी शिथिलता का प्रदर्शन नहीं करता। कबीर साधक के लिए जीवन को चलाने के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपभोग आवश्यक मानते थे। तभी तो उन्होंने कहा है, "अघीए भामु अघीए पंगु।" और भगवान् से दो सेर चून (आटा) आध सेर दाल पाव भर घी और कुछ कपड़े-लत्ते माँगे हैं। ध्यानी-साधक भी इनके महत्व को जानते हैं और इनका उचित उपयोग बुरा नहीं मानते। हम पहले देख चुके हैं कि जब एक ध्यानी साधक से पूछा गया कि तुम क्या अभ्यास करते हो, तो उसने उत्तर दिया "जब मुझे भूख लगती है तो मैं खा लेता हूं जब मैं थक जाता हूं तो सो जाता हूं।" इसी प्रकार जब एक अन्य ध्यानी सन्त से पूछा गया था कि 'ताओ' (परम सत्य) क्या है, तो उसने कहा था "तुम्हारा दैनिक जीवन!" कबीर की 'सहज' जीवन-साधना बिलकुल यही थी।

यद्यपि साधना के मोटे रूप में ध्यान सम्प्रदाय का बौद्ध तन्त्र-यान या सहज-यान से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं फिर भी बौद्ध सम्प्रदाय होने के नाते दोनों में अनेक समानताएं हैं साधना की कुछ विशिष्ट बातों में और अभिव्यक्ति में भी। ध्यान-सम्प्रदाय में मन्त्रों के जप का वैसे विशेष महत्त्व नहीं माना जाता वह ज्ञान और कर्म-योग *का मार्ग है। परन्तु फिर भी उसके मूल ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में एक परिवर्त* (परिच्छेद) धारणी के रूप में है जो मन्त्रयान की ही एक प्रवृत्ति है। सूरंगम-समाधि-सूत्र में भी 'मन्त्र' है जो तान्त्रिक धर्म की प्रवृत्ति का ही सूचक है। इसी प्रकार जापान के ध्यान-सम्प्रदाय के ध्यानागारों में प्रतिदिन 'प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र' का पाठ किया जाता है जिसके अन्दर महामन्त्र है 'गते गते पारगते पारसंगते बोधि, स्वाहा'। इसी प्रकार कई अन्य मन्त्रों का पाठ ध्यानागारों में किया जाता है। एक का उदाहरण है "ओम् रुरु रुरु स्फुहि स्फुहि ज्वाला ज्वाला प्रज्वाला प्रज्वाला तिष्ठ तिष्ठ।" निश्चयतः यह मन्त्रयान का ही प्रभाव है, जो 'शिगोन्' नाम से चीन में आज भी प्रचलित है। सुंग्-काल (९६० १२७८ ई०) में ध्यान-सम्प्रदाय पर मन्त्रयान का प्रभाव पड़ा, जिसके चिह्न जापान में ध्यान-सम्प्रदाय पर आज तक पाये जाते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में अनेक ऐसे रूपकों और प्रतीकों का प्रयोग किया गया है जो बौद्ध सिद्धों के साहित्य में भी हमें उसी या कुछ परिवर्तित रूप में मिलते हैं। स्वयं 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' में 'वज्र' शब्द का प्रयोग 'मन के सार' के प्रतीक रूप में किया गया है।[1] अन्य अनेक ऐसे प्रयोगों के सम्बन्ध में हम नाथ-योगियों और निर्गुनिये सन्तों को भी साथ लेते हुए कुछ विचार आगे करेंगे। इस प्रकार इन सब बातों को देखते हुए ऐसा निश्चयतः कहा जा सकता है कि बौद्ध सम्प्रदायों के रूप में और इन दोनों के उदय-काल को देखते हुए ध्यान-सम्प्रदाय और बौद्ध तान्त्रिक योग में समानताएं हैं और हो सकती हैं। हम पहले (पांचवें अध्याय में) देख ही आये हैं कि दोनों का ही दार्शनिक आधार बौद्ध धर्म के विकास की वह अवस्था है जो निर्वाण और संसार को, ममता और बोधि को, एक अज्ञानी जन और बुद्ध को अभिन्न मानने की ओर अग्रसर है और जिसमें अद्वैतवाद को उसके निश्चित निष्कर्षों तक ले जाया गया है। प्रोफेसर येन्-चि चट ने डॉ० डब्लू० वाई० इवान्स वेन्ट्ज द्वारा सम्पादित 'टिबेटन योग एण्ड सीक्रेट

१ 'सूत्र ऑफ वे-लैंग (हुइ-नेंग्), पृष्ठ ४२।

डॉक्ट्रिन्स'[1] में अपनी 'योग-सम्बन्धी-टीका' (योगिक कमेण्टरी) लिखते हुए कहा है कि "ध्यान-सम्प्रदाय और तन्त्र-यान दोनों के अपने व्यक्तिगत अनुभव और अध्ययन से मुझे पता चलता है कि ध्यान-सम्प्रदाय और महामुद्रा की विकसित तान्त्रिकता की शिक्षाएं समान हैं।"[2] निश्चय ही यह कहना बहुत अधिक है। ध्यान की प्रक्रिया महामुद्रा के तान्त्रिक योग और उसकी गुह्य साधनाओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती। दोनों बिल्कुल भिन्न मार्ग हैं एक बौद्ध बौद्धिवाद से बिल्कुल बचा हुआ ध्यान-मार्ग है दूसरा उससे बिल्कुल विपरीत दिशा में जाकर साधना करने वाला। प्रोफेसर चेन्-चि चाङ् का यह कहना भी कि "ध्यान-सम्प्रदाय गूढ़ महामुद्रा है जबकि महामुद्रा प्रकट ध्यान", सत्य से बहुत दूर का कथन मालूम पड़ता है। कोई निष्पक्ष विचारक उनके इस कथन से इस हद तक सहमत नहीं हो सकता। फिर भी ध्यान-सम्प्रदाय और बौद्ध तान्त्रिक-धर्म के सम्बन्ध में प्रोफेसर चेन्-चि चाङ् ने जो कुछ भी उपर्युक्त ग्रन्थ में अपनी "योगिक कमेण्टरी" में पृष्ठ तेतीस-चवालीस में कहा है वह विचार करने योग्य है और उससे ध्यान-सम्प्रदाय और बौद्ध तन्त्र-यान के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और। तान्त्रिक बौद्ध धर्म के महान् आचार्य पद्मसम्भव की तिब्बती भाषा में लिखी एक साधना-पुस्तक मिली है जिसे 'दि टिबैटन बुक ऑव दि ग्रेट लिबरेशन' शीर्षक से डॉ॰ डब्ल्यू॰ वाई॰ इवेन्स वैन्ट्स ने अंग्रेजी में सम्पादित किया है।[3] (अनुवादक अन्य विद्वान् हैं)। इस पुस्तक में 'एक मन' के ज्ञान के द्वारा निर्वाण के साक्षात्कार की प्रक्रिया का वर्णन है। निश्चयतः यह मूल प्रक्रिया ही ध्यान-सम्प्रदाय और विशेषतः उसके आचार्य हुआङ्-पो की है। एक विशेष बात जो हमें यहां मिलती है, वह है कि 'एक मन' के अन्य नाम इस पुस्तक में दिये गये हैं, जिनमें एक 'महामुद्रा' भी है।[4] इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के साथ तान्त्रिक बौद्ध धर्म के सम्बन्ध के लक्षण मिलते हैं, जो कुछ हद तक अनिवार्य भी हैं, क्योंकि दोनों ही बौद्ध सम्प्रदाय हैं। इस प्रकार इस बात की भी संगति मिल जाती है कि जिन अनेक बातों में निर्गुणपन्थी साधक बौद्ध सिद्धों की साधना के ऋणी हैं उन बातों में ध्यान-सम्प्रदाय से भी उनकी समानता है। बोधिधर्म ५२० या ५२६ ई॰ में चीन

---

१ ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९५८ (द्वितीय संस्करण)।

२. पृष्ठ पैंतीस-चवालीस।

३ ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, १९५४।

४ पृष्ठ २ ६।

गये और पद्मसम्भव ७४७ ई० में तिब्बत। दो शताब्दियों के व्यवधान से बाहर जाने वाले ये दोनों भारतीय बौद्ध आचार्य साधना के कुछ समान तत्वों को लेकर गये हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है और जिन देशों में ये गये वहां कुछ भिन्न-भिन्न रूप से उनका विकास हुआ हो तो यह भी समझा जा सकता है। ध्यानी साधक हुआङ्-पो के प्रवचनों के अंग्रेजी अनुवादक जोह्न ब्लोफेल्ड (चु-चन्) ने हुआङ्-पो के साधना-मार्ग की समानता पद्मसम्भव के ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थ में वर्णित साधना-मार्ग से दिखाई है।[1] अतः सूक्ष्म साधना के सम्बन्ध में ध्यान-सम्प्रदाय की बौद्ध तन्त्र-यान से भी कुछ समानताएं अवश्य हैं और हो सकती हैं, जिनका तात्विक अध्ययन आवश्यक है।

'ध्यान' और नाथ-पन्थ

तान्त्रिक बौद्ध धर्म, नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थी साधना यह पूरी की पूरी कड़ी ध्यान-सम्प्रदाय के समान 'शास्त्रों से बाहर एक विशेष सम्प्रेषण" है। यह बात बड़े महत्व की है और इन साधना-धाराओं की अनेक समानताओं की इस तथ्य से बड़ी सन्तोषजनक व्याख्या हो जाती है। बौद्ध सिद्धों का तो कुछ कहना ही नहीं, गुरु गोरखनाथ और कबीर आदि सन्तों ने भी परम्परागत शास्त्रीय परम्परा से अपने को प्रायः अलग ही रक्खा है। उन्होंने कहीं-कहीं इस परम्परा के प्रति तिरस्कार-बुद्धि भी प्रदर्शित की है। गुरु गोरखनाथ 'उलटि वेद' की बात कहते हैं और कबीर ने तो कहा ही है कि "लोक वेद कुल की मरियादा यहै गले में फांसी।" स्वानुभूत सत्य से बड़ी उनके लिए और कोई गवाही नहीं है और उसे प्राप्त करने के पश्चात् ही वे 'आगम-निगम' के झूठा होने की घोषणा कर देते हैं। "कहै कबीर मन मनहिं समाना तब आगम निगम झूठ करि जाना।" यह कितना सार्थक है कि "मन मनहिं समाना" की साधना बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय की साधना ही है क्योंकि सापेक्ष व्यक्तिगत मन को निरपेक्ष समष्टिगत मन में समाने की बात ध्यान-सम्प्रदाय में—केवल ध्यान-सम्प्रदाय में—प्रभावशाली ढंग से कही गई है और दो मनों का सिद्धान्त उसका अपना है जिसमें एक मन व्यक्तिगत है दूसरा निरपेक्ष जिसे 'मन का सार' कहा गया है और परम सत्य का रूप दिया गया है। कबीर ने इन्हें क्रमशः 'इन मन' ('यह मन') और('उन मन' ('वह मन') कहा है। इस पर हम विस्तार

---

१ दि ज़ेन् टीचिंग ऑव हुआङ्-पो ऑन् दि ट्रांसमिशन ऑव माइण्ड पृ० ६ (अनुवादक की भूमिका)।

से बाद में पायेंगे। यहाँ केवल शास्त्रों से बाहर की परम्परा पर विचार कर रहे हैं। कबीर ने कहा है कि अज्ञानी होने की अवस्था में ही उन्होंने 'लोक और वेद' का अनुगमन किया, परन्तु जब गुरु ने आगे से आकर उन्हें ज्ञानसूत्र ज्ञान रूपी दीपक हाथ में दे दिया तो उन्होंने 'लोक-वेद' को छोड़ दिया। "पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथि। आगे थैं सतगुर मिल्या दीपक दीया हाथि।" उपनिषद् के ऋषि के समान ("अन्धा इवे अन्धेन नीयमाना") कबीर ने समझ लिया था कि कर्मकाण्डमय धर्म अन्धेर बेड़ा है। कबीर उसमें डूबने वाले ही थे कि गुरु ने बीच में आकर कृपा की और वे अचानक ही उस पर से कूद पड़े और उबर गये। "डूबे थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमंकि। भेरुया देखा जरजरा तब ऊतरि परे फरंकि।" 'कागद की लेखी' बात को कबीर कदापि प्रमाण मानने को उद्यत नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदास, जो 'श्रुति-सम्मत' भक्ति-मार्ग को मानने वाले थे, गुरु गोरखनाथ और कबीर की इस प्रवृत्ति को इसीलिये शुभ नहीं मानते थे और इसीलिये उन्होंने इन दोनों की वेद-विरोधी प्रवृत्ति की भर्त्सना भी की है। गोरखनाथ ने जिस योग को जगाया, उसके सम्बन्ध में उनका कहना है कि उसने लोगों के हृदय से भक्ति को भगा दिया है और अनायास ही लोगों को वेद के आदेशों से अलग किया है "गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग निगम नियोग ते सो केलि ही छरयो सो है।" इसी प्रकार साखी-सबदी कहने वाले निर्गुण-पन्थी साधुओं से भी वे इसीलिये खिन्न हैं कि वे "निन्दहिं वेद पुरान।" इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ दोनों ऐसी साधना-धारा से सम्बन्धित थे जो ध्यान-सम्प्रदाय के समान बिलकुल "शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण" थे। अतः स्वभावतः इन सब साधना-धाराओं के समान स्रोत की कल्पना की जा सकती है, जो आदिम काल से ही भारतीय साधना के इतिहास में किसी न किसी रूप में उसकी मूल धारा से एक भिन्न परम्परा के रूप में दृष्टिगोचर होती रही है। यदि वेद की परम्परा को हम 'ब्राह्मण्य' की परम्परा कहें तो इसको हम आसानी से 'श्रामण्य' की परम्परा कह सकते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म इस 'श्रामण्य' की परम्परा के ही रूप हैं। ध्यान सम्प्रदाय यद्यपि बौद्ध धर्म का ही एक सम्प्रदाय है परन्तु यह बौद्ध शास्त्रों को भी प्रमाण-रूप ग्रहण नहीं करता और इसीलिये उसकी भी कुछ अन्य बौद्ध सम्प्रदायों द्वारा उसी प्रकार भर्त्सना की गई है, जिस प्रकार नाथ-योगियों या निर्गुणपन्थी साधुओं की गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा। चीन और जापान में ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास से यह बात भली प्रकार ज्ञात हो जाती है, जहाँ अन्य सम्प्रदायवालों ने ध्यान-गुरुओं के बौद्ध ग्रन्थों को भी न मानने की भर्त्सना

की है। भारत में ध्यान-सम्प्रदाय के अट्ठाईसवें धर्मगुरु बोधिधर्म के समय तक ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा गुरु-शिष्य क्रम से बिलकुल अज्ञात रूप में चलती रही, इस बात की भी समानता नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ की साधना धाराओं के स्रोतों की खोज करने पर देखी जा सकती है। ये बिलकुल मौलिक रूप में गुरु-शिष्य क्रम से आई हुई साधना धाराएं हैं, जिनका परम्परागत शास्त्रीय धारा से समानान्तर रूप में विभिन्न अस्तित्व रहा है।

नाथ-पन्थ के सम्बन्ध में एक विशेष बात और। नाथ-पन्थ वस्तुतः बौद्ध धर्म का ही एक रूप है, अन्य रूप। इस बात को हिन्दी साहित्य के अध्ययन में बहुत कम समझा गया है। न तो हिन्दी साहित्य के आदि-काल सम्बन्धी विवरणों में और न नाथ-पन्थ पर लिखे गये स्वतन्त्र विवरणों में इस बात की सम्यक् अवगति दिखाई पड़ती है कि नाथ-पन्थ का बौद्ध धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बौद्ध तान्त्रिक साधना के साथ नाथ-पन्थ के कुछ समान आचार्य या गुरु हैं, इस सामान्य तथ्य की स्वीकृति अवश्य की जाती है परन्तु विवेचनों में सब बातों को पुराणों आदि की पृष्ठभूमि में ही व्याख्यात करने का प्रयत्न किया जाता है। यह पद्धति इन साधनाओं के इतिहास के अनुकूल नहीं है। हिन्दी साहित्य के आदि-काल की बौद्ध पृष्ठभूमि है, इसे अधिक प्रशस्त रूप में दिखाये जाने की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य का प्रथम मत्वशाषक इतिहास जिन आचार्य चक्र-शिरोमणि ने लिखा वे 'रागात्मक' तत्व के पीछे इतने पागल थे और मन्त्र-साधना से इतने चिढ़े हुए कि उन्हें इन दोनों में कोई सम्बन्ध ही नहीं नजर आता था। न मालूम वे कैसे विचारक थे और भारतीय साधना, साहित्य और संस्कृति की क्या व्यापक व्याख्या उन्हें मान्य थी? उनके बाद हिन्दी साहित्य में, विशेषतः आदि-काल और नाथ-पन्थ के सम्बन्ध में जितनी तुनतुनी बजती है वे मूल बात को छोड़कर अवान्तर प्रसंगों और आत्मिक बकवासों में जाने में इतनी रत है कि जिस वस्तु को वे स्वयं नहीं समझते उसे ही दूसरों को समझाना चाहते हैं। हां हमसे अधिक नाथ-पन्थ को बंगाली विद्वानों ने समझा है। बंगला साहित्य के भी आदि-काल की बौद्ध पृष्ठभूमि है और इसे उन्होंने हमसे अधिक सुनिश्चित और स्पष्ट रूप से समझा है और उसका मूल्यांकन भी किया है। आचार्य दिनेशचन्द्र सेन ने स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया है कि नाथ-पन्थ बौद्ध धर्म का ही एक रूप है।[1] उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि मध्यकालीन वैष्णव बंगाली कवियों के काव्यों में विशेषतः धर्म-मंगलों में

---

१ हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर पृष्ठ १४ (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५४ ई०)।

मीननाथ, गोरखनाथ, हाड़ीपा और कानुपा का उल्लेख बौद्ध सन्तों के रूप में ही किया गया है।[1] मध्य-कालीन उड़िया साहित्य से भी इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हमें मिलते हैं। इन सब की संगति में ही हिन्दी नाथ-साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है और उसके मूल स्रोतों को इसी दिशा में समझा जा सकता है।

इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर अभी विद्वानों का ध्यान बिलकुल नहीं गया है कि 'नाथ' बुद्धों का एक सामान्य नाम है और इससे भी अधिक यह महत्त्वपूर्ण बात कि नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ का आत्म-स्वरूप जो स्वानुभववेद्य ज्ञान है (शास्त्र-प्रमाणत्व के विरोध में) उसे ही उपदेश करते 'नाथ' (बुद्ध) एक ऐसे ग्रन्थ में दिखाये गये हैं जो ईसा की दूसरी और पाँचवीं शताब्दियों के बीच की रचना है अर्थात् उन सब पुराणों और हठयोगी ग्रन्थों से पूर्व की जो पौराणिक रूप से शिव आदि के साथ नाथ-पन्थ का सम्बन्ध दिखाते हैं। लङ्कावतार-सूत्र[2] में आया है—"न देशयन्ति च नाथाः प्रत्यात्मगतिगोचरम्"। इस परम्परा से नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित हैं उनके अतिरिक्त तत्त्व बाद के हैं। यह भी सोचना चाहिये कि यदि पुराणों के प्रकाश में ही हमें गोरखनाथ और कबीर को समझना है तो इन महात्माओं की युग-युगों से चली आती हुई शास्त्रों से बाहर की परम्परा का क्या होगा और शास्त्र प्रमाणत्व के विरोध में उनके सरल अनुभव ज्ञान का सारा इतिहास कहाँ चला जायगा?

अस्तु, हम पहले (लङ्कावतार-सूत्र के विवेचन में) और अभी ऊपर देख चुके हैं कि ध्यान-सम्प्रदाय में स्व-संवेद्य ज्ञान ही सब कुछ है। "तुम्हें दूसरे के द्वारा इस (सत्य) को नहीं खोजना चाहिये।" बोधिधर्म ने यह बात तुंग्-स्वान् से कही थी और यह ध्यान-सम्प्रदाय की जान है। यह बात सन्त-साधना से बिलकुल मिलती है, जिसके लिए भी सबसे सच्ची साखी आँख की ही है। "साखी आँखी ज्ञान की।" 'आँखों की देखी' अर्थात् स्वानुभूत सत्य ही निर्गुनिये सन्तों के लिए सबसे बड़ी गवाही है। कबीर की साखियों में एक "परचा को अंग" है। अन्य सन्तों ने भी 'परचा' या 'परिचै' की बात बार-बार कही है। गुरु गोरखनाथ ने भी इन शब्दों का प्रयोग बहुत किया है। यह परिचय सत्य

---

१ हिस्ट्री ऑव बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ११ (द्वितीय संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५४ ई०)

२ पृ० ५९-५२।

का स्व-संवेद्य ज्ञान ही है उसका सीधा आत्मगत परिचय ही है। हम पीछे ध्यान-सम्प्रदाय की साधना का विवेचन करते समय देख चुके हैं कि सत्य का यह सीधा परिचय ध्यानी साधकों के लिए कितना महत्वपूर्ण रहा है और इसके अभाव में शास्त्रज्ञानसम्पन्न विद्वान् भी कितने हास्य के विषय बनाये गये हैं। हमने देखा है कि फू नामक एक जापानी बौद्ध भिक्षु निर्वाण-सूत्र पर प्रवचन करता हुआ धर्मकाय की व्याख्या कर रहा था। उसे देखकर यंमु-वाज नामक ध्यानी साधु को हँसी आ गई। विद्वान् भिक्षु को सन्देह हुआ कि उसने कोई गलत व्याख्या की है। इसलिये प्रवचन के बाद वह अपनी गलती समझने के लिए उस ध्यानी सन्त के पास गया। ध्यानी सन्त ने उसे बताया 'तुम्हारी व्याख्या में कोई दोष नहीं था। मैं यह देखकर हँसा कि जिस वस्तु का तुम विवेचन कर रहे हो, उसका प्रत्यक्ष, सीधा ज्ञान तुम्हें नहीं है। फू जैसे ही किसी पण्डित को प्रवचन करते देखकर कबीर को भी हँसी आ गई थी और उन्होंने कहा था, 'पढ़ि पढ़ि पण्डित बेद बखानै। भीतर हुती बसत न जानै।" जिसको स्वयं अनुभव नहीं वह मर्म को नहीं समझ सकता। "परचै बिना मरम को पावै।" अतः पहले 'परिचय' प्राप्त करना चाहिये बाद में अर्थ विचारना चाहिये तो अर्थ मिल जाता है। "अनभै हूवै तो अर्थ बिचार।" यही बात बिल्कुल छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् ने कही थी, यह हम पहले देख चुके हैं। अतः स्वानुभव पर अत्यधिक जोर देने में निर्गुण-पन्थ और 'ध्यान'-मत दोनों समान हैं। इस सम्बन्धी अभिव्यक्ति में भी भारी समानता है। ध्यानी सन्त स्वानुभव को पानी पीने के समान बताते हैं। "जो पानी को पीता है, वह उसके स्वाद को जानता है। कबीर साहब अधिक तीव्रतापूर्वक इसी बात को यों रखते हैं— 'यदि तुम्हारा पैर आग पर पड़ा है तो तुम आग के जलाने के स्वभाव को समझ सकते हो। जब तक आग पर पैर नहीं पड़ता, तब तक केवल 'आग' 'आग' कहने से आग जला नहीं सकती।' "आगि कह्यां दाझै नहीं जे नहीं चंपै पाइ।" स्वानुभव बिना सब कुछ ज्ञान छूछा है निरर्थक है। कबीर का यह कहना कि उन्होंने अपने अनुभव से संसार को पार किया है "अनभै उतर्‌या पार" बिल्कुल किसी ध्यानी सन्त के मुख से निकली वाणी मालूम पड़ती है और इसी प्रकार "करत बिचार मनहि मन उपजी" वाली बिल्कुल ध्यान-सम्प्रदाय की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है जो 'अपने स्वभाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना' पर जोर देती है। ध्यान-सम्प्रदाय के समान सम्पूर्ण सन्त-साहित्य भी अनुभव का विस्तार ही है। "अनुभव की बात कबीर कहै" यह एक कबीर-वाणी है। इसे बिल्कुल ध्यान-वाणी माना जा सकता

है। कबीर मानते हैं कि जो कुछ उन्होंने कहा है सब 'साखी' या साक्ष्य है। "साखी कहै कबीर।" सम्पूर्ण 'ध्यान'-साहित्य भी केवल 'साखी' मात्र है।

गुरु-महिमा और साखी

एक महत्वपूर्ण समानता की बात और भी इन सब साधना धाराओं में मिलती है, जो 'शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण' मानी जा सकती है। वह है गुरु-महत्व की बात। यद्यपि गुरु-महिमा की बात श्रुतियों में भी आई है और कहा गया है कि "उसको जानने के लिए गुरु के पास ही जाना चाहिये" ("तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्"), परन्तु यह गुरु-महत्व वहां फिर भी सीमित है शास्त्र-महत्व के द्वारा। ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान को जानने के लिए हमें गुरु के पास जाना चाहिये परन्तु उस ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रमाण तो शास्त्र ही है ("शास्त्रयोनित्वात्")। अतः परम्परावादी वैदिक धारा में हमें सर्वत्र शास्त्र महिमा मिलेगी। गीता में भी शास्त्र-विधि के उत्सर्ग को अच्छा नहीं माना गया है और 'शास्त्रविधानोक्त' को जानकर ही कर्म करने का आदेश दिया गया है। परन्तु जो साधनाएं सत्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के शास्त्र प्रमाण को स्वीकार नहीं करतीं और न शास्त्र-परम्पराओं से ही अपने को बांधती हैं उनके पास सत्य को या स्वानुभव को परखने की क्या कसौटी है और उनकी परम्परा में एकसूत्रता लाने वाला तत्व क्या है? निश्चयतः गुरु-शिष्य के क्रम से सत्य या स्वानुभव का सम्प्रेषण ही। अतः हम देखते हैं कि 'साखी' का यहां विशेष महत्व है, और यह परम्परावादी धारा के 'शास्त्र' के ही प्रायः समान है। जो स्वानुभव एक सन्त को हुआ है, वह सच्चा है या मिथ्या, इसका प्रमाण क्या है? प्रमाण है कि उसका कोई साखी बने, गवाही बने अर्थात् ऐसा कोई सन्त मिले या गुरु मिले जो अपने अनुभव के आधार पर गवाही दे सके कि तेरा अनुभव सच्चा है। अनेक सन्तों ने इसी प्रकार पिछले सन्तों की साख भरी है और वे स्वयं दूसरों के लिए गवाही बने हैं। सन्तों की 'साखी' का यही वास्तविक मर्म है। कबीर साहब गुरु गोरखनाथ की गवाही देते हुए कहते हैं "साखी गोरखनाथ ज्यूं अमर भये कलि माहि।' हम जानते हैं कि कण्हपा ने भी इसी प्रकार अपने पूर्व गुरु जालन्धरपा की गवाही दी थी। और यह गवाही इसी प्रकार ध्यान सम्प्रदाय में भी बड़ी आवश्यक और महत्वपूर्ण मानी गई है। हम पीछे तीसरे परिच्छेद में देख चुके हैं कि किस प्रकार युंग् चिया तान्-शिह (योका देशी) हुइ-नेंग् से अपने अनुभव के बारे में साखी या गवाही लेने गये थे और उस पर उन्होंने उनके अनुभव की सही तसदीक की थी। हुइ-नेंग् के एक शिष्य ने जिनसे

मुंग्-थिमा त-शिह् की मुलाकात हुई थी, उससे कहा था कि ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा में प्रथम गुरु (भीष्मगर्जितेश्वर) के समय से ही यह बहुत आवश्यक माना गया है कि अपने अनुभव की साक्षी करने वाला कोई (गुरु) होना चाहिये और उसकी बात मानकर ही वे हुइ-नेंग् के पास गये थे और उन्हें अपना गुरु बनाया था। आज भी ध्यान-सम्प्रदाय की साधना में गुरु का बहुत महत्व माना जाता है और जब तक कोई साधक अपने अनुभव का अनुमोदन गुरु से नहीं करवा लेता या दूसरे शब्दों में उसकी साक्षी नहीं ले लेता उसका अनुभव प्रामाणिक नहीं माना जाता। किसी का अनुभव कितना ही मौलिक या गुरु से भिन्न हो सकता है इस सम्बन्ध में बौद्ध ध्यान-सम्प्रदाय बहुत उदार है और वह यह भी मानता है कि बिना गुरु की सहायता के भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है (जबकि भारतीय सन्त-मत में गुरु-महिमा का कुछ अतिवाद-सा है)। परन्तु गुरु की गवाही फिर भी बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण मानी गई है, और वह ली जाती और दी जाती है। इस प्रकार 'साखी' की परम्परा वहां आज तक जीवन्त रूप में विद्यमान है।

'ध्यान' और निर्गुण-साधना

हम पहले ध्यान-सम्प्रदाय के विवरण प्रसंग में देख चुके हैं कि किस प्रकार एक धर्मनायक द्वारा दूसरे धर्मनायक को चीवर प्रदान करके धर्मनायकत्व का अधिकार दिया जाता था। इसके सम्बन्ध में 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' में कहा गया है "जब धर्मनायक बोधिधर्म प्रथम बार चीन में आये तो अधिकतर चीनियों का उसमें विश्वास नहीं था इसलिये गवाही के रूप में यह चीवर एक धर्मनायक से दूसरे धर्मनायक को प्रेषित किया जाता है।"[१] इस प्रकार यह गवाही या साखी का तत्व ध्यान-साधना में छठी शताब्दी ईसवी से ही प्रचलित है, अर्थात् मध्यकालीन भारतीय साधना के कम से कम आठ-सौ आठ-सौ वर्ष पूर्व से।

'अंग' का अभिप्राय

एक प्रासंगिक बात इस सम्बन्ध में और। कबीर और अन्य सन्तों की साखियां 'अंगों' के रूप में वर्गीकृत हैं, यथा "परचा कौ अंग", "ग्यान-बिरह कौ अंग" "कुसंगति कौ अंग", आदि। यदि 'साखी' का अर्थ साक्षी होना या गवाही

---

१ दि सूत्र ऑव वेई-लॅग् (हुइ-नेंग्) पृ० २०-२१।

देता है तो उनको इस सन्दर्भ में 'अंगों' के रूप में वर्गीकृत करने का क्या अभिप्राय है ? मैं समझता हूं इसे अब तक कोई विद्वान् स्पष्ट नहीं कर सका है। इस लेखक को लगता है कि बौद्ध प्रयोग इस सम्बन्ध में हमारी सहायता कर सकता है। आचार्य बुद्धघोष (पांचवीं शताब्दी ईसवी) ने 'अंग' शब्द का प्रयोग कारण के अर्थ में 'विसुद्धिमग्ग' के द्वितीय परिच्छेद में किया है। "अंग ति कारणं वुच्चति।" पालि त्रिपिटक में भी 'अंग' शब्द का प्रयोग कारण के अर्थ में किया गया है।[1] यदि इस बौद्ध अर्थ को हम यहां प्रयुक्त करें तो साखियों को 'अंगों' के रूप में विभक्त करने का रहस्य खुल जाता है। 'कारणों' से यहां साखी दी जा रही है। जिस-जिस कारण से जो-जो साखी या गवाही दी जा रही है, उसका उल्लेख उस शीर्षक में कर दिया गया है। इस प्रकार साखियों को 'अंगों' के रूप में विभाजित करने की यह व्याख्या समझी जा सकती है। यह सम्भव नहीं है कि सन्तों ने अभिज्ञान-पूर्वक इसका प्रयोग किया हो (और यह विभाजन हुआ भी बाद में), परन्तु एक मौखिक और शास्त्रों से भिन्न गुरु-शिष्य क्रम से सम्प्रेषित होने के नाते यह शब्द उपर्युक्त अर्थ में सन्त परम्परा में आ गया हो यह असम्भव नहीं है।

एक अन्य प्रयोग भी 'अंग' शब्द का कबीर की साखियों में हुआ है और वह भी आश्चर्यजनक रूप से बौद्ध प्रयोग ही है। एक साखी है

निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, सन्तनि का अंग एह॥

"यह सन्तों का अंग है" ('सन्तनि का अंग एह') यह बिलकुल बौद्ध प्रयोग है। 'विसुद्धिमग्ग' के द्वितीय परिच्छेद में ही इसके समानान्तर पालि प्रयोग हैं धुतंग अर्थात् धुतांग अर्थात् अवधूतांग। इसका अर्थ है अवधूत का व्रत, नियम या अभ्यास। इतना ही नहीं पांसुकूलिकांग (पांसुकूलिक होने का व्रत, नियम या अभ्यास) तेचीवरिकांग एकासनिकांग आरञ्ञकांग रुक्खमूलिकांग जैसे अनेक प्रयोग वहां आये हैं। वैदिक परम्परा के साहित्य में इस प्रकार का प्रयोग मुझे अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। कितना स्पष्ट है—'यह पांसुकूलिक का अंग है', 'यह रुक्खमूलिक का अंग है' और इसी के सुर में सुर मिलाकर कबीर साहब यह कहते हैं "यह सन्तों का अंग है"—'सन्तनि

१ देखिये विशेषतः सोणदण्ड-सुत्त (दीघ १।४) तथा कूटदन्त-सुत्त (दीघ १।५)।

गए थे गए रहे । 'शास्त्रों से बाहर' की परम्परा में मौखिक रूप से शब्दों के आगमन के ऐसे अनेक उदाहरण और भी मिलेंगे, ऐसा इस लेखक को विश्वास है ।

"शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण" होने के अतिरिक्त ध्यान-सम्प्रदाय की एक दूसरी बड़ी विशेषता यह बताई गई है कि वह शब्दों और वर्णों पर कोई निर्भरता नहीं मानता । यह बात वास्तव में पहली बात की ही पूरक है और नाथ-पन्थ और सन्त-मत की परम्परा में भी पूरी तरह पाई जाती है । "बानी तेरे बहुत बने पकवाना' की बात कहने वाले कबीर इसे सम्भवतः ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों से भी अधिक अच्छी तरह जानते हैं । वे भी वस्तुतः 'अगम्य' ज्ञान के पुजारी हैं । 'बीजक' में कबीर की साखी है "बिनु अक्षर सुधि होई ।" यह ध्यान-सम्प्रदाय की 'अगम्य' साधना का सर्वोत्तम विवरण ही है । कबीर साहब ने हरि-कथा को 'अनाहत बानी' कहा है । यह 'अगम्य ज्ञान' ही है । कबीर साहब ने कहा है कि साखी और सबदी भी उन्होंने अज्ञान की अवस्था में ही कही हैं और जब जब उन्होंने कुछ जाना है तो उनके लिए कुछ कहना शेष नहीं रह गया है । पुस्तकीय ज्ञान से कबीर कुछ बड़ी उपलब्धि आध्यात्मिक साधना में नहीं मानते और उसे साधना से भिन्न स्थान देते हैं । "पढ़िया सें मन मोय' । उन्होंने स्वयं 'मसि-कागद' नहीं छुआ था और न कलम हाथ में पकड़ी थी । इस सम्बन्ध में उनकी तुलना छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् से पूरी तरह की जा सकती है जो निरक्षर लकड़हारे थे और जिन्होंने ही ध्यान-सम्प्रदाय की जड़ें मजबूती से चीनी-भूमि में जमाईं और जिनके द्वारा भाषित 'सूत्र' कबीर की बानी के समान ही निर्व्याज आध्यात्मिक अनुभूतियों से भरा विश्व-साहित्य का एक महान् ग्रंथ है । गुरु गोरखनाथ ने भी अध्ययन अनुशीलन से बड़ा स्थान ध्यान को दिया है । वे जब यह कहते हैं कि "ध्यान उपरांति अन्य नाहीं' अर्थात् "ध्यान से ऊपर कोई अन्य नहीं है" तो वे निश्चयतः चीन या जापान के एक ध्यानाचार्य जैसे ही लगते हैं । शब्दों और वर्णों से व्यतिरिक्त सत्य के गूढ़ संप्रेषण पर नाथ-पन्थ और सन्त-मत में इतना अधिक जोर है और इस सम्बन्ध में उनकी इतनी अधिक बानियां हैं कि उन पर विस्तार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

'मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत' और "अपने ही स्व-भाव के अन्दर देखना' ध्यान-सम्प्रदाय की विशेषताएं बताई गई हैं । परन्तु ये वस्तुतः सभी अन्तःसाधनाओं में पाई जाती हैं वेदान्त और योग में भी और सन्तों की साधना आदि में भी । बिना आत्मचिन्तन के साधना एक पग भी आगे नहीं

सकती अतः उसका अभ्यास सभी दार्शनिक मतों में किया मिलेगा। फिर भी सन्तों की पैनी सत्य की सीधी पकड़ है और व्यक्तिगत 'सुमिरन' और 'सुरति-निरति' पर उनकी साधना में जो जोर है, उससे यह साधना ध्यान-सम्प्रदाय की साधना के बहुत समीप अनायास रूप से आ जाती है। कबीर ने जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया उसकी प्रक्रिया को संक्षेप में बताते हुए उन्होंने कहा है "करत विचार मनहि मन उपजी, ना कहुं गया न आया।" यह "करत विचार मनहिं मन उपजी" की बात, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं ऐसी है जो किसी भी ध्यान-सम्प्रदाय के साधक के मुख से भी आसानी से निकल सकती थी। इसी प्रकार कबीर ने कहा है कि उन्होंने अपनी वाणियों में 'आतम-साधन-सार' को ही समझाया है। ध्यान-सम्प्रदाय का मूल तत्त्व भी 'आतम-साधन-सार' ही है और इसके अलावा कुछ नहीं। कबीर ने ज्ञानी का लक्षण करते हुए बताया है कि अपने आप को विचार करता है वह ज्ञानी होता है। "आपु विचारै सो ज्ञानी होई।" उन्होंने अन्यत्र भी कहा है कि अपने 'उनमान' से ही उन्होंने सत्य को कुछ समझा है। दूसरों से भी वे यही कहते हैं "तू चलि अपने उनमान।" ये सब वाणियां बुद्ध के 'आत्म-शरण, आत्म-दीप' होने के उपदेश से मिलती हैं और ध्यान-सम्प्रदाय में भी समान रूप से पाई जाती हैं। स्वानुभूति-प्रधान सभी साधनाओं में तर्क को स्थान नहीं मिलता। ध्यान-सम्प्रदाय तो मानता है कि उसकी साधना में ऐसा कुछ नहीं है, जिसके विषय में तर्क किया जा सके। कुछ भी तर्क करना इसके उद्देश्य के विपरीत है। 'बौद्धिकता और शब्द-परता, जितने ही ये अधिक होंगे उतने ही हम सत्य से दूर चले जाते हैं।" ऐसा ध्यान-सम्प्रदाय मानता है। वह हमें आगाह करता है कि "बरछी के एक टुकड़े को लेकर आकाश को नापना बन्द करो।" ये सब भावनाएं सम्पूर्ण मध्ययुगीन भारतीय साधना में और विशेषतः निर्गुणपन्थी साधना में अभिव्याप्त मिलेंगी।

ज्ञान और गरीबी

वैसे तो सभी साधक गरीबी का जीवन बिताते रहे हैं परन्तु निर्गुणपन्थी साधुओं और ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों की यह एक विशेषता है। कितना साम्य है कबीर और छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् के जीवन में! एक अपढ़ जुलाहा दूसरा बिल्कुल अपढ़ लकड़हारा। जिस प्रकार एक को हम करघे पर ताना-बाना बुनते देखते हैं उसी प्रकार दूसरे को बांस की डाली साफ करते हुए और भिक्षु-अवस्था में भी चावल कूटते हुए और ईंधन के लिए लकड़ी फाड़ते हुए! "कर गुजरान

गरीबी में" दोनों का ही आदर्श है। चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास में कई बार इस पर विपत्तियां आई और कई बार विरोधी सम्राटों का इसे कोपभाजन होना पड़ा, परन्तु इससे ध्यान-सम्प्रदाय का कोई बिगाड़ नहीं हुआ। नदियों के तटों वृक्ष-मूलों या पहाड़ियों पर झोंपड़ियों में निवास करते हुए इस सम्प्रदाय के भिक्षुओं पर विपरीत राजनीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ सका और यही कारण है कि आज भी उनकी साधना विद्यमान है। निर्गुणपन्थी सन्तों और ध्यान-सम्प्रदाय के योगियों की साधनाएं गरीबी में ही उत्पन्न हुई हैं और गरीबी में ही फली फूली हैं। ज्ञान की वास्तविक परीक्षा भी गरीबी या अकिंचनता में ही है।

जीविका के लिए कुछ न कुछ धन्धा करते हुए सत्य-साधना में प्रवृत्त होना चाहिये ऐसी सन्तों की मान्यता थी। अतः वे उन विरक्त साधुओं से भिन्न थे जो बिलकुल घर को छोड़ देते हैं। "घर तजि बनहु न जाई।" ऐसा निर्गुण-पन्थी सन्तों का कहना है। दादू कबीर, रैदास आदि सबने कुछ-न-कुछ उद्योग करते हुए ही साधना की। कबीर साहब कितने मार्मिक ढंग से साधना के इस विषय रूप को प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि यदि केवल धन्धे में ही मनुष्य पड़ा रहे तो वह धूल के समान हो जाता है, उसका जीवन निरर्थक है, परन्तु यदि कोई धन्धा न किया जाय तब तो धूल भी हाथ नहीं लगती। इसलिये धन्धे में ही ध्याना चाहिये ध्यान करना चाहिये जो ऐसा नहीं करते वे मूलतः विनष्ट ही हैं। "कबीर वे जन तो धूलि। बिन धंधे धूलो नहीं। ते नर बिनठे मूलि जिनि धंधे में ध्याया नहीं। निश्चयतः कबीर साहब यहां ध्यान-सम्प्रदाय की साधना को ही अनायास वाणी दे रहे हैं जो भी बिलकुल यही कहती है कि जो परिश्रम नहीं करता उसे रोटी खाने का अधिकार नहीं है। बौद्ध धर्म में वस्तुतः प्रारम्भिक रूप में भिक्षाचर्या की प्रतिष्ठा थी। इसे पूर्वीशिया की ध्यान हारिक सम्यता की बौद्ध धर्म को एक मौलिक देन ही समझना चाहिये कि उसने उसमें श्रम की प्रतिष्ठा की। महायान में यह श्रम की नवीन प्रतिष्ठा सर्वत्र पाई जाती है। यह आश्चर्यजनक है कि यही बात भारतीय मध्ययुगीन सन्तों के जीवन में भी पाई जाती है जो भी प्रायः अधिकतर गृहस्थ थे और जीविका के लिए कुछ-न-कुछ धन्धा करना आवश्यक मानते थे।

युगपद् और 'क्रमयुक्त' साधना

युगपद्' और 'क्रमयुक्त' सत्य प्राप्ति की प्रक्रियाओं में से दोनों की स्वीकृति हमें कबीर की वाणी में मिलती है। कहीं वे सहसा ज्ञान-प्राप्ति के अनुभव की

गवाही देते हुए कहते हैं कि यदि रंच मात्र भी नाम की साधना की जाय, तो करोड़ों कुकर्म एक पल भर में नष्ट किए जा सकते हैं और हरि की शरण में आने पर करोड़ों कर्म (कुकर्म) एक पल भर में नष्ट हो जाते हैं—"कोटि क्रम पेल पलक में जे रंचक आव नाउ कोटि करम फिल पलक में जब आया हरि की ओट।" यह साखी बड़े धम्मनायक की इस गवाही के बिलकुल समान है कि "कल्प-कल्पान्त तक भी यदि कोई मनुष्य मोह में रहा हो परन्तु एक बार ज्ञानोद्दीप्त होने पर वह एक पल भर में ही बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।" तथा प्रज्ञा की एक चिनगारी युगों से चली आती हुई अविद्या को नष्ट कर सकती है। इसके साथ ही कबीर 'क्रमपूर्ण' सत्य प्राप्ति के तत्व को अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि "धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होइ।" गोस्वामी तुलसीदास भी 'क्रमपूर्ण' सत्य प्राप्ति को मानते जान पड़ते हैं। "तुलसिदास कह चिर विलास जग बूझत बूझत बूझै।" सामान्यतः मध्यकालीन सन्तों की वाणियों में इन दोनों प्रक्रियाओं सम्बन्धी साक्ष्य दिये जा सकते हैं। परन्तु भारतीय साधना अधिकतर 'क्रमवत्' सिद्धि में ही अधिक विश्वास करती है। नानक पन्थ भी गाते हुए सुने गए हैं "भवसागर होइबे पार धीरे-धीरे।"

'स्व-शक्ति' और 'पर-शक्ति' साधनाएं

आध्यात्मिक साधना में स्व-पुरुषार्थ को मुख्य मानने वाली और पर-सहायता या भगवत्कृपा के अवलम्ब को मुख्यतः लेने वाली ये दो साधकों की श्रेणियां सर्वत्र मिलेंगी। इनमें आत्यन्तिक भेद तो नहीं है परन्तु मुख्यता या गौणता की दृष्टि से यह भेद किया जा सकता है। मूल बुद्ध-धर्म वेदान्त और योग की साधनाएं साधक के अपने पुरुषार्थ पर अवलम्बित हैं। साधारणतः 'ज्ञान-मार्ग' कहा जाने वाला साधना-पथ पुरुषार्थवादी ही है, वह स्व-शक्ति का हामी है। दूसरा साधना-पथ स्व-शक्ति में विश्वास नहीं रखता, उसे अपने बल का भरोसा नहीं रहता वह पर-शक्ति की किसी दूसरी शक्ति की सहायता से जीवन के लक्ष्य को पूरा करना चाहता है। यह पर-शक्ति बुद्ध हो सकते हैं, राम ही सकते हैं, या अन्य कोई भी सगुण या निर्गुण रूप। संसार भर की धर्म-साधनाओं को इन दो मोटे रूपों में बांटा जा सकता है। मध्यकालीन भक्ति-साधना सामान्यतः 'पर-शक्ति' साधना है। ईसाई पन्थ भी ऐसा ही है। जापानी बौद्ध धर्म के सुखावती जोदो और शिन् शु सम्प्रदाय प्रधान रूप से 'पर-शक्ति' सम्प्रदाय हैं। एक परम शक्ति के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना वहां प्रधान है और केवल उसी की कृपा से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव मानी जाती है। जहां तक भारतीय साधना

का सम्बन्ध है गोस्वामी तुलसीदास को इस 'पर-शक्ति' धर्म-साधना का सम्भवतः सबसे बड़ा साधक माना जा सकता है। "ताहि ते आयो सरन सबेरे। ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ न मोरे। बिष पियूष सम करहु अगिनि हिम तारि सकहु बिनु बेरे। 'तुलसिदास यह बिपति बागुरो तुम्हहिं सों बनै निबेरे"—या "तुलसिदास प्रभु मोह-शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे।" ये भावनाएँ 'पर-शक्ति' साधना की प्राण हैं और इसकी चरम सीमा। कबीर में भी यही रूप प्रधान है, यद्यपि 'स्व-शक्ति' का आभास भी उनमें कहीं-कहीं है। मीरा भी पूरी तरह पर-शक्ति साधिका हैं। वे बार-बार गिरिधर नागर को सम्बोधन कर कहती हैं "थ बल उतर्‌या पार" ('हे प्रभु जी! तुम्हारे ही बल से मैं पार उतरी)। जहाँ तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है वह मुख्यतः 'स्व-शक्ति' धर्म-साधना ही है परन्तु 'पर-शक्ति' के सहारे के बिना उसका भी पूरा काम नहीं चलता यह भी स्पष्ट है। अनेक ध्यानी साधक अमिताभ (बुद्ध) के नाम का जप करते हैं और उसे चित्त की साधना में आवश्यक साधन मानते हैं। चीन और जापान के ध्यानागारों में प्रतिदिन बुद्ध की स्तुति की जाती है और यह विश्वास प्रकट किया जाता है कि बिना बुद्ध की शक्ति की सहायता के हम इस भवसागर को पार नहीं कर सकते यह हम पहले देख ही चुके हैं। बौद्ध धर्म का एक दूसरा सम्प्रदाय, जिसका नाम सुखावती सम्प्रदाय है मुख्यतः 'पर-शक्ति' सम्प्रदाय है और मुक्ति के लिए अमिताभ के नाम के जप के अलावा और कोई साधन जानता ही नहीं। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के जापानी महात्मा होनेन् और शिनरन् जो गुरु-शिष्य थे, और अमिताभ के नाम-जप के एकान्त प्रचारक गोस्वामी तुलसीदास जी के बिलकुल समानधर्मा जैसे लगते हैं। 'निज गुन बल भरोस मोहिं नाहीं' की भावना के साथ दोनों जगह एक परम सत्ता की तारक शक्ति में दृढ़तम विश्वास है, सिर्फ इस अन्तर के साथ कि एक जगह वह 'पर-शक्ति' 'राम' नाम से सम्बोधित की गई है तो दूसरी जगह 'अमिताभ' के नाम से। दोनों ने ही पापियों और दुखियों को तारने का अमोघ व्रत लिया हुआ है और हमें केवल उनकी शरणागति लेनी है। "हठि हठि अधम उधारे" का व्रत अमिताभ ने भी राम के सदृश ले रखा है और राम भी अन्ततः अमित आभा वाले ही हैं। "सहज प्रकास रूप भगवाना"। समाधि-साधन में 'स्व-शक्ति' और 'पर-शक्ति' के प्राधान्य को लेकर जापान में ध्यान-सम्प्रदाय की दो साधना-शाखाएं प्रचलित हैं, जो क्रमशः 'जिरिकी' और 'तरिकी' कहलाती हैं। कुछ भी हो नाम-साधन ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों को भी ध्यान के सहायक के रूप में प्राप्त है जो हमारी सम्पूर्ण मध्ययुगीन साधना

की मूल शक्ति भी है। इन सब बातों को देखकर ऐसा लगता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने जो 'नाम' को सगुण और निर्गुण के बीच 'सुसाखी' और 'चतुर दुभाषी' कहा है वह उतने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि 'नाम' बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म के बीच भी 'सुसाखी' है भारत चीन और जापान के साधकों के बीच यह 'चतुर दुभाषिया' है और इतना ही नहीं पूर्व और पश्चिम की साधनाओं के बीच, हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई साधनाओं के बीच भी यह 'चतुर दुभाषिया' है। जहाँ तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, इस 'उभय प्रबोधक', चतुर दुभाषिये ने हमें सचमुच बड़ा सन्तोष और आश्वासन दिया है। हाँ, एक सूक्ष्म अन्तर यह अवश्य है कि सन्त-साधना के लिए 'सबद' सिद्धि है और 'सुरति' उसकी सहायक है। इस स्थिति को गुरु गोरखनाथ ने इस प्रकार दिखाया है "सुरति सो साधिक, सबद सो सिधि।" ध्यान-सम्प्रदाय में 'सबद' साधन मात्र है और 'सुरति' सिद्धि है। नाम-साधना ध्यान-सम्प्रदाय का अनिवार्य अंग नहीं है वह वहाँ साधन मात्र है साधक को 'सटोरी' (अस्थायी बोधि अनुभव) प्राप्त कराने के लिए, जिसे साधक आवश्यकता के अनुसार प्रयोग करते हैं। मूल बुद्ध-धर्म में 'स्मृति' एक अत्यन्त बलवती साधना है, ध्यान सम्प्रदाय में भी उसका कुछ-कुछ यही रूप है परन्तु युग-युगों के साधकों की आवश्यकताओं के थपेड़े खा-खाकर वह सन्त-साधना में क्षीण हो गई है, दब-सी गई है और 'नाम' के अधीन होकर अपना गुजारा कर रही है।

'सब्द-सुरति-योग'

यहाँ मैं अपने एक विश्वास को और प्रकट कर दूँ। सन्तों ने 'शब्द-सुरति-योग' की साधना का वर्णन किया है। इससे मैंने यह समझा है कि वे 'शब्द' या 'नाम' की साधना को जो मुख्यतः वैष्णव है बौद्ध साधना-मार्ग की 'स्मृति' से जोड़ना चाहते हैं। 'स्मृति' काया, संवेदन, चित्त और मन के विषयों (धर्मों) सम्बन्धी चिन्तन उनके अन्दर देखना और उनके सम्बन्ध में निरन्तर जागरूकता बरतना है। बौद्ध साधना का यह प्राण है और 'ध्यान' में भी गृहीत है। इस प्रकार निर्गुणवादी सन्त अपने 'नाम' की 'स्मृति' की साधना से जोड़ते हैं। ध्यानी सन्त 'स्मृति' प्रस्थान का अभ्यास तो निरन्तर करते ही हैं वे उसकी सहायता के लिए 'नाम' को भी प्रयुक्त करते हैं 'नेम्बुत्सु' का भी सहारा लेते हैं दूसरे शब्दों में अमिताभ (बुद्ध) का नाम भी रटते हैं। इस प्रकार एक (निर्गुणिये) सन्त 'शब्द' को 'सुरति' के साथ जोड़ते हैं तो दूसरे (ध्यानी सन्त) 'सुरति' को 'नाम' के साथ। इस प्रकार यह साधना-संगम हुआ है। यही एक साधन है, जिससे

बौद्ध साधक ही अपने श्रेष्ठतम प्रज्ञा के फल को प्राप्त नहीं करते बल्कि वैष्णव जन भी इसी के सहारे बौद्ध साधनाओं—शमथ और विपश्यना—को दीपक हाथ में लिये उनके निर्वाण-पथ को प्रशस्त करते हुए अपने पास आते देखते हैं। यह गूढ़ सत्य केवल अनुभवगम्य ही है।

हठयोग

ध्यान-मत और सन्त-मत के सम्बन्ध का सन्धान करते-करते नाथ-पन्थ के साथ बौद्ध धर्म का सम्बन्ध इतर विदित होता है और प्रासंगिक रूप से ध्यान-सम्प्रदाय का भी। यह बात सर्वविदित है कि कबीर ने जिस साधु को 'योगी' या 'अवधू' या 'अवधूत' के नाम से बार-बार पुकारा है वह नाथपन्थी योगी ही है। परन्तु योगी के रूप में इस अवधूत के इतिहास की अभी पूरी खोज नहीं की गई है। अधिकतर विद्वान् जिन्होंने नाथ-पन्थ की ऐतिहासिक गवेषणा की है नव नाथों और चौरासी सिद्धों या अधिक-से-अधिक मध्यकालीन 'हठयोग-प्रदीपिका' तक ही गये हैं और उसके सूर्य-चन्द्र को मिलाने को ही हठयोग का सर्वस्व मानकर विवेचन करते रहे हैं। परन्तु, जैसा ऊपर से ही विदित होता है, यह एक कृत्रिम और उत्तरकालीन योग-स्थिति का विवरण-मात्र है जिसमें व्यावहारिक सार्थकता कुछ भी नहीं है। हठयोग के मूल में हमें एक सरल विधि अवश्य मिलेगी या मिलनी चाहिये, जिसमें 'हठ' शब्द के सरल अभिप्राय का भी कुछ बोध हो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने चातक की तरह 'हठ' कर राम नाम को जपने का उपदेश दिया "तुलसी हठ चातक ज्यों धरि के।" या कहा "मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसै हौं।" हठयोग के मूल अर्थ में ऐसा कुछ भाव अवश्य होना चाहिये। इस अर्थ में तुलसीदास जी को हम एक प्रकार से 'हठयोगी' कहेंगे और यही मूल भाव 'हठयोग' में होना चाहिये सूर्य चन्द्र मिलाने के कठिन कृत्रिम और दूर के अर्थ निश्चय ही बाद के होने चाहिये। अब इतिहास में ऐसा कौन-सा योगी हुआ है जिसने 'हठ' करके योग किया हो और सिद्धि प्राप्त की हो। इस प्रसंग में *सुनिये उन पुरुषोत्तम (बुद्ध) का 'ललित विस्तर' में यह संकल्प (अधिष्ठान)*

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते॥

"इस आसन पर चाहे मेरा शरीर सूख जाय चाहे मेरी त्वचा हड्डियाँ और मांस

प्रलय को प्राप्त हो जाय परन्तु जब तक मैं बोधि को प्राप्त नहीं कर लेता तब इस तक आसन से मेरा शरीर और मन नहीं डिगेगा।" यह था वह प्रणिधान का दृढ़ संकल्प या 'हठ' जो उस अनन्य पुरुष ने 'वज्रासन' पर बैठकर और 'वज्र-समाधि' लगाते हुए किया था। इतिहास के प्रथम हठयोगी वस्तुतः भगवान् बुद्ध ही हैं। इस अर्थ में दूसरे महान् हठयोगी मैं तुलसीदास जी को कहता हूं जिन्होंने चातक की तरह हठ करके रामनाम को जपा। हठयोग के मूल अर्थ को मैं इसी रूप में देखने का प्रस्ताव करता हूं 'हठयोगप्रदीपिका' और उसके बाद की नाथ-पन्थ की व्याख्याएं, जिनका कुछ अनुगमन सन्तों तक ने किया, परवर्ती विकृत रूप मात्र हैं जिनकी व्यावहारिक उपादेयता न हम अपने शरीर पर घटित कर सकते हैं और न जिनका शरीर विज्ञान से ही कुछ सम्बन्ध है। हां, विवेचन हम अनन्त काल तक करते रह सकते हैं, जिनसे सिवाय भोले-भाले पाठकों को बहकाने के और कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है और जो मात्र विचारकों के सामने हास्यास्पद मात्र ही है। यह अच्छा होगा कि चक्रों के भेदन और उनकी साधना के परिणामस्वरूप पर-काय प्रवेश और अजर अमर होने आदि की बातें हम कम से कम करें। अनन्य संकल्प और उच्च मनोबल के विकास के रूप में 'हठ' बोधिधर्म के जीवन और सम्पूर्ण ध्यान सम्प्रदाय के इतिहास की एक विशेषता रही है और इसे ही उसका मौलिक, आदिम रूप माना जा सकता है। इस प्रसंग में यह मनोरंजक बात भी द्रष्टव्य है : कहा जाता है कि ध्यान का अभ्यास करते समय बोधिधर्म की आंखों में एक बार झपकी लग गई थी। तत्काल उन्होंने अपनी पलकों को काटकर धरती पर गिरा दिया। यह है हठयोगी का वह रूप जो हमें छठी शताब्दी में ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक योगी बोधिधर्म के जीवन में मिलता है और इस लेखक की यह धारणा है कि 'हठयोग' का यही मूल रूप होना चाहिये।

नाथ-पन्थ का उद्गम

हां तो अवधूत जो नाथपन्थी साधु कहे गये हैं उनका मूल अभिप्राय क्या है और उनकी उत्पत्ति कहां से दिखाई जा सकती है? जहां तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, विद्वान् तांत्रिक बौद्ध धर्म की 'अवधूती वृत्ति' तक ही उसका सम्बन्ध पा सके हैं अर्थात् सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी तक। इस सम्बन्ध में लेखक का नम्र निवेदन यह है कि छठी-पांचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व तक उनका इतिहास बौद्ध धर्म के साहित्य के सहारे जा सकता है। पालि तिपिटक में बुद्ध के शिष्यों में कुछ ऐसे साधकों के चिह्न विद्यमान हैं जो अवधूत-व्रतों ('धुतंगों') का अभ्यास

करते थे। अंगुत्तर-निकाय के एकक-निपात में इस प्रकार के शिष्यों में महा-काश्यप को अग्रणी बताया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि बुद्ध के जीवन-काल में, अर्थात् छठी-पांचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व, अवधूत-साधना का एक रूप प्रचलित था और बुद्ध के कुछ शिष्य भी बुद्ध के शिष्य रहते हुए उनका अभ्यास करते थे। इस समय इस अवधूत-साधना का सम्बन्ध किसी विशेष सिद्धान्त या मत से नहीं हुआ था। बुद्ध-परिनिर्वाण के करीब एक सौ वर्ष बाद द्वितीय धर्म-संगीति वैशाली में हुई। विनय-पिटक में उसका जो विवरण दिया गया है उससे विदित होता है कि उस समय अहोगंग (अधोगंग—हरिद्वार के समीप) पर्वत पर रहने वाले स्थविर सम्भूत साणवासि और पाठेय्यक और अवन्ति-दक्षिणापथ के अन्य कई भिक्षु विभिन्न अवधूत-व्रतों के अभ्यासी थे। 'मिलिन्दपञ्हो' में जो ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी की या ईसवी सन् के आसपास की रचना है अवधूत-व्रतों को बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बताया गया है और उनके अभ्यास की प्रशंसा की गई है। इस ग्रन्थ में (पांचवां परिच्छेद अनुमान-प्रश्न) कहा गया है कि राजा मिलिन्द (मिनाण्डर) ने अनेक भिक्षुओं को गहन वन में अवधूत-व्रतों का अभ्यास करते देखा। चतुर्थ शताब्दी ईसवी में लङ्का में लिखित 'दीपवंश' (दीपवंसो) में कहा गया है कि उस समय लंका द्वीप में ऐसे स्थविर शोभायमान हैं जो अवधूत-व्रतों के आचरण से सम्पन्न हैं—"एतादिसा अत्थि थेरा" धुतंगाचारसम्पन्ना" सोभन्ति दीपवम्सके।" १८।१२। पांचवीं शताब्दी ईसवी में रचित 'विसुद्धिमग्गो' में आचार्य बुद्धघोष ने तेरह अवधूत-व्रतों का उल्लेख किया है, जैसे धूलि-धूसरित (पांसुकूल) वस्त्रों को पहनना, वृक्षमूल निवास, श्मशान-निवास, खुले आकाश के नीचे निवास आदि और समाधि की तैयारी के रूप में इनकी उपादेयता दिखाई है। इतना ही नहीं इस ग्रन्थ (द्वितीय परिच्छेद, धुतंग-निद्देसो) में अवधूत-व्रतों के अभ्यास के आधार पर, एक प्राचीन उद्धरण देते हुए, बुद्ध के शिष्यों का चार प्रकार से वर्गीकरण भी किया गया है। कहा गया है कि बुद्ध के कुछ शिष्य स्वयं अवधूत (धुत) थे, परन्तु अवधूत व्रतों (धुतंग) का उपदेश वे नहीं करते थे। इस प्रकार के भिक्षुओं में बक्कुल स्थविर का नाम लिया गया है। दूसरे प्रकार के भिक्षु वे थे जो स्वयं अवधूत नहीं थे परन्तु 'धुतवादी' थे, अर्थात् अवधूत-व्रतों का उपदेश करते थे। इस प्रकार के भिक्षुओं में उपनन्द स्थविर का नाम लिया गया है। तीसरे प्रकार के भिक्षु वे थे जो न स्वयं अवधूत थे और न अवधूत-व्रतों के उपदेष्टा। इस प्रकार के भिक्षुओं में स्थविर लालुदायी का नाम लिया गया है। चौथे प्रकार के भिक्षु वे थे जो स्वयं अवधूत भी थे और अवधूत-व्रतों के उपदेष्टा भी। इस प्रकार के

सुत्तों में सारिपुत्त स्थविर का नाम लिया गया है। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल से लेकर पांचवीं शताब्दी ईसवी तक हमें बौद्ध धर्म में अवधूत साधना के उसके अंगभूत रूप में विद्यमान होने के साक्ष्य मिलते हैं और इसी समय से ध्यान-सम्प्रदाय उसके सूत्र को पकड़ लेता है, जिसका विकास चीन और जापान में हुआ। यह एक अत्यन्त सार्थक बात है कि महाकाश्यप को अवधूत-व्रतों का एक श्रेष्ठ अभ्यासी पालि तिपिटक में बताया गया है और ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार इन्हीं महाकाश्यप को बुद्ध ध्यान-सम्प्रदाय के रहस्यात्मक ज्ञान का संप्रेषण करते हैं। इस प्रकार अवधूत-साधना और रहस्यात्मक ज्ञान महाकाश्यप के व्यक्तित्व में एक हो गये हैं और इनके ऐतिहासिक एकीकरण का भी उद्गम-स्थल माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, एक अवधूत भिक्षु को बुद्ध से 'ध्यान' का रहस्यात्मक ज्ञान मिला, अवधूत-साधना का प्रकृत प्रस्थान-बिन्दु यही है।

एक अन्य बड़ी महत्त्वपूर्ण बात भी महाकाश्यप के सम्बन्ध में कही गई मिलती है। गृहस्थाश्रम में उनकी पत्नी और बाद में भिक्षुणी भद्रा कापिलायिनी ने अपने पति की साधना-सम्पत्ति के बारे में बताते हुए 'थेरी-गाथा' में उन्हें 'अभिञ्ञावोसितो मुनि' कहा है, अर्थात् 'अभिज्ञा में पूर्णता-प्राप्त मुनि'। 'अभिज्ञा' का अर्थ है श्रेष्ठ ज्ञान' या 'विशेष ज्ञान', या दिव्य अ-मानुष अनुभव गूढ़ मानसिक शक्तियों की प्राप्ति। यह वास्तव में गूढ़ ज्ञान ही है। यह मैं अपने मत के समर्थन के लिए ही नहीं कह रहा, बौद्ध साहित्य में 'अभिज्ञा' शब्द के प्रयोग से यह बिल्कुल स्पष्ट है। बौद्ध धर्म में छह अभिज्ञाएं मानी गई हैं, यथा ऋद्धिविध दिव्य श्रोत्र, पर-चित्त ज्ञान, पूर्वजन्म-ज्ञान, दिव्य चक्षु और आस्रव-क्षय-ज्ञान। मज्झिम-निकाय के महावच्छगोत्त-सुत्त में ये विस्तार से वर्णित हैं। इनके स्वरूप से स्पष्ट है कि ये मिलकर विशेष या गूढ़ ज्ञान की पर्यायवाची हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उपर्युक्त 'अभिञ्ञावोसितो मुनि' का अर्थ करते हुए श्रीमती रायस डेविड्स ने अपना अनुवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया है, 'A seer is be of mystic lore profound" महाकाश्यप वास्तव में गूढ़, गहन, ज्ञान के स्वामी थे। अस्तु स्थविरवाद परम्परा में महाकाश्यप के गूढ़ ज्ञान के स्वामी होने के साक्ष्य हमें मिलते हैं और इससे आसानी से यह समझा जा सकता है कि ध्यान-सम्प्रदाय ने उन्हें ही अपने गूढ़ सन्देश का प्रथम ग्राहक क्यों बनाया? बुद्ध के ये प्रभावशाली शिष्य, उनके दायाद पुत्र जो स्थविरवादी परम्परा के अनुसार भी बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद संघ के नेता बने, अद्भुत रहस्यवादी महात्मा थे इसमें सन्देह नहीं।

बौद्ध धारा से भिन्न अद्भुत वैदिक परम्परा में ऐतिहासिक रूप से खोज करने पर पता चलता है कि 'दत्त' या दत्तात्रेय सम्भवतः प्रथम अवधूत हैं। भागवत के एकादश स्कन्ध में उनका उल्लेख आता है और वहीं वर्णित 'अवधूतोपाख्यान' तो प्रसिद्ध ही है। उनके नाम से सम्बद्ध 'अवधूत-गीता', भी मिलती है जो यद्यपि बुद्ध के काल से काफी अर्वाचीन रचना है, परन्तु अनेक दृष्टियों से 'हठयोग-प्रदीपिका' जैसी रचनाओं से तो बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। यह खेद जनक ही है कि ध्यान-सम्प्रदाय पर लिखने वाले विद्वानों ने अब तक इस पुस्तक के नाम तक का भी उपयोग नहीं किया है। हमारी दृष्टि से यह बात महत्त्वपूर्ण है कि आठ परिच्छेदों वाले इस ग्रन्थ में बार-बार 'गगनोपम' 'निरंजन' तत्व की चर्चा है और इसके आठवें परिच्छेद में 'अवधूत' शब्द का अर्थ करते हुए यह बात कही गई है कि अवधूत का शरीर धूलि से धूसरित होता है। (धूलिधूसरगात्राणि) और वह 'धूतचित्त' होता है। जैसा हम अभी देखेंगे यह व्याख्या बौद्ध धर्म के अर्थ के समीप है और सम्भवतः उससे प्रभावित है। कबीर साहब ने अपने समकालीन योगियों के पाखण्डाचारों की निन्दा करते हुए उन्हें पूर्व योगियों की याद दिलाई है जिनमें एक 'दत्त' भी हैं। 'कब दत्ते मावासी तोरी।' महार्णव-तन्त्र में भी दत्तात्रेय को नव नाथों में एक माना गया है। अतः दत्त या दत्तात्रेय नामक एक प्रसिद्ध प्राचीन अवधूत महात्मा अवश्य हो गये हैं, जिनका पूर्ण ऐतिहासिक रूप अभी धूमिल ही है। पौराणिक विवरणों में उन्हें अत्रि ऋषि और अनसूया का पुत्र बताया गया है और सत्य-युग से सम्बन्धित किया गया है। उन्हें 'आदि गुरु' और 'परम हंस' भी कहा गया है। उपर्युक्त 'अवधूत गीता' के अतिरिक्त 'दत्तात्रेयोपनिषद्' भी उनकी रचना बताई जाती है। उनके नाम से सम्बद्ध एक रचना 'जीवन्मुक्ति-गीता' भी है जो लुप्त है। गुरु गोरखनाथ की वाणियों में भी दत्तात्रेय का उल्लेख आता है। इस प्रकार अवधूत कोटि के महात्माओं में दत्त या दत्तात्रेय का स्थान महत्वपूर्ण है और उनका सम्बन्ध एक दूर के अतीत से है जिसकी ऐतिहासिक रूप रेखा का स्पष्ट करना हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में कठिन है।

ऐसा लगता है कि 'अवधूत' शब्द में अर्थापकर्ष हुआ है। पालि तिपिटक में यह शब्द 'धुत' (संस्कृत धूत') के रूप में आया है जिसका अर्थ है वह परिशुद्ध व्यक्ति जिसने अपने सम्पूर्ण क्लेशों या मलों को धुन डाला है हिला डाला है या मिटा डाला है। 'विसुद्धिमग्गो' (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) में उसकी इसी प्रकार व्युत्पत्ति की गई है 'धुतोति धुतकिलेसो वा पुग्गलो किलेसधुननो वा धम्मो।' अर्थात् "धुत का अर्थ है वह व्यक्ति जिसने अपने क्लेशों को धुन डाला

है, या क्लेशों को धुनने वाला पदार्थ या कर्म।" मूल रूप में 'धुत' या 'धूत' शब्द से बोध ऐसे भिक्षु साधु से ही होता होगा जो अरण्य, श्मशान या वृक्ष में रह कर अल्पेच्छता और तपश्चर्या का जीवन बिताता हो और प्रायः पांसुकूल (फटे चिथड़े, धूलि-धूसरित वस्त्र) पहनता हो। किसी प्रकार के सिद्धान्त-विशेष का सम्बन्ध उसके साथ इस समय नहीं था। बाद में इस साधना में बीभत्सपन और लोक-विलक्षण बातों को दिखाने की प्रवृत्ति आ गई और तभी 'धुत' या 'धूत' नाम से पुकारे जाने वाले ये साधु 'अवधूत' कहे जाने लगे। श्रीमद्भागवत (एकादश स्कन्ध सप्तम परिच्छेद) में अवधूत को 'बालवत्' आचरण करते या जड़, उन्मत्त और पिशाच के समान भी (जडोन्मत्तपिशाचवत्) व्यवहार करते दिखाया गया है। यह उस काल में (जो निश्चयतः पाँचवीं शताब्दी ईसवी के बाद का ही है) अवधूतों की चर्या का चित्रण है। अपने मध्यकालीन साहित्य में हम उनके इसी के कुछ और विकसित रूप का परिचय पाते हैं। "धूत कहौ अवधूत कहौ" यह जो गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने बारे में कहा है उसमें मुझे 'धुत' और 'अवधूत' शब्दों की यही भूली हुई प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

अन्य बातों से भी महाकाश्यप जो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मनायक हैं महत्त्वपूर्ण हैं। सन्त-साधना के वे प्रथम अभ्यासी-से लगते हैं। एक तो यह बात कि सपत्नीक उन्होंने ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया, अर्थात् गृहस्थ-अवस्था में ही उन्होंने ब्रह्मचर्य का जीवन बिताया और बाद में पत्नी के सहित वे प्रव्रजित हुए और अध्यात्म-साधना में एक दूसरे के सहायक हुए। 'अपदान' में भद्रा कापिलायिनी के वक्तव्य से विदित होता है कि भिक्षुणी अवस्था में ज्ञान-प्राप्ति के बाद उसे महाकाश्यप की कल्याण-मित्रता प्राप्त थी। यह बात बड़ी अद्भुत है और महाकाश्यप की महान् साधना की परिचायक है और साथ ही उन्हें सन्त-साधकों के समीप भी लाने वाली है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दीन और आतुर निम्न वर्ग के लोगों के प्रति वे विशेष रूप से अनुग्रहवान् थे। भिक्षाचर्या भी वे अक्सर ऐसे लोगों के यहाँ ही करते थे। सन्त-साधना की यदि कोई भी ऐसी विशेषता है जो उसे आसानी से दूसरी साधनाओं से अलग कर देती है, तो वह उसका कोई सिद्धान्तवाद नहीं बल्कि निश्चित रूप से यह गरीबों और दुखियों के प्रति विशेष अनुग्रह-भाव ही है जिसके मूर्तिमान् रूप महाकाश्यप पालि और संस्कृत बौद्ध धर्म दोनों की परम्पराओं के अनुसार थे। उदाहरणतः पालि ग्रन्थ 'उदान' के बोधिवर्ग में हम महाकाश्यप को राजगृह के दरिद्र और नीच जाति के जुलाहों की गली में भिक्षाटन करते देखते हैं और 'दिव्यावदान' में उन्हें निश्चित रूप से 'दीनातुरग्राहक' कहा गया है। एक अन्य

अवसर पर हम एक कोढ़ी से उन्हें भिक्षा प्राप्त करते देखते हैं और इसमें उन्हें कोई घृणा नहीं होती। वैदिक युग के ऋषियों में यह बात किसी भी ऋषि के सम्बन्ध में विशेष रूप से कही हुई नहीं मिलेगी और न उसकी उत्तरकालीन परम्परा में ही हमने किसी वैदिक ऋषि या साधु को गरीब जुलाहों की गलियों में भिक्षाचर्या करते या उन पर विशेष अनुकम्पा करते देखा है। अलबत्ता उपनिषदों के प्रतिनिधि ऋषि याज्ञवल्क्य जनक के दरबार में गायों और धन के लिए जाते अवश्य देखे गये हैं। क्या सचमुच आर्य महाकाश्यप ही हमारे आदि सन्त नहीं हैं?—आर्य महाकाश्यप जो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रथम धर्मगुरु हैं और जिन्हें बुद्ध ने इतना सम्मान दिया जितना उन्होंने अपने अन्य किसी शिष्य को नहीं दिया—अर्थात् अपना वस्त्र जिन्हें पहनने को दिया और जिनका वस्त्र स्वयं बुद्ध ने पहना! ध्यान-सम्प्रदाय के आदि सन्त (और बुद्ध के उत्तराधिकारी पुत्र) महाकाश्यप को ही मैं प्रकृत सन्त-साधना का आदि सन्त मानता हूं।

'मूल मन' और 'उप मन'

मन की साधना के स्वरूप को लेकर तो नाथ-योग, सन्त-मत और ध्यान-सम्प्रदाय और भी अधिक निकट हैं इसे विस्तार से दिखाने की यहां आवश्यकता नहीं है। ध्यान-सम्प्रदाय के अपने विवेचन में हम देख चुके हैं कि उसने दो मन माने हैं, एक व्यक्तिगत, परिच्छिन्न सान्त मन और दूसरा सम्पूर्ण सृष्टि का सामूहिक अपरिच्छिन्न या अनन्त मन, जिसे 'मन का सार', 'एक-मन', 'तथता', 'बुद्धता', 'बुद्ध-स्वभाव' या 'शून्यता' भी कहा गया है। इन दोनों मनों की अभिन्नता ध्यान-सम्प्रदाय की साधना और तत्त्वज्ञान का आधार है। मन का यह दो प्रकार का स्वरूप-विधान बिलकुल बौद्ध विचार है और बौद्ध परम्परा में या भारतीय दर्शन की अन्य किसी परम्परा में यह ढूंढ़ने से भी न मिलेगा। किसी भी अन्य भारतीय दर्शन की योजना में मन का यह उठा हुआ स्थान नहीं है कि उसे ही परम सत्य के साथ एकाकार कर दिया जाय। मन—बृहत् मन—परम तत्त्व है यह विचार अन्यत्र कहीं नहीं है। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय का यह एक आधारभूत सिद्धान्त है और अनेक ध्यानाचार्यों ने इसकी पुनरावृत्ति की है। उदाहरणतः हम पहले देख चुके हैं कि लंकावतार-सूत्र में 'चित्त बुद्ध एवात्मकम्' की घोषणा है और तदनन्तर हुइ-के (४८७, ५९३) ने अपने शिष्य सेङ्-त्सान् से कहा था 'मन ही बुद्ध है।'[1] हुइ-नेंग् के समकालीन धर्म-भिक्षु

१ देखिये चौथे परिच्छेद में इस विषय सम्बन्धी हुइ-नेंग् के उद्धृत वचन।

का भी कहना था "सब बुद्धों की शिक्षाएं मूलतः मनुष्य के मन के अन्दर ही स्थित हैं। इसी प्रकार म-त्सु (आठवीं शताब्दी ई०) ने कहा था, "मन ही बुद्ध है, अन्य कोई नहीं। शिह्-तो (७०० ७९० ई०) ने भी कहा "मन ही बुद्ध है, बुद्ध ही मन है।" इसी प्रकार हुआङ्-पो (नवीं शताब्दी) का भी कथन है 'मन के बाहर कोई बुद्ध नहीं है बुद्ध से बाहर कोई मन नहीं है। अन्य भी इस प्रकार के उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब जब हम गोरख और कबीर को बार-बार मन की इस उच्च भूमिका की ओर निर्देश करते देखते हैं तो इसके स्रोत के सम्बन्ध में हम बिलकुल विभ्रमित नहीं हो सकते। ऊपर जिन ध्याना-चार्यों के उद्धरण हमने मन के इस उच्च रूप के सम्बन्ध में दिये हैं वे पांचवीं छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के हैं। गोरख का समय हम चाहे जितना पूर्व मानें हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त ध्यानाचार्यों में जो सबसे बाद के हैं (अर्थात् हुआङ्-पो—नवीं शताब्दी) उनसे दो-तीन शताब्दी कम से कम बाद गोरखनाथ आविर्भूत हुए। इस बात को ध्यान में रखकर हम देखें कि गुरु गोरखनाथ कहते हैं कि 'यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पंच तत का जीव।" (जिसे जायसी ने हुबहू इस प्रकार रख दिया है, "यहु मन सक्ती यहु मन सीऊ।" गोरख मन को ही आदि और अन्त कहते हैं और मन में ही सब सार को खोजते हैं, 'मन आदि मन अन्त मन मधे सार।" जिस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय में 'इस मन' (परिच्छिन्न, सान्त मन) और 'उस मन' (अपरिच्छिन्न, अनन्त मन) की बात है, बिलकुल उसी रूप में वह गोरखनाथ को स्वीकार्य है। 'यह मन लै जै उन मन रहै।" परिच्छिन्न सापेक्ष मन का अपरिच्छिन्न निर-पेक्ष मन से अभेद उन्हें परमार्थ रूप में स्वीकार्य तो है ही उसे बिलकुल ध्यान सम्प्रदाय के समान शून्य से मिलाना भी वे नहीं भूले हैं। जब चेला उनसे पूछता है कि मन का क्या स्वरूप है, तो वे कहते हैं, 'अवधू मन का सुंनि रूप।" उन मन को लेकर गोरख और ध्यान-योगी बिलकुल एक हैं। अब निर्गुण साधना की ओर आइये। कबीर की साधना में तो यह विचार भरा ही पड़ा है। "मन गोरख मन गोविन्दौ मन ही औघड़ होइ। जे मन राखै जतन करि तो आपै करता होइ।" "मेरा मन रामहि आहि।" कबीर बार-बार इस मन (इन मन) और उस मन ('उन मन') की बात कहते हैं और उन दोनों की अभिन्नता को अपनी साधना का चरम लक्ष्य बताते हैं जो बिलकुल बौद्ध विचार है और ध्यान-सम्प्रदाय का सर्वस्व है। देखिये—

"अब मैं इन मन उन मन जाना"
अर्थात् "अब मैं इस मन से उस मन को जाना"

और भी

"मन लागा उन मन्न सों गगन पहुँचा जाइ।" ("यह मन उस मन से जा लगा और गगन (शून्य) में जा पहुँचा")

और भी स्पष्टतः

'मन लागा उन मन्न सों, उन मन मनहिं विलग्ग।
लूण विलग्गा पाणियां, पाणीं लूण विलग्ग॥

अर्थात् "जब यह मन उस मन से मिल गया तो वह मन भी इस मन से मिलकर एक हो गया। नमक पानी में मिल गया और पानी नमक से मिलकर एकाकार हो गया।" जिन्हें बौद्ध वेदान्त का ज्ञान नहीं है वे कह सकते हैं कि यह शंकर का अद्वैत वेदान्त है, परन्तु असली बात की ओर संकेत 'इन मन' और 'उन मन' के विचार करते हैं जिन्हें शांकर वेदान्त में क्या, सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में अन्यत्र खोजना व्यर्थ है। हम एक जगह पहले (पांचवें परिच्छेद में) देख चुके हैं कि कबीर के "मन में ब्रह्म प्रकासै" का अधिक तर्कसम्मत सम्भावित स्रोत बौद्ध वेदान्त ही है शंकर का वेदान्तिक प्रतिबिम्बवाद नहीं। कबीर में दो मनों का विचार इतना अधिक है कि अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है। फिर भी एक-दो और लीजिये

'मन दीया मन पाइये मन बिन मन नहिं होइ
मन उन मन उस अंड ज्यूं अनल अकासां जोइ।

अर्थात् "जब तक हम अपने इस मन को नहीं देते तब तक हमें उस मन की प्राप्ति नहीं हो सकती। 'उन मन' के प्रति हमारी निष्ठा उसी प्रकार की होनी चाहिये जिस प्रकार की उस अंडे की होती है जिसे अनल पक्षी आकाश में देता है और जिससे बच्चा निकलकर फिर आकाश की ओर ही उड़ जाता है।" यहां कबीर यही कहना चाहते हैं कि हमारे 'इन मन' को 'उन मन' के प्रति सदा लगे रहना चाहिये। कितना साफ उन्होंने अन्यत्र भी कहा है

"उठत बैठत कबहुं न बिसरै ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उन मन रहनी सो परगट करि गाई।

इसी प्रकार

'कहै कबीर मन मनहिं समाना।'"

इस पद में यहां जो मन समाता है वह परिच्छिन्न, सापेक्ष मन है और जिसमें यह मन समाता है, वह मन है अपरिच्छिन्न निरपेक्ष। इस प्रकार यह शून्य बोध विचार कबीर में मिलता है। "उन मन मनुआ सुन्नि समाना" से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस निर्पेक्ष मन में यह सापेक्ष मन समाता है, वह वस्तुतः शून्य ही है। यही शून्य में स्नान करना (सुन्नि असनान) भी है जिसका अनुभव कबीर ने किया है। वस्तुतः स्वयं कबीर ने भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं छोड़ा है कि मन के जिस बृहद् रूप को वे ले रहे हैं, परम सत्य के साथ उस एकाकार कर रहे हैं और उसके साथ व्यक्तिगत सान्त मन को मिलाने को साधना का उच्चतम रूप मान रहे हैं, वह वैदिक बोध से प्रथम और उससे ऊँचा अनुभव है। उनका कहना है कि सनक सनन्दन जयदेव, नामदेव ने भी भक्ति की, परन्तु मन को उन्होंने भी नहीं जाना। शिव ब्रह्मा और ज्ञानी मुनि नारद हैं, परन्तु मन की गति को उन्होंने भी नहीं जाना। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और शेष, इन सबने भी शरीर के अन्दर मन को नहीं देखा

सनक सनन्दन जै देव नामा। भगति करी मन उनहुं न जाना॥
सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यानी। मन की गति उनहुं नहिं जानी॥
ध्रु प्रहिलाद बभीखन सेषा। तन भीतरि मन उनहुं न देखा॥

कबीर साहब कुछ उल्लेख उन साधकों का भी करते हैं जिन्होंने 'मन' को देखा है और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि जिन नामों को कबीर ने लिया है उनका सम्बन्ध इतिहास बौद्ध योग की धारा से ही स्पष्टतः जोड़ता है।

गोरख भरथरी गोपीचन्दा। ता मन सौं मिलि करैं अनन्दा॥

'ता मन' अर्थात् 'उस मन' (पर मन) से मिलकर गोरख, भर्तृहरि और गोपीचन्द ने आनन्द प्राप्त किया है। और भी स्पष्ट करते हुए कबीर साहब

कहते हैं कि षट् दर्शन और छियानवे पाषण्ड (दार्शनिक सम्प्रदाय) 'उस मन' को जानने के लिए आकुल हैं, परन्तु जान नहीं पाये हैं

षट् दरसन छ्यानवे पाखण्ड आकुल किनहुं न जान।

कबीर का यह पर मन सम्बन्धी विचार और उसमें व्यक्तिगत मन को मिलाने की साधना वैदिक धर्म से व्यतिरिक्त उच्चतर स्रोत से आई है तभी कबीर निर्भय होकर यह घोषणा कर सके हैं

कहै कबीर मन मनहिं समाना।
तब आगम निगम झूठ करि जाना॥

वेद-शास्त्रों को कबीर ने झूठा नहीं कहा ('वेद-पुरान कहो किन झूठा')। केवल इस उच्चतर सत्य की अपेक्षा में उन्हें झूठा कहा है। मन का मन में समाना उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव है और यह वेदों या अन्य ग्रन्थों के अनुशीलन से प्राप्त नहीं होता

कागद लिखि लिखि जगत भुलाना।
मन ही मन न समाना॥

ध्यानी साधक भी इससे अलग एक प्रकार भी क्या कहेंगे? जो उन्होंने कहा, उसी को सात-आठ शताब्दियों बाद कबीर ने दुहरा दिया, उसकी गवाही दे दी। निश्चयतः कबीर साहब 'उस मन' के खोजी हैं जिसके ध्यानी साधक हैं और अन्यों को भी वे उसी को खोजने का उपदेश देते हैं:

'ता मन को खोजहु रे भाई।

इस लेखक का विश्वास है कि चीन जापान और कोरिया के लाखों 'ध्यानी' साधक जब यह जानेंगे कि भारत में पन्द्रहवीं शताब्दी में एक ऐसा साधक हुआ है जो 'अकथ' और 'निरंजन' के रूप में मन का गवेषी था तो कबीर के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ेगी उनके गूढ़ आध्यात्मिक अनुभवों को वे अधिक जानना चाहेंगे और

कबीर की वाणी पश्चिम में जाने के बाद अब मध्य-एशिया और पूर्वेशिया में भी निश्चयत: सामग्री और उसका वहां और भी अधिक आदर होगा।

हां तो कबीर ने परम सत्य के रूप में मन को देखा है और यह बौद्ध विचार है। ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों ने बौद्ध होने के नाते मन को बुद्ध कहा था। कबीर तो वैष्णव साधक थे राम नाम के उपासक थे। वे क्या कहेंगे? बिलकुल वही जो कहना चाहिये। "मेरा मन सुमिरै राम कूं मेरा मन रामहि आहि।" और भी स्पष्ट कबीर ने कहा है 'अकल निरंजन सकल सरीर। ता मन सौं मिलि रहा कबीर।' जो मन 'सकल शरीरों' में व्याप्त है 'अकल' है, 'निरंजन' है, 'उसी मन' से कबीर साहब मिले हुए हैं। कोरी राजा! ज्ञानियों के चक्रवर्ती! तुम तो 'ध्यानियों' की पंक्ति में बैठे हुए हो जिसमें महाकाश्यप, बोधिधर्म और हुइ-नेंग् बैठे!

विद्वानों ने कबीर द्वारा बहुल रूप से प्रयुक्त "उन्मनि" या 'उन्मन' शब्द के प्रसंगानुसार अनेक अर्थ सुझाये हैं परन्तु यदि हम 'इक मन' ('इस मन') और 'उस मन' ('उन मन') के केन्द्रीय विचार पर ध्यान रक्खें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर 'उन्मन' या उन्मनि की अवस्था से केवल एक ही आध्यात्मिक क्रिया का बोध कराना चाहते हैं और वह है अपने व्यक्तिगत मन को अनन्त निरपेक्ष मन के साथ मिला देना। इसी को कबीर 'उन्मनि ध्यान' कहते हैं जिसे केवल अपने हृदय के अन्दर साक्षात्कार किया जा सकता है। "उन्मनि ध्यान घट भीतर पाया।" कबीर ने 'उनमन' साधु का जिक्र किया है जिससे भी तात्पर्य ऐसे साधक से है जिसने अपनी सान्त चेतना को अनन्त चैतन्य में मिला दिया है। बहुत महती है 'उन्मनि' या 'उन्मन' की अवस्था! ध्यान सम्प्रदाय के साधक इसे अप्रकट ही रहने देना अधिक चाहेंगे यद्यपि उनमें से कुछ ने उसे 'साधना-विहीन साधना' या 'अ-साधना द्वारा साधना' के रूप में प्रकट भी कर दिया है यह हम चौथे परिच्छेद में देख चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि साधना अप्रकट है जबकि वह कहती है "पैर पानी से नहीं भीगते" परन्तु वह 'घोषित' हो जाती है जबकि वह कहती है कि "पानी पैरों को नहीं भिगोता।" कबीर भी इस प्रकट और अप्रकट के मर्म को जानते हैं। उनका भी मन्तव्य है कि 'उन्मनि' या 'उन्मन' की अवस्था अप्रकट ही गूढ़ है। परन्तु यदि उसे 'सहज समाधि' कह दिया जाय, तो वह जैसे 'प्रकट' कर दी गई है।

साधो ! सहज समाधि भली ।
जहँ जहँ डोलौं सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा ।
× × ×
कह कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि गाई ॥

'उनमनि' को 'रहनि' (जीवन-विधि) बनाकर और उसे 'सहज समाधि' से मिलाकर कबीर ने उसे 'परगट' कर दिया है। 'सो परगट करि गाई।" सचमुच यह महान् कार्य है। परन्तु 'ध्यान-योगी' यहाँ यही कहते दिखाई पड़ते हैं "कबीर की वाणी ने उसे 'घोषित' कर दिया है।

मन की साधना बौद्ध धर्म का सर्वस्व है इस पर यहाँ अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण के अवसर पर अपने शिष्यों से कहा था "अपने चित्त की रक्षा करो" ("सचित्तमनुरक्खथ")। मेरा दृढ़ विश्वास है कि गुरु गोरखनाथ जब बार-बार कहते हैं कि 'दिढ़ करि राषि आसणां जीत' या 'दिढ़ करि राखउ जीभा" और कबीर साहब उसी की पुनरावृत्ति-सी करते हुए कहते हैं कि "जो मन राखै जतन करि" तो ये दोनों महात्मा बिल्कुल अनजान में उस अत्यन्त महिमाशालिनी साधना के प्रभाव की ही गवाही दे रहे हैं जो महायोगी शाक्यमुनि से उद्भूत हुई और एक ओर तिब्बत, चीन जापान कोरिया बाहरी मंगोलिया और साइबेरिया तक फैली और दूसरी ओर श्रीलंका, बर्मा, थाई-देश इण्डोनेशिया लाओस और वियत-नाम तक और सब जगह अपने चित्त को सम्हालने की बात साधकों से कहती गई, जिसके यदि इस सम्बन्धी वचनों को ही, जो इन देशों की भाषाओं में प्रकटित हुए हैं इकट्ठा किया जाय तो कई महाग्रन्थ भर जायेंगे। बुद्ध के ही देश के एक मध्य भूमिखण्ड की साधनाएँ—नाथ-पन्थ और निर्गुण-पन्थ | यदि इस साधना-मार्ग से आभासित हुईं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

'सुरति' और 'निरति'

मन या चित्त की रक्षा के लिए तथागत ने 'स्मृति' का उपदेश दिया था। हम अपने मन की रक्षा कैसे करें ? बुद्ध का संक्षिप्त उत्तर होगा "स्मृति को सामने उपस्थित रखकर।" ('परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा')। सन्तों ने बार-बार जो 'सुरति' का उपदेश दिया है वह यह 'स्मृति' (पालि 'सति') ही है जो बौद्ध साधना की मेरुदण्ड है। बौद्ध साहित्य में बार-बार साधक के लक्षणों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने स्मृति को सामने रखा हुआ है, उसकी

स्मृति उपस्थित है। थेरी-गाथा (गाथा २५०) में रोहिणी भिक्षुणी बौद्ध श्रमणों के गुणों का गान करती हुई उनके विषय में "एकग्गचित्ता सतिमन्तो" (एकाग्र चित्त, स्मृतिमान्) विशेष रूप से कहती है। इसी प्रकार चाला अपने लिए 'सति उपट्ठितसाय भिक्खुणी भावितिन्द्रिया' कहती है और उपचाला भी अपने लिए 'सतीमती चक्खुमती।' 'थेरगाथा' में तो इस प्रकार के वर्णन और भी भरे पड़े हैं, जिनकी गिनती करना मुश्किल है। बुद्ध भगवान् भी अपनी साधना का वर्णन जब कभी अपने शिष्यों के कल्याण के लिए करते थे तो सबसे पहले यही कहते थे, "उस समय मेरी अ-विस्मृत स्मृति उपस्थित थी। ("उपट्ठिता सति असम्मुट्ठा") बोधिराजकुमार-सुत्त (मज्झिम २।४।५) तथा भयभेरव-सुत्त (मज्झिम १।१।४) में बुद्ध ने इस प्रकार अपनी साधना का वर्णन किया है। योग के साधक भिक्षु को सर्वप्रथम 'स्मृति' से सम्पन्न होना चाहिये और बुद्ध स्मृति के साधक भिक्षु के प्रशंसक हैं, यह बात लटुकिकोपम-सुत्त (मज्झिम २।२।६), महातण्हासंखय-सुत्त (मज्झिम १।४।८) महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम १।४।९) तथा चातुम-सुत्त (मज्झिम २।२।७) आदि में इतनी अधिक बार आई है कि उसकी गणना करनी कठिन है। 'स्मृति' का साधारण संक्षिप्त अर्थ है अपनी काया और मन के प्रत्येक व्यापार और क्रिया की निरन्तर जानकारी, याद रखना और उनके सम्बन्ध में सावधानी बरतना। समाधि की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है। 'स्मृति' साधकों की रक्षा करती है जैसे कि वह उनकी पहरेदारनी हो। साधक की वस्तुतः पहचान ही यह है कि वह 'स्मृतिमान्' हो। गुरु गोरखनाथ ने अपने योग की प्रक्रिया में 'स्मृति' को भारी महत्व दिया है और बार-बार अपनी सबदियों में और अन्यत्र इसका उल्लेख किया है। "सुरति मही संसा जिनि लागो पूँजी हानि न होई।' इस उपदेश में बौद्ध स्मृति का महत्व ही ध्वनित हो रहा है। परन्तु इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में उन्होंने 'सुरति' की साधना का उपदेश दिया है, जिससे उसके बौद्ध उद्गम के विषय में कुछ सन्देह ही नहीं रह जाता। चेला पूछता है "स्वामी कौण सुषि बैठै कौण सुषि चलै, कौण सुषि बोलै, कौण सुषि मिलै।' गुरु उत्तर देते हैं, "अवधू सुरति सुषि बैठै सुरति सुषि चलै, सुरति सुषि बोलै सुरति सुषि मिलै।" कितनी व्यापक है 'सुरति' की यह साधना गोरखनाथ के योग-विधान में! 'सुरति को ही सामने रखकर बैठे, सुरति को ही सामने रखकर चले सुरति को ही सामने रखकर बोले, सुरति को ही सामने रखकर मिले।" और निश्चयतः इतना ही व्यापक, बल्कि इससे भी अधिक व्यापक महत्व 'स्मृति' का बौद्ध साधना में है। और दोनों एक हैं इसका इससे बड़ा प्रमाण और क्या मिलेगा कि

बुद्ध सदा 'स्मृति' को सामने रखने की बात कहते हैं 'परिमुखं सतिं' और उसी का प्रभाव अक्षरशः अनुवाद-सा करते हुए गुरु गोरखनाथ रट लगाते हैं 'सुरति मुषि' 'सुरति मुषि'। इससे अधिक 'सुरति' के अर्थ-निर्धारण में और क्या चाहिए? स्मृति के चार प्रस्थान बौद्ध धर्म में माने गये हैं काया में काया को देखना, वेदनाओं में वेदना को देखना, चित्त में चित्त को देखना और धर्मों (मानसिक विषयों) में धर्म को देखना। इन चार स्मृति प्रस्थानों को बुद्ध ने प्राणियों के लिए 'विशुद्धि का एकायन मार्ग' कहा है। 'एकायनो अयं भिक्खवे मग्गो सत्तानं विसुद्धिया' "यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।" इस प्रकार 'स्मृति' बौद्ध धर्म में विशुद्धि का 'एकायन मार्ग' है। क्या आश्चर्य है कि गुरु गोरखनाथ स्मृति को विशुद्धि या शुचिता का पर्याय ही बताते हैं। मछीन्द्र-गोरख-बोध में उन्होंने कहा है "सुरति सोचित।"

निर्गुणपन्थी सन्तों की बानियों में भी 'सुरति संभाल चालिजा" की चेतावनी बार-बार आई है जो बौद्ध साधना के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है। कबीर ने 'सुरति' को 'निरति' में समाते देखा है और 'निरति' को 'निराधार' बताया है। 'सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधार।" इसका कोई अर्थ ही स्पष्टतापूर्वक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि 'सुरति' को हम बौद्ध 'स्मृति' और 'निरति' को निरोध-समापत्ति या निरोध-समाधि न मानें। स्मृति के अभ्यास का पर्यवसान निरोध-समाधि में होता है और इस समाधि का कोई आलम्बन नहीं होता। 'निरति' के जितने अर्थ आधुनिक विद्वानों के द्वारा सुझाये गये हैं उनमें से किसी से यह स्पष्ट ही नहीं होता कि 'सुरति' 'निरति' में प्रवेश कैसे करती है और 'निरति' 'निराधार' क्यों है? परन्तु बौद्ध योग की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए यदि इसे हम समझना चाहें तो सारी बात साफ हो जाती है। कबीर की 'निरति' का क्या अर्थ है इसके लिए यदि उनके पूर्व के गुरु गोरखनाथ के इस सम्बन्धी विचार को हम पहले देखें, *जिनसे कबीर निश्चयतः प्रभावित थे और कई बातों में जिनकी परम्परा को उन्होंने आगे बढ़ाया है* तो बात हमारी समझ में आ सकती है। गोरखनाथ की एक बानी है 'मछीन्द्र गोरख-बोध' में—'निरति निरालम्ब'। इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण क्या होगा कि 'निरति' वस्तुतः चित्त की 'निरालम्ब' स्थिति है जो पालि में 'निरोध-समाधि' के रूप में आती है और 'अ प्रतिष्ठ चित्त' या शून्यतानुभूति के रूप में जिसका साक्षात्कार हुइ-नेंग् तथा अन्य 'ध्यानी' साधकों ने किया, जिसका सम्बन्ध महायान की योग-चार से है। इस रूप में ही 'सुरति' का 'निरति' में समा जाना समझा जा सकता है।

बौद्ध योग में स्मृति के अभ्यास के बाद ही निरोध-समाधि की अवस्था है। आर्य अष्टांगिक मार्ग में भी सातवां स्थान स्मृति का है और आठवां समाधि का, जो अन्तिम है। इस प्रकार 'सुरति' 'निरति' में समाती है। गुरु गोरखनाथ ने तो यहां तक कहा है कि 'सुरति' और 'सबद' दोनों को ही मिटा कर साधक को 'निरति' में रहना चाहिये। "दुहूं को मेटि निरति में रहै।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह निरोध-समाधि या शून्यता के अनुभव में ही सम्भव है जो सब कुछ को अपने अन्दर रखने की सामर्थ्य रखती है।[1]

---

१ 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' (द्वितीय भाग, पृष्ठ १०९१) में मैंने निरति को विरति बताया था। साधारण दृष्टि से ही मैंने उस समय विचार किया था। 'निरति' के गहरे आध्यात्मिक अनुभव के रूप का उस समय मुझे बोध नहीं था। जैसे-जैसे मैंने गोरख और कबीर को अधिक गहराई के साथ पढ़ा और विचार किया तो मुझे लगता है कि निरति एक साधारण विरति की अवस्था नहीं बल्कि परावृत्ति के अभ्यास से विकसित आध्यात्मिक अनुभव की वह सघन अवस्था है जिसे निरोध-समाधि या शून्यतानुभव से अभिन्न माना जा सकता है। शाब्दिक दृष्टि से भी 'निरति' शब्द का अर्थ लीन होना है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। 'राम-नाम-रत निरत सुजन पर करत छांह बोर बामो।' विनय पत्रिका। इसी प्रकार थेरीगाथा (गाथा १०१) तक में "सुत्वो धम्मं मे देसेसि तत्थ मे निरतो मनो" अर्थात् 'गुरु ने मुझे धर्म का उपदेश दिया और उसमें मेरा मन लीन हो गया।' कबीर-साहित्य में यह शब्द 'दस मन के' 'दस' मन में रमने या परिच्छिन्न मन के अपरिच्छिन्न मन या शून्य में समाने या लीन होने के अर्थ में आया है। "निरति रही निरधार" से यह स्पष्ट है। ब्रह्म में लीन होना या राम में लीन होना अर्थ हम इसलिये नहीं ले सकते क्योंकि उसे किसी प्रकार 'निरधार' नहीं कहा जा सकता। राम में लीन होने की तो कोई बात ही नहीं ब्रह्म-समाधि भी किसी प्रकार 'निराधार' अवस्था नहीं कही जा सकती। उसमें 'ब्रह्म' आधार के रूप में विद्यमान रहता है। परन्तु 'शून्य-समाधि' अवश्य 'निराधार' है, उसमें शून्यता का विचार भी लुप्त हो जाता है। ब्रह्मानुभूति और शून्यतानुभूति में अन्तर ही यह है कि एक में आधार (ब्रह्म) बना रहता है, जबकि दूसरे में वह भी विलुप्त हो जाता है। वेदान्ती इसीलिये 'शून्य' से संत्रस्त होते रहे हैं। सूरदास ने "निरालम्ब मन चकृत धावै" में निर्गुण पद की ओर संकेत किया है, उसे यद्यपि उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना से सम्बन्धित किया है परन्तु वह पूर्णतः शून्य पर ही लागू है। सूरदास से पूर्व के वैष्णव आचार्यों ने शंकर के ब्रह्म पर यही लांछन लगाया था कि उनके ब्रह्म बौद्धों के शून्य जैसे लगते हैं। इसी से प्रभावित होकर सूरदास ने निर्गुण ब्रह्मोपासना में 'निरालम्ब मन' होने की बात कही है परन्तु वास्तव में यह बौद्ध योगियों की शून्य-समाधि या अ-प्रतिष्ठ चित्त के सम्बन्ध में ही पूर्णतः ठीक बैठ सकती है। कबीर अधिक संग्राहक विचारक और साधक थे। उन्होंने राम को पाया था और इसे ही दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि उन्होंने शून्य को पाया था। कबीर की बानी में यह बिल्कुल सम्भव है। उनके इस मत की बानगी देखिये—"हम रामहिं पावहिंगे…सुन्निहि मांहि समावहिंगे।" राम में मिलना ही शून्य में मिलना है। यही 'निरति' की अवस्था है, जिसमें सब कुछ समा जाता है सुरति भी, 'सबद' भी।

'सुरति' को कबीर ने ढेंकुली की उपमा दी है ('सुरति ढेंकुली') गगन को रस्सी बताया है और मन को 'ढोलन हार', और कहा है कि इस प्रकार 'कँवल कुँवार' से प्रेम-रस पीया जाता है। इस बात की कितनी अधिक समता इस बुद्ध उपदेश से है कि जो (कायगता) स्मृति का अभ्यास करते हैं वे अमृत को पीते हैं और जो इसका अभ्यास नहीं करते वे अमृत से वंचित रह जाते हैं। बुद्ध ने कहा है कि जैसे पाताल तोड़ कुएं में अपार जल की धारा निकलती है, वैसे ही आनन्द का अजस्र स्रोत उस साधक के हृदय में फूट पड़ता है जो कायगता स्मृति का अभ्यास करता है और उससे उसके शरीर का कोई अंग अछूता नहीं रहता।[1] इतना परिपूर्ण है यह आनन्द! 'सुरति' सन्त-साधना में भी अमृत-रस को पीने का एक महान् साधन मानी गई है। इसके द्वारा ही सन्त अपने घट में अमृत पान करते हैं। यह आध्यात्मिक अनुभव निश्चयतः बौद्ध साधना से ही सन्तों को प्राप्त हुआ है। 'चित्ते चित्तानुपस्सना' के रूप में भी स्मृति का एक प्रस्थान बौद्ध साधना में है। कबीर का 'मन मनहिं समाना' इसी का बिलकुल शाब्दिक अनुवाद है और अभ्यास में भी यह बिलकुल वही चीज है। 'परावृत्ति' की साधना ध्यान सम्प्रदाय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और लंकावतार-सूत्र तथा बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में उसका अनेक जगह उल्लेख हुआ है। विद्वानों ने उसके अर्थ की बड़ी मीमांसा की है। परन्तु इसे यदि हम बौद्ध अर्थ में सर्वोत्तम रूप से समझना चाहें तो कबीर की केवल इस वाणी के अर्थ को समझ लेना पर्याप्त होगा—"मन रे मनहीं उलटि समाना।" या "मन उलट्या दरिया मिल्या।" यही 'परावृत्ति' है। बाह्य विषयों से विमुख होकर चित्त के चित्त में समाने को कबीर इतनी उच्च साधना मानते थे कि इसी को ध्यान में रखकर वे अधिकारपूर्वक कह सके हैं कि "अब मन मनहिं समाना" तो "आगम-निगम झूठ करि जाना।" "अब मन उलटि सनातन हुआ" में भी यही साधना-प्रक्रिया है। बौद्ध दर्शन में चित्त की क्षणिकता का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। इसके अनुसार प्रत्येक क्षण चित्त के उदय और व्यय होते रहते हैं। कबीर एक जगह बिलकुल क्षणिक विज्ञानवादी के रूप में पूछते हैं 'कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता कालि।" "यह मन कहाँ गया गया जो मन कल था?" निश्चयतः अनुभव-ज्ञानी कबीर के मन में इस प्रकार के प्रश्न उठा करते थे जिनका सम्बन्ध बौद्ध चिन्तन से है। सुरति की समस्या के सम्बन्ध में हम यहाँ आगे यह और कहना चाहेंगे कि ध्यान-सम्प्रदाय की

---

१ देखिये कायगतासति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९) महासकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम २।३।७) मिलाइये सौन्दरनन्द १४।४५।

साधना में, जैसे कि सम्पूर्ण बौद्ध धर्म की साधना में, बिना स्मृति के साधक को धूप भी नहीं मिलती और सन्त-साधना में वही 'सुरति' के रूप में रक्खी हुई है।

'स्मृति' की साधना का भारी महत्त्व भारतीय धर्म-साधना में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और कहीं नहीं है और निश्चयतः वह सन्तों को वहीं से मिली है। इसका प्रमाण स्वयं पातञ्जल योग-सूत्र में भी मिलता है। योग-सूत्र में श्रद्धा, वीर्य स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास को आवश्यक बताया गया है, जो बिलकुल बौद्ध साधना की पाँच 'इन्द्रियाँ' या आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जिनमें 'स्मृति' एक है। यद्यपि योग-सूत्र में पारिभाषिक 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु इसके स्थान पर एक अन्य सार्थक बात वहाँ कही गई है, जिसका भी वही अर्थ है। स्वयं सूत्र को ही देखिये "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (१।२०)। बिलकुल स्पष्ट है कि इन सबकी साधना 'इतरेषाम्' की है, वैदिक धारा से इतर, श्रमण साधकों की है। इन 'इतरेषाम्' से ही बौद्ध ध्यानियों से ही, सन्तों ने इसे लिया है इसमें लेशमात्र भी सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है।

एक निर्गुणपन्थी सन्त ने कहा है, "सुरति संभाल पनरिया न छलके।" इसे मैं तेलपत्त-जातक की सर्वोत्तम व्याख्या या उसका सारांश कहता हूँ। इस जातक में बुद्ध ने तेल के पात्र की उपमा देकर उपदेश दिया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है एक स्थान पर एक अत्यन्त रूपवती जनपदकल्याणी का नाच-गान हो रहा था। जन-समूह उमड़ा पड़ रहा था उसे देखने के लिए। राजा ने जब यह बात सुनी तो अपने जेलखाने से एक कैदी को बुलवाया। उसकी बेड़ियाँ कटवाकर तेल से लबालब भरा एक पात्र उसके हाथ में दे दिया गया। एक सिपाही को जिसके हाथ में नंगी तलवार थी, राजा ने आदेश दिया, "इस आदमी को वहाँ ले जाओ जहाँ जनपदकल्याणी का नाच हो रहा है। यदि लापरवाही के कारण यह एक बूँद भी तेल इस पात्र से गिरा दे, तो वहीं इसका सिर काट देना।" वह सिपाही तलवार उठाकर उस आदमी को वहाँ ले गया। मरण से भयभीत उस पुरुष ने एक बार भी आँख को तेल से हटाकर उस जनपदकल्याणी की ओर न देखा, क्योंकि जरा भी तेल गिरता कि उसका सिर तलवार से कटकर धरती पर गिरता। तेलपात्र के सम्बन्ध में उस सावधानी और जागरूकता को ही बुद्ध ने 'स्मृति' कहा है। अब अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि "पनरिया न छलके" में तेलपात्र से एक बूँद भी न गिरने की बात कही गई है और 'सुरति' का संभालना तो 'स्मृति' का संभालना है ही। वस्तुतः यही विधि है जिससे बौद्ध साधना के

सर्वोत्तम तत्व वर्तमान हिन्दू धर्म में समा गये हैं। यदि यह पूछा जाय कि भारत में बौद्ध साधना अपने सर्वोत्तम रूप में किस प्रकार हिन्दू धर्म में समाविष्ट हुई है तो केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि "सुरति शब्द में लीन।" इस विधि को प्रकट कर दिखाना बहुत आवश्यक है और इससे सन्तों की साधना को अतिरिक्त महत्व मिलता है। उन्होंने हमें 'शब्द' भी दिया और उसके साथ 'सुरति' भी दी। 'शब्द-सुरति' के 'योग' की इतनी महान् साधना है कि उसके परिणामों को देखकर स्वयं कबीर साहब विस्मित हैं। "सुरति-शब्द मेला भया काल रहू या महि मौन। इस 'शब्द-सुरति-योग" के सम्बन्ध में पहले भी कुछ निवेदन किया जा चुका है। केवल इस एक बात पर यहां कुछ जोर देना और आवश्यक है कि सन्तों की 'सुरति' या स्मृति या 'सुमिरन' अनित्यता और अनात्म के चिन्तन के साथ-साथ हरि-स्मरण ही अधिक है। जैसा नानक देव ने कहा है, "सुमिरन कर ले मेरे मना। तेरी बीती जाय उमरिया हरि नाम बिना।" बुद्ध की स्मृति पूर्णतः ध्यानमय है। उसे सन्तों ने हरि-स्मरण में जोड़ा है। बुद्ध ने 'आनापान' अर्थात् श्वास के आने और जाने के साथ 'स्मृति' की साधना करने का उपदेश दिया था। उसे वैष्णव साधन में नियोजित करते हुए कबीर साहब कहते हैं "सांसों सांसा नाम जप।" अतः यही 'सुमिरन' हो गया है। साधना की इस नई विनियोजना को मैं भारतीय आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा प्रयोग और आविष्कार मानता हूं जो अब तक हमारे सारे आध्यात्मिक इतिहास में किया गया है।

कबीर ने बार-बार मन को मारने की बात कही है "इस मन कूं विसमिल करूँ", "मैमन्ता मन मारि रे", "मारू तो मन मूग करौं", "कबीर मारूं मन कूं", "मन न मार्‌या मन करि" आदि। बौद्ध साधना में यह विचार बार-बार आता है। वज्रयानी सिद्धों की वाणियों में भी यह बात बार-बार आई है जिसको दुहराने की यहां आवश्यकता नहीं है। ध्यान-सम्प्रदाय में भी यह बात आई है और मन की शिक्षा के क्रमिक विकास का जो विवरण हम चौथे परिच्छेद में उसकी साधना-विधि के प्रसंग में दे चुके हैं उसमें हम देखते ही हैं कि अन्त में मनुष्य और बैल दोनों गायब हो जाते हैं। बैल अर्थात् हमारा मन। ध्यान-साधना का अन्तिम लक्ष्य यही है।

'मन बस्यौ'

इस बैल की बात पर ही मन ठहरता है। बैल की शिक्षा के रूप में मन की शिक्षा का विधान हम पूरी तरह चौथे परिच्छेद में देख चुके हैं। उसको यहां

दुहराने की आवश्यकता नहीं। केवल यही कहना चाहिये कि गुरु गोरखनाथ को भी इस बैल का पूरा पता था, तभी तो उन्होंने उस बात को प्रकट कर दिया है जिसे ध्यानियों ने अन्तर्हित ही रक्खा है अर्थात् 'मन बछो', 'मन ही बैल' है। यह सर्वोत्तम शीर्षक है जो ध्यान-सम्प्रदाय की मन की शिक्षा सम्बन्धी दस तस्वीरों को दिया जा सकता है, जिसका उल्लेख हम पहले चौथे परिच्छेद में कर चुके हैं। यद्यपि इस बैल की शिक्षा का पूरा क्रमिक विधान हमें गुरु गोरखनाथ की सबदियों में नहीं मिलता, परन्तु एक दो अवस्थाएं अवश्य मिलती हैं। उदाहरणतः चौथे परिच्छेद में दी गई बैल के शिक्षण सम्बन्धी दस तस्वीरों में से दूसरी तस्वीर में बैल के नकेल डाली जाती है और उसके नीचे जो कविता दी गई है उसके प्रारम्भ का वाक्य है "मेरे पास तिनकों की बनी एक रस्सी है और इसे मैं उसकी नाक में होकर डाल देता हूं। बिलकुल इसी अवस्था को लक्ष्य कर गुरु गोरखनाथ कहते हैं, "सहजा छांटीका उपजावो" अर्थात् "इसकी नाक में सहज की रस्सी (छांटीका) डाल दो।" ध्यान-सम्प्रदाय की पहले दी हुई तस्वीरों के अनुसार पांचवीं तस्वीर में बैल पूर्णतः पालतू बना लिया जाता है और लड़का अपने घर चल देता है और बैल धीरे धीरे उसका अनुसरण करता है। सम्भवतः इसी अवस्था को घोषित करते हैं गुरु गोरखनाथ जबकि वे कहते हैं "सहज सुभायं बाखर लाई" अर्थात् 'सहज, स्वाभाविक रूप से मैंने इस पशु को बाखर (घर) के अन्दर कर लिया है।' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक बात हमें इस सम्बन्ध में यह मिलती है कि गुरु गोरखनाथ ने जिस बैल के नकेल डाली है और उसे घर के अन्दर ले आये हैं उसका रंग उन्होंने सफेद (धौला) बताया है। "मन पवना धौरी जोतावो" ("इस मन पवन रूपी धौरे बैल को जोत में डालो")। मन को सफेद बैल कहने का विचार ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार तो बिलकुल ठीक है, परन्तु गोरखपन्थी हठयोग के अनुसार या अन्य किसी भारतीय दर्शन-साधना के अनुसार इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती कि यहां मन को सफेद रंग का बैल कहने में क्या विशेष सार्थकता है? मन को सफेद बताने की कोई व्याख्या मध्यकालीन भारतीय धर्म-परम्परा में नहीं मिलती। परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय इस गुत्थी को सुलझा देता है। ध्यानी सन्त जिस मन-बैल की खोज कर उसके नकेल डालते हैं और उसे पाले शिक्षित करते हैं वह पहले काले रंग का होता है और शिक्षण मिलते-मिलते क्रमशः सफेद रंग का होता जाता है और अन्त में तो अपने अस्तित्व को ही लुप्त कर देता है। चौथे परिच्छेद में बैल के शिक्षण-सम्बन्धी जिन दस तस्वीरों को हम दे चुके हैं, उनमें यही बात दिखाई पड़ती है और यहां निर्दिष्ट चित्रों और देखो की

तस्वीरों में भी यही बात साफ तौर पर दिखाई गई है—बैल का निरन्तर सफेद रंग का होते जाना और अन्त में गायब हो जाना। सफेद बैल शुद्ध मन का प्रतीक है और इसी अर्थ में उसे गोरखनाथ ने प्रयुक्त किया है जिसका स्पष्टीकरण 'ध्यान'-साहित्य—केवल 'ध्यान'-साहित्य में मिलता है। वहाँ बैल का निरन्तर सफेद रंग का होते जाना बहुत साभिप्राय है। इसके साथ ही यह तथ्य भी बहुत सार्थक है कि बौद्ध सिद्धों की वाणियों में भी हमें यह विचार मिलता है। बौद्ध सिद्ध शुद्ध मन को निर्विषय और निरालम्ब मन बतलाते हैं और उनके मतानुसार यही मन शून्य-रूप और गगनोपम है जिसकी समानता ध्यान-सम्प्रदाय के मन-बैल के अन्त में गायब हो जाने से है, जिसकी चित्रात्मक अभिव्यक्ति 'ध्यान' ने की है। इस प्रकार गुरु गोरखनाथ ने जिस बैल की नाक में 'सांटीड़ा डाला है जिसे वे 'बाखर' के अन्दर लाये हैं और जिस 'चोरे' मन पवन को उन्होंने ओट में डाला है वह वास्तव में ध्यानी सन्तों की चरागाह में चरने वाला बैल ही है जिसे उन्होंने चित्रित किया है इसमें बिलकुल भी सन्देह नहीं है। यहाँ तक कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि कबीर साहब ने भी मन को बैल का रूपक दिया है और उसको चित्रित करने के सम्बन्ध में कहा है, 'पाटी पहरु बैल ह्वै बाका चलौ गीति चितकारि।" ध्यान-सम्प्रदाय के मन बैल के चित्रण की छठी-सातवीं अवस्थायें जिन्हें हम पीछे परिच्छेद में दे चुके हैं, यह दिखाती हैं कि बैल को पालतू बनाने के पश्चात् रखवाला निश्चिन्त हो जाता है और उसे उसकी कोई चिन्ता नहीं रह जाती, क्योंकि बैल अब पूर्णतः वश में आ गया है। सातवीं तो अवस्था ही है "यथेच्छकारिता।" अब जैसा चाहे करे, उसके स्वामी रखवाले को अब उसकी कोई चिन्ता नहीं। वह पेड़ के नीचे बैठा बाँसुरी बजाता है और बैल उन्मुक्त होकर चरता है, वह जहाँ कहीं विचरे, चरे। उपर्युक्त यही अवस्था है जिसे कबीर ने इन शब्दों में घोषित किया है "रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै। अब न कोई तेरे अंकुश लावै।" कितनी समानता है कबीर के इस मन-सम्बन्धी सम्बोधन की उस उद्गार से जिसे 'ध्यानी' कवि ने छठी तस्वीर के नीचे दिया है "अब किसी कोड़े की आवश्यकता नहीं रही, किसी प्रकार के नियन्त्रण की जरूरत नहीं रही। बिलकुल एक भाव और एक ही शब्द है। मन को हाथी और अश्व के रूप में चित्रित करने के तो और भी उदाहरण भारतीय साहित्य में मिलते हैं परन्तु बैल के रूप में उसे रखना बौद्ध साहित्य की विशेषता जान पड़ती है। सिद्ध

देवसेन ने भी कहा है, "मनस विपासन"।[1] मुझे तो ऐसा लगता है कि '
मानुष' ('मन का मानुष') का जो विचार बाउलों की साधना में मिलता है वा
साधना का ही प्रभाव है जिससे ध्यान-सम्प्रदाय उद्भूत हुआ है। यह निरि
कि बाउलों की साधना अपने मूल रूप में शास्त्रों से बाहर एक विशेष सम्प्रदा
अतः अनेक बातों में ध्यान-सम्प्रदाय के साथ उसकी समानताएं दिखाई जा स
हैं। कुछ भी हो, बैल के रूप में मन की शिक्षा-सम्बन्धी जो तस्वीरें ।
सम्प्रदाय की परम्परा में पाई जाती हैं, वे सुंग्-काल की अर्थात् बारहवीं
तेरहवीं शताब्दियों के बीच की हैं अर्थात् ऐतिहासिक दृष्टि से वे नाथ-पन्थ
निर्गुण-पन्थ से कुछ पूर्व की हैं और अपने मूल विचार के लिए दोनों एक ।
स्रोत (बौद्ध धर्म) की ओर संकेत करती हैं। मज्झिम निकाय के महागो
सुत्तन्त में भगवान् बुद्ध ने गोयूथ की रक्षा के सम्बन्ध में कहा है और इसी नि
के महाहत्थि-सुत्तन्त में अश्व-परीक्षा का तथा कन्दरक-सुत्तन्त में हाथी के शि
का उल्लेख है। अतः ध्यान-सम्प्रदाय के समान गुरु गोरखनाथ और ।
साहब ने भी बैल और उसके शिक्षण-विधान किस स्रोत से पाये हैं इसके
में सन्देह नहीं रह जाता। प्रसिद्ध महायानी बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्ड
सूत्र' (दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी) के तृतीय परिवर्त (परिच्छेद) में ।
श्रावक-यान, प्रत्येकबुद्ध-यान और महायान को मृग रथ अज-रथ औ
रथ से उपमा दी गई है। इनमें गो-रथ अर्थात् बैल की जोड़ी से
(महायान) ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है और यहीं से यह सब ।
आगे चला है।

अन्त में हम यहां यह भी कहेंगे कि हुए-नेंग् (६३८-७१३ ई०) ने गुरु
को 'सफेद बैलों की गाड़ी'[2] के प्रतीक रूप में रक्खा है अतः बैल—और ।
का सारा प्रतीक बौद्ध स्रोत से नाथपन्थी और निर्गुणपन्थी सन्तों तक आ
इसमें बिलकुल सन्देह करने की गुंजायश प्रतीत नहीं होती।

सम्पूर्ण हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास में कबीर ही ऐसे निरा
जिनकी वाणी का वास्तविक मनोवैज्ञानिक महत्त्व है, परन्तु इस पक्ष की
हिन्दी के विद्वानों का ध्यान बिलकुल नहीं गया है। ध्यान-सम्प्रदाय के

१ सम्भवतः बौद्ध सिद्धों से ही प्रभावित जैन मुनि रामसिंह (११०० ई०) ने,
पाँच बैलों (पञ्चेन्द्रियों) को रखाने की बात कही है "पंचबलद्द ण रक्खियउं" ("हे ने पाँ
चो नहीं रक्खा।) पाहुड दोहा।

२ दि वस ऑफ वे-लॅंग (हुए-नेंग), पृष्ठ ७२।

तुलना करने पर कबीर के मन सम्बन्धी विचारों का महत्व और रहस्य खुलता है। उनके मनोवैज्ञानिक अभिप्रायों का मनन और अध्ययन जरूरी है।

बोधिधर्म और योगी परम्परा

मध्ययुगीन निर्गुण-साधना को ध्यान में रखते हुए जब हम ध्यान-सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं तो अनेक नई बातें हमारे सामने आती हैं। स्वयं बोधिधर्म के जीवन में दो-एक बातें ऐसी हैं जो नाथ-साधना के योगों के साथ ध्यान-सम्प्रदाय की एकात्मता की ओर संकेत करती दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणतः इस तथ्य की ओर ध्यान दीजिए ध्यान-सम्प्रदाय के आदिम काल से ही चीन के और बाद में जापान के चित्रकारों ने बोधिधर्म के चित्रांकन में रुचि दिखाई है। ये चित्र कहां तक वास्तविक हैं यह कहना कठिन है क्योंकि आकृति की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य अधिक रहा है और व्यंग्य की ओर भी ध्यान-साधना की प्रवृत्ति अधिक है। फिर भी जितने भी चित्र सातवीं शताब्दी के बाद से मिलते हैं सबमें एक प्रमुख बात यह है कि बोधिधर्म की दाढ़ी लम्बी बढ़ी हुई है और वे कानों में बड़े-बड़े कुण्डल पहने हुए हैं। मैंने पहली बार जापानी चित्रकार सैस्यु (१४२० १५०६) और बसोकु (मृत्यु सन् १४८३ ई०) के द्वारा अंकित बोधिधर्म के चित्रों को जब देखा जिनमें बोधिधर्म के कानों की लोरों में बड़े-बड़े कुण्डल पड़े हैं तो, एक भिन्न अर्थ में मुझे जायसी की ये पंक्तियां याद आ गई 'यह मुरति यह मुंदरा हम न देख अवधूत।' "हे अवधूत ! यह मुंदरा और यह मूरति तो हमने प्रकृत बौद्ध धर्म की भिक्षु-परम्परा में कहीं देखी नहीं !" सचमुच योगी बोधिधर्म जो ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा में बुद्ध के अट्ठाईसवें उत्तराधिकारी माने जाते हैं, एक बौद्ध भिक्षु कैसे लगते ही नहीं ! न काषाय, न मुण्डित सिर, न दाढ़ी-मूंछ मुंडी हुई ! न ऋजु दृष्टि बल्कि टेढ़ी एक रहस्यमय योगी की तरह भंगिमा लिये हुए, शून्य में निबद्ध दृष्टि, अदम्य संकल्प से परिपूर्ण ! किसी से सीधी बातें नहीं विदेश में भी किसी की परवाह नहीं यहां तक कि चीन के सम्राट् को भी बुरी तरह फटकार दिया ! अर्थात् पर कृपा की तो भी फटकार के साथ ही। नौ वर्ष तक चीन में रहे पर किसी ने उन्हें जाना नहीं। और अन्त में एक जूता हाथ में लेकर नंगे पैर चल दिये ! उस समय का सारा चीन उस योगी की तलाश में व्याकुल हो गया और सारे देश में एक लहर दौड़ गई कि वह क्या था और कहां गया ? किसी ने उन्हें जापान में एक आर्त भिखारी के रूप में देखा किसी ने कल्पना की कि वे लौटकर भारत आये। भारी रहस्यमय व्यक्तित्व ! विश्व के किसी भी रहस्यवादी का

क्या होगा ? चीन, जापान और कोरिया के विचारशील जगत् को हिला दिया और आज पश्चिम के और विश्व के तत्त्वचिंतकों को हिला रहा है बुद्ध का यह अट्ठाईसवां विस्मयकारी उत्तराधिकारी। बार-बार उसके बारे में चीन और जापान के साधक युग-युगों से सतत जिज्ञासा करते रहे हैं 'पश्चिम (भारत) से बोधिधर्म के [illegible] क्या था ?' बोधिधर्म [illegible] बौद्ध धर्म में पल्लवित,



[illegible] परा से होना चाहिये [illegible] लेते हुए जिसकी [illegible] है आश्चर्य भी नहीं। [illegible] ध्यान [illegible] जैसा भी [illegible] बुद्ध-शिष्य [illegible] —को हो [illegible] खोज रहे हों [illegible] आविर्भाव के [illegible] (कुण्डलों) को [illegible] के देह हमार [illegible] देखकर और [illegible] (१२७० [illegible]) के नाम [illegible] सम्प्रदाय को 'योग [illegible] आश्चर्य और सन्देह [illegible] परम्परा के आदि

[illegible] चमत्कारमय तो [illegible] समाज में एक महत्त्व [illegible] जोगी बोधिधर्म [illegible] ही है।

[illegible] जोगी के रूप में शिव का कुण्डल पहने जो प्राचीनतम मूर्ति [illegible] है भी आठवीं शताब्दी ईसवी की है जिससे बोधिधर्म दो शताब्दी पूर्व के हैं। बौद्ध सहजयानी सिद्ध कण्हपा

---

१ चीन की अपने तमी 'जोगी' को तरह कर रहती है— जोगी जिसका मीत। मुरा मरास रहे बासी सबनी सिपर चलती रीत।

और पासम्भपरा भी सम्भवतः कुण्डल पहनते थे, परन्तु इनसे भी बोधिधर्म तीन शताब्दी पूर्व के हैं। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने कुण्डलों का व्यापक रूप से प्रचार किया और इनसे तो बोधिधर्म कम से कम चार शताब्दी पूर्व के हैं ही। अतः बोधिधर्म के कुण्डल महत्त्वपूर्ण हैं और इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि नाथ-योगियों की कर्ण-मुद्रा के प्रेरक स्रोत सम्भवतः वहीं अटके या उसमें हुए हैं।

एक बात और। सन् १००४ ई० में चीनी भाषा में लिखित ध्यान-सम्प्रदाय का एक इतिहास-ग्रन्थ है, जिसका नाम है "धर्म-दीप-प्रेषण-अभिलेख"। इसमें बोधिधर्म की जीवनी भी दी गई है, जो प्रामाणिक मानी जाती है। इसमें एक बड़ी नई बात हमें मिलती है। इसमें लिखा हुआ है कि बोधिधर्म ने तरुणावस्था में ही 'गृहस्थ के श्वेत वस्त्रों' को छोड़ दिया और भिक्षुत्व के 'काले वस्त्र' को धारण किया।[1] अब बौद्ध धर्म की भिक्षु-परम्परा में काले वस्त्र पहनने की विधि कहां है? वस्तुतः बोधिधर्म का सम्बन्ध बौद्ध भिक्षुओं की प्रकृत परम्परा से न होकर एक ऐसी परम्परा से रहा होगा जिसमें काले वस्त्र विहित होंगे। बौद्ध धर्म के बाद के इतिहास में इस प्रकार के काले वस्त्र पहनने वाले भिक्षु हुए, इसकी सूचना हम पालि ग्रन्थ 'थेरगाथा'-टीका में पाते हैं। यहां कुस्स नामक भिक्षु ने आगे आने वाले भिक्षुओं के व्यवहार का वर्णन करते हुए कहा है कि उनमें से अनेक काषाय वस्त्रों को छोड़कर काले रंग के चीवर पहनेंगे। इससे यह विदित होता है कि जिस समय 'थेरगाथा' लिखी गई थी या संकलित की गई थी उस समय काले चीवर पहनने वाले भिक्षु थे और स्थविरवादी भिक्षु उन्हें ठीक नहीं समझते थे। यह बहुत सम्भव है कि ये काले वस्त्रधारी भिक्षु उसी परम्परा में रहे हों जिसमें आगे चलकर बोधिधर्म हुए और जिसका अनिवार्य प्रभाव बाद में नाथ-पन्थ जैसी योगचारी साधनाओं पर पड़ा। नील वस्त्र धारी भिक्षुओं को हम तान्त्रिक बौद्ध धर्म की परम्परा में भी देखते हैं। अतः इन काले-नीले वस्त्रधारी भिक्षुओं का तान्त्रिक बौद्ध धर्म के साथ-साथ नाथ-पन्थ से भी अवश्य आत्मिक सम्बन्ध होना चाहिये इसमें बिलकुल सन्देह दिखाई नहीं पड़ता।

'ध्यान' और धर्म सम्प्रदाय'

एक सुझाव और रखना चाहता हूं जो केवल एक सुझाव मात्र ही है। बौद्ध धर्म की गत शताब्दी में की गई खोजों से पता लगा है कि पश्चिमी बंगाल और

---

१ देखिये सुजुकी : एसेज इन ज़ेन बुद्धिज़्म फर्स्ट सीरीज़, पृष्ठ १७८।

योगी बोधिधर्म



कानों में कुण्डल (मुंदरा) धारण किये हुए

चित्रकार मु-चि (चीनी)

उड़ीसा के कुछ भागों में आज तक 'धर्म-सम्प्रदाय' नामक एक सम्प्रदाय जिस का नाम है जो 'धर्म' या 'निरंजन' की पूजा करता है और जिसे बौद्ध धर्म का भग्नावशेष माना जा सकता है। निरंजन की तो कोई बात नहीं परन्तु 'धर्म' के नाम से एक सम्प्रदाय की बात सुनकर और विशेषतः यह सुनकर कि उसके अनुयायी 'धर्म' की एक देवता के रूप में पूजा करते हैं कुछ चौकन्ना होना पड़ता है। यहां एक विचार मेरे मन में आता है। चीन और जापान में बोधिधर्म अपने संक्षिप्त नाम 'धर्म' से जाने जाते हैं, चीनी भाषा में 'तमो' और जापानी भाषा में 'दरुम'। ध्यान-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में तो उनको इस संक्षिप्त नाम 'धर्म' से पुकारना एक साधारण बात है। यह सार्थक भी हो सकता है क्योंकि वे धर्म से, सत्य से, शून्य से निरंजन से, एकाकार थे और उनके उपदेशों की मूल भावना भी यही है। अब किसी को पता नहीं कि चीन से बोधिधर्म कहां गये? कुछ का यह विश्वास है कि वे जापान गये और कुछ का यह कि वे लौटकर भारत आये। यदि यह ठीक हो कि वे भारत वापस आये तो वे आसाम की पहाड़ियों में होकर चीन से पूर्वी बिहार, बंगाल और उड़ीसा में आ सकते हैं या जापान से भी उनका यहां आना सम्भव है। बौद्ध धर्म, विशेषतः योगवादी बौद्ध धर्म इन प्रदेशों में आज तक पाया जाता है इससे इस सम्भावना को और भी बल मिलता है कि सम्भवतः बोधिधर्म भारत के इस भाग में छठी शताब्दी ईसवी में आये हों। और तब यह बहुत सम्भव है कि जिस 'धर्म' या 'धर्म-देवता' या 'धर्म-ठाकुर' या 'धर्मराज' को इन प्रदेशों के धर्म-मत के लोग पूजते हैं वह कहीं बोधिधर्म ही न हों जिनका ही प्रसिद्ध संक्षिप्त नाम 'धर्म' था और जिस तथ्य को वे लोग आज भूले हुए हैं। इस प्रकार की विस्मृति असम्भव नहीं है। इस प्रकार के उदाहरण हमें जावा, बाली, नेपाल और लद्दाख तक के बौद्धों में मिलते हैं जो अपनी धार्मिक क्रियाओं में अनेक बातों को आज तक भूले हुए रूप में करते हैं। पूर्वी भारत की अन्य जातियों के सम्बन्ध में जो धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, यह बात और अधिक सम्भव हो सकती है। अतः 'धर्म' की पूजा भूले [illegible] रूप में कहीं 'बोधिधर्म' की ही तो पूजा नहीं है इस बात की पूरी सम्भावना है। जहां तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है 'धर्म' की एकात्मता बोधिधर्म से और भी अधिक स्पष्ट दिखाई जा सकती है। धर्म से सत्य से शून्य से निरंजन से वे एकाकार थे, यह बात ध्यान-सम्प्रदाय के केन्द्रीय विचार के अनुसार कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि ध्यान-सम्प्रदाय के कई चीनी इतिहास-ग्रन्थों में बोधिधर्म को स्वयं 'परमार्थ' नाम से पुकारा

भी गया है। अतः धर्म-मत के आराध्य 'धम' कहाँ तक 'धर्म' या बोधिधर्म हैं इस बात की आगे खोज की बड़ी आवश्यकता है।

परन्तु यदि इस सम्भावना को हम कल्पना मात्र मान कर छोड़ भी दें तो एक बात और भी बड़ी आश्चर्यजनक हमारे सामने आती है। वह यह है कि स्वयं छठे धर्मनायक (हुइ-नेंग्—६३८-७१३ ई०) द्वारा भाषित 'सूत्र' में ध्यान सम्प्रदाय को 'धर्म-सम्प्रदाय' कहकर पुकारा गया है।[1] यह 'धर्म-सम्प्रदाय' तो बिलकुल वही नाम है जो हमारे बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित 'धर्म-सम्प्रदाय' का है। यह एक बड़ी भारी अद्भुत बात है और इस तथ्य के उद्घाटन से इस सम्भावना को बल मिलता है कि शायद इस भारतीय 'धम-सम्प्रदाय' का 'धर्म-सम्प्रदाय' के रूप में ध्यान-सम्प्रदाय के साथ कुछ न कुछ ऐतिहासिक सम्बन्ध हो और दोनों की उत्पत्ति में कुछ समान तत्त्व विद्यमान हों। यह बात यह लेखक पहली बार यहाँ प्रस्तुत कर रहा है और उसे आशा है कि इससे आध्यात्मिक इतिहास की एक आश्चर्यकारी घटना उद्घाटित होगी।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में श्री नगेन्द्रनाथ वसु महोदय ने मयूरभंज (उड़ीसा) प्रदेश के वनों जंगलों में भारतीय 'धर्म-सम्प्रदाय' की विद्यमानता का पता लगाया था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि मौडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स् फ़ोलोअर्स इन उड़ीसा' में उन्होंने इसका कुछ विवरण दिया है।[2] परन्तु उससे, जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हमारा पूरा समाधान नहीं होता। चूँकि यह एक गुप्त और मिश्रित सम्प्रदाय के रूप में ही विद्यमान है और पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त इसका अधिकांश साहित्य भी प्रायः लुप्त हो गया है अतः इस अस्पष्टता को दूर करने का वर्तमान परिस्थिति में कोई उपाय भी दिखाई नहीं पड़ता। बाद में डा० शशिभूषण दासगुप्त ने अपनी पुस्तक 'ओब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स्' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४६) में इस पर कुछ नया प्रकाश डाला है।[3] परन्तु उससे भी इस अस्पष्ट धर्म-साधना सम्बन्धी बहुत-सी बातें अनिश्चित ही रह जाती हैं और हमारा पूरा सन्तोष नहीं हो पाता। वसु महोदय ने हमें बताया है कि इस धर्म-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाले दो महत्त्वपूर्ण मध्ययुगीन ग्रन्थ हैं (१) दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बंगला कवि रामाई पण्डित कृत 'शून्य पुराण' और (२) उनके कुछ बाद के उड़िया कवि महादेवदास-कृत

१ दि सूत्र ऑफ़ [illegible]-नेंग् (हुइ-नेंग्) पृ० १६६।
२ पृष्ठ १० ११२ १४७-१४८ (कलकत्ता १९११)।
३ पृष्ठ २६७-३११।

'धर्म-गीता'। इन ग्रन्थों के आधार पर और स्वयं 'धर्म-सम्प्रदाय' के अनुयायियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क के आधार पर भी नगेन्द्र बाबू ने हमें बताया है कि इस 'धर्म-सम्प्रदाय' के अनुयायी 'शून्य ब्रह्म' के उपासक हैं और 'ओम् शून्य ब्रह्मणे नमः' इनका मन्त्र है।[1] धर्म को वे शून्य के रूप में देखते हैं और वह ब्रह्म का पर्यायवाची है। यही भावना उड़ीसा के प्रायः सभी मध्ययुगीन वैष्णव कवियों में मिलती है। बलरामदास, जगन्नाथदास, चैतन्यदास, अच्युतानन्द दास और महादेवदास, प्रायः सब शून्य, महाशून्य और ब्रह्म को समानार्थवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त करते हैं। हम जानते हैं कि कबीर ने भी ऐसा किया है और महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर महाराज ने भी। धर्म सम्प्रदाय के अनुयायियों का 'धर्म' एक आध्यात्मिक तत्त्व है। 'धर्म गीता' के अनुसार उनके सृष्टि-क्रम-विकास का यह रूप है: महाशून्य से पवन उत्पन्न हुआ, पवन का पुत्र धुम, धुम का पुत्र निरंजन, निरंजन का पुत्र निर्गुण, निर्गुण का पुत्र गुण, गुण का पुत्र स्थूल (कूर्म) और स्थूल का पुत्र धर्म जिसकी भौंहों के स्वेद से एक सुन्दर तरुणी उत्पन्न हुई और तदनन्तर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर (हर) उत्पन्न हुए और इस प्रकार यह संसार बना। रामाई पण्डित के 'शून्य-पुराण' में महाशून्य के शरीर को ही धर्म कहा गया है और उससे निरंजन की उत्पत्ति बताई गई है। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि शून्य के विचार का इस धर्म-साधना में प्राधान्य है। 'धर्म-गीता' में शून्य का कितना सुन्दर वर्णन है 'जहाँ सूर्य नहीं है, चन्द्रमा नहीं है, अष्ट दिग्पालों में से कोई नहीं है, जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है, गर्मी नहीं है, सर्दी नहीं है।'[2] एक ओर यह सम्प्रदाय बौद्ध शून्यवाद से (जो ध्यान-सम्प्रदाय का भी प्राण है) गहरे रूप से सम्बन्धित है और दूसरी ओर इसके 'निर्गुण' और 'निरंजन' निर्गुणपन्थी और नाथपन्थी साधना-धारा से भी अपना पूर्वकालीन सम्बन्ध और सामंजस्य दिखा रहे हैं। धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी 'धर्म' की पूजा पुरुष रूप में भी करते हैं और स्त्री रूप में भी। स्त्री रूप में 'धर्म' आदि धर्म, प्रज्ञा देवी, प्रज्ञा पारमिता, धर्म देवी, आदि-माता, बुद्ध-माता, आर्य तारा आदि का प्रतीक है। बोधिधर्म या 'ध्यान-सम्प्रदाय' का यहाँ बीज

---

१ वही, पृष्ठ ११२।

२ "शून्य स्तव प्रारम्भ"
नाहि सूर्य नाहि चन्द्र अष्ट दिक् पाल।
नाहि जन्म मृत्यु नाहि उष्ण शीतल॥ दि मॉडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फॉलोअर्स इन उड़ीसा पृ० १०१ में उद्धृत।

निर्देश या आभास भी ऊपर से इस सम्प्रदाय में नहीं पाता। और न वसु महो-दय या शशिभूषण दासगुप्त ने ही इस सम्प्रदाय के विवरण में ध्यान-सम्प्रदाय या बोधिधर्म का कहीं नाम भी लिया है। सम्भवतः इसकी ओर उनका बिलकुल ध्यान ही नहीं था। परन्तु ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि इस 'धर्म-सम्प्रदाय' का अपने ही नाम वाले 'धर्म-सम्प्रदाय' अर्थात् 'ध्यान-सम्प्रदाय' से कहीं न कहीं घनिष्ठ सम्बन्ध होना ही चाहिये। धर्म-देवता या धर्म-ठाकुर, या धर्मराज जिसे धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी पूजते हैं, अपने नाम और रूप में एक विचित्र देवता है, जिसके स्वरूप का पूरा निर्णय अभी नहीं हो पाया है। नगेन्द्रनाथ वसु इसे त्रिरत्न (बुद्ध धर्म संघ) के अन्तर्गत धर्म का प्रतीक मानते हैं और इस बात की गवेषणा करना चाहते हैं कि शेष दो रत्न—बुद्ध और संघ—की पूजा का विधान क्यों नहीं है ?[1] डा० शशिभूषण दासगुप्त ने धर्म सम्प्रदाय के साहित्य के आधार पर धर्म-ठाकुर (जिस नाम से धर्म-देवता की पूजा पश्चिमी बंगाल की कई छोटी मानी जाने वाली जातियाँ करती हैं) के स्वरूप की विस्तृत समीक्षा की है परन्तु सिवाय उसके मिश्रित रूप को प्रकट करने के कुछ स्पष्ट बात इस धर्म-ठाकुर के विषय में वे नहीं कह पाये हैं। उन्होंने कहा है कि धर्म-ठाकुर के वर्णन में शून्य या शून्यता का बहुलता से उल्लेख किया गया है।[2] साथ ही 'निरंजन' धर्म का एक विशेषण माना गया है।[3] धर्म-देवता विष्णु भी हैं[4] राम भी,[5] सूर्य भी,[6] शिव भी।[7] धर्म-सम्प्रदाय के साहित्य में इस बात का समर्थन है कि बुद्ध ही पुरी के जगन्नाथ के रूप में अवतरित हुए हैं और उन्हीं का दाव का रूप धर्म-देवता है।[8] धर्म-देवता धर्मराज यम भी हो सकते हैं, नेपाल के आदि-बुद्ध भी या स्वयम्भू-पुराण के स्वयम्भू भी।[9] इस प्रकार

---

१ दि माडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स इन उड़ीसा, पृष्ठ १००, १३४ ४२।

२ ओब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, पृष्ठ २९८-३११। डा० शशिभूषण दासगुप्त ने भी धर्म-रत्न के रूप में धर्म ठाकुर का विवेचन किया है। देखिये उनका 'ओब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स', पृष्ठ ११७-२७८, ३३० ।

३ वही, पृष्ठ ३१२-३१९ ।

४ वही, पृष्ठ ३१६-३२९ ।

५ वही पृष्ठ ३२१ ३२५ ।

६ वही पृष्ठ ३११ ३१६ ।

७. वही पृष्ठ ३०८ ३२१ ३२३ ।

८. वही, पृष्ठ ३२० ।

९. वही, पृष्ठ ३०८, ३१६-३२८ ।

औपनिषद ब्रह्म से लेकर सांख्य के पुरुष, शैवों के शिव, वैष्णवों के विष्णु, राम और कृष्ण, यम, स्वयम्भू और आदि-बुद्ध सबके कुछ-न-कुछ तत्त्व धर्म-ठाकुर या धर्म-देवता में बताये गये हैं और निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि शिव और बुद्ध के विचारों से मिलकर धर्म-ठाकुर या धर्म-देवता के स्वरूप का निर्माण किया है।[1] यहाँ इतने विकल्पों के लिए अवकाश है वहाँ जैसा हम ऊपर भी कह चुके हैं, हमारे लिए यह कहना भी कुछ अधिक नहीं है कि धर्म-देवता या धर्म-ठाकुर विस्मृत और अज्ञात रूप में 'धर्म' या 'बोधिधर्म' के प्रतीक हैं, जो उपर्युक्त सब देवताओं से अधिक सार्थक रूप में 'शून्य' हैं, परमार्थ-स्वरूप हैं। धर्म-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार धर्म-ठाकुर का वर्ण गौर है और उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु श्वेत रंग की है। डा० शशिभूषण दासगुप्त इसे शिव और सरस्वती से सम्बन्धित मानते हैं।[2] परन्तु यह सम्भव और सार्थक नहीं लगता। हम बौद्धों के प्रतिक्रमण सम्बन्धी चित्रों में देख चुके हैं कि श्वेत रंग का महत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय में क्या है और वह किसका प्रतीक है? यह व्याख्या मेरी समझ से धर्म-ठाकुर के स्वच्छ वर्ण और उनकी प्रत्येक वस्तु के स्वच्छ वर्ण के होने के साथ अधिक सुसंगत हो सकती है। धर्म-ठाकुर की मूर्तियाँ बंगाल में मिलती हैं जो प्रायः कच्छप के आकार की होती हैं। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उन्हें बौद्ध स्तूप की प्रतीक माना था, जो बहुत दूर की कल्पना मालूम पड़ती है। कच्छप अवतार की बात भी यहाँ जमती नहीं। एक अन्य विचार मेरे मन में आ रहा है। अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा में उल्लेख है कि अपने परिनिर्वाण के हेतु बुद्ध से विदाई लेने के लिए जब धर्म-सेनापति सारिपुत्र उनके पास गये तो उन्होंने शास्ता के 'सुवर्ण कच्छप सदृश चरणों' की वन्दना की। अतः मुझे यह लगता है कि भारतीय धर्म-सम्प्रदाय में पूजित कच्छपाकार धर्म-देवता जिनका स्वरूप अभी निश्चित नहीं हुआ है सम्भवतः कहीं बुद्ध-चरण ही तो नहीं हैं? यदि 'धर्मराज' को हम बुद्ध मानें (यम की बात कहना बेकार है) तो भी यह बात ध्यान-सम्प्रदाय के सर्वथा अनुकूल है। वैसे तो 'धर्मराज' महायान में बुद्ध के लिए प्रयुक्त एक प्रसिद्ध उपपद है ही परन्तु ध्यान-सम्प्रदाय में तो वह पूरी प्रतिष्ठा और आध्यात्मिक अर्थवत्ता के साथ विद्यमान है। 'छठे धर्मनायक द्वारा भाषित सूत्र' में कहा गया है, "कम ही लोग जानते हैं कि अपने [illegible] घर (पार्थिव सत्ता) के अन्दर ही धर्मराज को पाया जा सकता है।"[3] इस प्रकार भी

---

१ वही, पृष्ठ १७८।
२ वही, पृष्ठ १७८-१७९।
३ दि सूत्र वी लैंग (हुइ-नेंग), पृष्ठ ७२।

ये दोनों युद्ध साधनाएं (धर्म सम्प्रदाय और ध्यान-सम्प्रदाय) गहरे रूप में एक दूसरे से निबद्ध हो जाती हैं और अत्यन्त सार्थक रूप से, जैसा हम पहले लिख चुके हैं 'धर्म-सम्प्रदाय' का समास अभिप्राय धारण करती हैं। कुछ भी हो इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है कि धर्म देवता या धर्मराज मूलतः बुद्ध ही हैं। आचार्य विनेशचन्द्र सेन ने रामाई पण्डित (दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी) के 'शून्य पुराण' से दो महत्वपूर्ण उदाहरण दिये हैं जिनसे यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि धर्मराज की पूर्व कल्पना बुद्ध रूप में ही थी। उदाहरण हैं "धर्मराज यज्ञ निन्दा करे" तथा 'सिंहले सौ धर्मराज बहुत सम्मान।"[१] कहने की आवश्यकता नहीं की इस तथ्य से धर्मराज बुद्ध ही सिद्ध होते हैं। पालि और संस्कृत बौद्ध साहित्य में 'धर्मराज' (धम्मराज) शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए इतनी अधिक बार हुआ है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती।[२] एक बड़ी बात यह है कि धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायी वैशाखी पूर्णिमा (बुद्ध-पूर्णिमा) और आषाढ़ी पूर्णिमा (बुद्ध द्वारा धर्म चक्र प्रवर्तन का दिन) को त्योहारों के रूप में मनाते हैं और शून्य-पुराण के वर्णनानुसार श्रीलंका को धर्म-देवता का आदिम स्थान मानते हैं। अतः इनके मूल रूप से बौद्ध सम्प्रदाय होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इस शताब्दी के आदि में वसु महोदय को इस सम्प्रदाय सम्बन्धी पांडुलिपियां मयूरभंज प्रदेश में उन लोगों के यहां मिली थीं जो अपने को 'योगी' कहते हैं। वसु महोदय ने इस बात का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। हम देख चुके हैं कि ध्यान-सम्प्रदाय 'योगी-सम्प्रदाय' (चम् ची) ही है। अतः यह बिलकुल असम्भव नहीं है कि यह भारतीय धर्म-सम्प्रदाय में पूजे जाने वाले 'धर्म-देवता' या 'धर्म-ठाकुर' इसी (धर्म-सम्प्रदाय) नाम वाले ध्यान-सम्प्रदाय के संस्थापक योगी बोधिधर्म या 'धर्म' ही तो नहीं हैं या उनके द्वारा संस्थापित बुद्ध चरण ही जिनका आकार, जैसा हम पहले कह चुके हैं पालि ग्रन्थों के आधार पर, स्वर्ण कच्छप का ही है।

पीछे हमने गुरु गोरखनाथ के मत को ध्यानी सन्तों की चरागाह में चरते देखा है। अनेक प्रतीक, रूपक और कथन-प्रकार ऐसे मिलेंगे जो सिद्धों और नाथों की बानियों के साथ-साथ सन्त-साहित्य और ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य

१ देखिए दिनेशचन्द्र सेन हिस्ट्री ऑव बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ११ (कलकत्ता विश्वविद्यालय १९५४ द्वितीय संस्करण)

२ देखिए आगे 'सम्मान आसित' के विवेचन के प्रसंग में विशिष्ट-शब्दों से अनुगत भेरा ("धम्मराजस्स सासने")

में साथ-साथ पाये जाते हैं और उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म की सम्पत्ति हैं, या सामान्यतः सम्पूर्ण भारतीय धर्म-साधना की भी। तेल, बत्ती और दीपक की उपमा जीवन के उपादानों के लिए मूलतः बुद्ध ने प्रयुक्त की थी। बौद्ध साहित्य में यह सर्वत्र पाई जाती है। कबीर साहब जब यह कहते हैं "कबीर निरभै राम जपि जब लगि दीवै बाति। तेल घटया बाती बुझी सोवगा दिन-राति।" तो यह निश्चयतः एक बौद्ध प्रयोग ही है जो जीवन की लौ के रूप को प्रकट करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार भव-सागर और बेड़ा की उपमा भारतीय धर्म साधना का एक साधारण प्रयोग है जो अब रूढ़ हो गया है। उपनिषदों में भी यह प्रयुक्त हुआ है और बुद्ध ने भी इसे प्रयोग किया था। अतः मध्ययुगीन निर्गुण-साहित्य या ध्यान-साहित्य में इसका पाया जाना नितान्त साधारण बात है। तूँबी की उपमा ध्यान-साहित्य और सन्त-साहित्य दोनों में पाई जाती है, यद्यपि जिन वस्तुओं के लिए इसे प्रयुक्त किया गया है उनमें भिन्नता है। ध्यान सम्प्रदाय की भाषा में ध्यान-अनुभव पानी पर तैरती हुई तूँबी के समान है जो छूट जाने पर आनन्दपूर्वक नाचने लगती है। कबीर ने तूँबी का प्रयोग अनेक बातों के लिए किया है, परन्तु एक जगह उन्होंने उसकी उपमा 'सुरति' से दी है। 'सुर का नालि सुरति का तूँबा सतगुरु साज बनाया।" इसे ध्यान-सम्प्रदाय के विचार के समीप माना जा सकता है। दोनों में ध्यान के आनन्द की अभिव्यक्ति है। ध्यान-सम्प्रदाय में तूँबी को शून्यता का भी प्रतीक रूप दिया गया है। सन्त-साहित्य में भी इस प्रकार का विचार ढूँढ़ा जा सकता है। धोबी के वस्त्र धोने और रंगरेज के रंगने की उपमाएं साधारण भारतीय उपमाएं हैं। बुद्ध ने सम्भवतः इन्हें सर्वप्रथम प्रयुक्त किया था। सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य में ये पाई जाती हैं और ध्यान-साहित्य में भी। छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी में शेन्-सिउ ने मन को स्वच्छ दर्पण बताते हुए कहा था "हर क्षण हम इसे साफ करते हैं ताकि इस पर धूल न जम जाय।' योका डेशी (आठवीं शताब्दी) ने भी न केवल इस दर्पण का निर्देश किया है, बल्कि इसकी दार्शनिक व्याख्या भी की है। बोधि-गीत में वे कहते हैं "द्रष्टा और दृश्य का द्वैत ही दर्पण पर जमा हुआ मैल है।" इस मैल को धोने का वे सतत अनुरोध करते हैं, बिलकुल वैसे ही जैसे कई शताब्दियों बाद कबीर—"जो दरसन देखा चाहिये तो दरपन मांजत रहिये। जब दरपन लागै काई तब दरसन किया न जाई।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी दर्पण को हमारे सिद्धों ने हाथ में पकड़ा, नाथ-योगियों ने भी लिया और उन्हीं के प्रभाव से सूफी साधकों ने भी, जिन्होंने बार-बार उसकी काई को साफ करने का आदेश अपने कल्पित प्रेम-पंथियों को दिया है

और माना है कि वैसा करने पर विश्व का कण-कण योगी को विदित हो जाता है। हम पहले चतुर्थ परिच्छेद में देख चुके हैं कि हुइ-नेंग् (छठी-सातवीं शताब्दी) ने शरीर को नगर, पाँच इन्द्रियों को उसके पाँच बाहरी दरवाजे, विचार को अन्दर का दरवाजा, मन को राज्य प्रदेश और 'मन के सार' को राजा बताया है। स्वयं भगवान् बुद्ध का संयुत्त-निकाय में एक उपदेश भी है जिसमें शरीर को एक राजा का नगर बताया गया है जिसके छह इन्द्रिय-आयतन छह दरवाजों के समान हैं और राजा मन है। इस बात को ध्यान में रखकर जब हम सूफी कवियों के इस सम्बन्धी रूपकों को देखते हैं (' तन चितउर मन राजा", 'नउ दस बांक बैस तौर काया', आदि) तो यह प्रतिभासित होते देर नहीं लगती कि वे किसी न किसी प्रकार बौद्ध स्रोत से ही उनके पास आये हैं। और इस स्रोत की भी खोज मुश्किल नहीं है। ये विचार उन्हें मौखिक परम्परा के रूप में हिन्दू जनता के उस निम्न वर्ग से मिले जो बौद्ध धर्म का अवशिष्ट थी और जिसमें बौद्ध धर्म की अनेक मान्यताएं और वचन प्रयोग विस्मृत रूप में प्रचलित थे और जिनके साथ मुस्लिम सूफी साधकों का सम्पर्क भी नितान्त स्वाभाविक था। इसी प्रकार कई अन्य समान प्रयोग और रूपक भी ढूंढे जा सकते हैं। कबीर ने मधुर-भाव की मौज में आकर कहीं-कहीं विरहिणी और विवाह आदि के रूपक प्रस्तुत किये हैं। ये बातें ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में बिलकुल नहीं मिलेंगी। मिलन और विरह के बजाय वे सदा अद्वैत और द्वैत कहते हैं। इस प्रकार भावाभिव्यक्ति में कई समानताएं और कुछ असमानताएं भी 'ध्यान'-साहित्य और निर्गुण-साहित्य में पाई जाती हैं।

उलटबांसियों की परम्परा

सबसे बड़ी समानता जो इस सम्बन्ध में पाई जाती है, उलटी भाषा या ऊपर से विपरीत लगने वाले कथनों का प्रयोग है। कबीर की उलटबांसियां (या उलटबासियां) प्रसिद्ध हैं और पहेली जैसे कथन भी, जिनसे वे जन-साधारण को उद्बुद्ध और विस्मित किया करते थे। परन्तु 'उलटबांसी' या 'उलटबांसी' शब्द का क्या अर्थ है और इसकी व्युत्पत्ति के साथ वह किस प्रकार ठीक बैठता है यह एक समस्या है जिसे जहां तक मैं जानता हूं अब तक कोई विद्वान् स्पष्ट नहीं कर सका है। सन्त-साहित्य पर जितने ग्रन्थ निकले हैं उनमें से अधिकांश को देख लेने पर भी इस सम्बन्ध में मेरा समाधान नहीं हुआ है। यहां पर मैं एक विनम्र प्रस्ताव विद्वानों के समक्ष रखना चाहता हूं। 'उलटबांसी' में यह तो स्पष्ट ही है कि इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ 'बांस का उलटा कर देना' है।

अब इस 'बाँस के उलटे कर देने' में किस अर्थ की ओर संकेत है इसकी ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ। दीघ-निकाय के तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के चंकी-सुत्त में 'अन्धों के बाँस' ('अन्ध-वेणु') की उपमा है। एक बाँस को पकड़े अन्धों की पंक्ति चली जा रही है, "जैसे वाशिष्ठ ! अन्धों की कतार एक-दूसरे से जुड़ी हो, पहले वाला भी नहीं देखता बीच वाला भी नहीं देखता पीछे वाला भी नहीं देखता।" सब अन्धे एक बाँस को पकड़े, एक-दूसरे के पीछे चले जा रहे हैं। "अन्धाहि अन्धा ठेलिया।" ब्राह्मणों के धर्म को अन्धों के बाँस की इस पंक्ति से उपमा दी गई है। "एवमेव खो माणव ! अन्धवेणूपमं मञ्ञे ब्राह्मणानं भासितं" ("इस प्रकार हे माणवक ! ब्राह्मणों का कहना अन्धों के बाँस के समान है।") स्पष्ट है कि परम्परा के अन्धानुसरण से तात्पर्य ही है यहाँ 'अन्ध-वेणु' या 'अन्धों के बाँस' की उपमा का। अब इस लेखक को यही यह कहना है कि कबीर या अन्य सन्तों की जो उलटबाँसियाँ हैं वे इसी बाँस को उलटा करना है। अन्धे जो बाँस को पकड़े हुए एक-दूसरे के पीछे चुपचाप चले जा रहे हैं तो उनके बाँस को जरा उलट दो। क्या होगा ? अन्धे हक्के-बक्के रह जाएँगे। सोचने को मजबूर होंगे, उन्हें धक्का लगेगा, वे हड़बड़ायेंगे, मार्ग खोजने को विवश होंगे। कबीर की उलटबाँसियों का बिलकुल यही अर्थ है और बिलकुल यही स्वरूप है। जिस बाँस को पकड़े अन्धे पंक्ति-बद्ध होकर चले जा रहे हैं उसे उलट देना और उन्हें विचार के लिए प्रेरित करना। यह भी कितना समान और सार्थक है कि जिन अन्धानुगामी परम्परावादी ब्राह्मणों को लक्ष्य कर बुद्ध ने यह उपमा कही थी, उन्हीं को या उनके उत्तराधिकारियों को चौंकाने के लिए कबीर और अन्य सन्तों ने इसका प्रयोग किया है। वस्तुतः उलटबाँसी का उद्भव और विकास हुआ ही उस साधना-धारा में है जो क्रान्तिकारी है, जो परम्परावादी धारा को उल्टी बातें कह-कहकर चौंकाना चाहती है और उसे विचार के लिए धक्का देना चाहती है। 'उलटबाँसी' शब्द में निहित यह रहस्य मुझे ऐतिहासिक और भाषात्मक दोनों दृष्टियों से सम्भव और उचित जान पड़ता है।

'अन्ध-वेणु' की उपमा की जो बात मैंने ऊपर कही है और उसके आधार पर जो 'उलटबाँसी' का अर्थ किया है उसे स्वयं सन्त साहित्य से भी समर्थन प्राप्त है। "जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध। अन्धाहि अन्धा ठेलिया दून्यों कूप पड़न्त।" यहाँ इसी अन्ध-परम्परा की ओर संकेत है परन्तु बाँस का उल्लेख नहीं है। उसे पीपा जी की वाणी में देखिए। "अन्ध लकुटिया गहे जु अन्धे परत कूप कित खोवे।" यहाँ तो बिलकुल 'अन्ध-वेणु' के लिए 'अन्ध-लकुटिया' और पूरी उपमा ही रखी हुई है। बस, इस 'लकुटिया' को उलट दीजिए और

'उलटवांसी' का प्रकृत अर्थ आपको मिल जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है, जो मुझे भाया है विद्वानों को ग्राह्य होगा।

यद्यपि विद्वानों ने वैदिक साहित्य में भी उलटवांसियों या उलटे कथनों के उद्धरण ढूंढ निकाले हैं (जिनमें से अधिकांश को 'उलटवांसी' कहा भी नहीं जा सकता) परन्तु यह वैदिक साहित्य की अपनी विशेषता नहीं है यह बिलकुल स्पष्ट है। जो स्वयं एक परम्परा-प्राप्त धर्म है, बहु-संख्यक समाज का धर्म है और उसी की परम्परा के रूप में आगे चलना चाहता है वह उल्टी बातें क्यों कहेगा ? उल्टी बातें सदा क्रान्तिकारी कहता है वही कहके देता है। अतः भारत में उल्टी भाषा का प्रयोग श्रमण-परम्परा में ही हुआ, जो परम्परावाद की जगह प्रगति की समर्थक थी। बौद्ध धर्म इसी में हुआ, उसके सिद्धों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया और बाद में नाथ और निर्गुण साधनाएं इसी में हुईं। इसलिए अभिव्यक्ति की यह उल्टी प्रणाली इन सबमें पाई जाती है और समान स्रोत की द्योतक है। किस प्रकार कबीर आदि सन्तों की उलटवांसियों पर बौद्ध सिद्धों का प्रभाव है इसका संक्षिप्त निर्देश प्रस्तुत लेखक ने 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' के द्वितीय भाग में किया है और अन्य कई विद्वान् भी इसका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। अतः हम यहां ध्यान-सम्प्रदाय तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरोधी भाषा का प्रयोग उसकी उपदेश-परम्परा का एक प्रमुख अंग है। किस प्रकार प्रज्ञापार मिता-साहित्य और लंकावतार-सूत्र में यह पाया जाता है यह हम कुछ पहले (तृतीय परिच्छेद में) देख चुके हैं और कुछ अभी देखेंगे। अभी हम चीनी ध्यानी परम्परा का कुछ साक्ष्य इस सम्बन्ध में लें। छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) ने जो मध्यकालीन भारतीय सन्तों की परम्परा से करीब ६००-७०० वर्ष पूर्व हुए, अपने अन्त समय से कुछ पूर्व अपने सम्प्रदाय की परम्परागत उपदेश विधि को समझाते हुए अपने शिष्यों से कहा था, "जब कोई आदमी तुमसे प्रश्न पूछे तो उसे उल्टे शब्दों में उत्तर दो ताकि दो विरोधी बातों का एक जोड़ा बन जाय" "जब कभी तुम्हारे सामने कोई प्रश्न रक्खा जाय, तो यदि यह प्रश्न स्वीकारात्मक हो तो उसका उत्तर निषेधात्मक दो और यदि प्रश्न निषेधात्मक हो तो उत्तर स्वीकारात्मक दो। यदि तुमसे साधारण लौकिक जन के बारे में कुछ पूछा जाय तो पूछने वाले को सन्त पुरुष के बारे में कुछ बतलाओ और यदि सन्त पुरुष के बारे में तुमसे पूछा जाय तो दुनियावी आदमी के बारे में बताओ।" इसे उन्होंने 'अपने सम्प्रदाय की परम्परा' बताया। इसका उद्देश्य

भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया। वह यह है "दो विरोधी वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्योन्याश्रयता से मध्यम-मार्ग का सिद्धान्त समझा जा सकता है।" मध्यम-मार्ग की व्याख्या ध्यान-सम्प्रदाय में सत् और असत् के अद्वैत के रूप में की जाती है और उसी के लिए इस प्रकार विरोधी भाषा का प्रयोग किया जाता है। हुइ-नेंग् ने अपने उपर्युक्त प्रवचन में छत्तीस 'विरोधी जोड़ों' का उल्लेख किया है, जैसे स्वर्ग और पृथ्वी अस्तित्व और नास्तित्व, अच्छा और बुरा आदि। यह तथ्य कितना महत्त्वपूर्ण है कि इनमें से एक जोड़े स्वर्ग और पृथ्वी को कबीर ने भी लिया है और बिलकुल ध्यान-सम्प्रदाय के समान उद्देश्य की सिद्धि के लिए या स्पष्टतम शब्दों में मध्यम-मार्ग की सिद्धि के लिए ही अपनी साखियों के 'मधि को अंग' में प्रयुक्त किया है। कबीर साहब कहते हैं, 'धरती और आसमान दो तूंबड़ी हैं, जो बीच में बंधी नहीं हैं। (या धरती और आसमान के बीच में दो तूंबड़ी हैं जो बंधी नहीं हैं)। इस रहस्य को समझने में षड् दर्शन संशय में पड़े हुए हैं और चौरासी सिद्ध भी। "धरती अरु असमान बिचि दुइ तूंबड़ा अबध्य। षट दरसन संसै पड्या अरु चौरासी सिद्ध।" विरोधी के जोड़ों की बात के बारे में हम ऊपर ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार देख चुके हैं कि किस प्रकार लौकिक पुरुष के बारे में पूछे जाने पर ध्यान-योगी पूछने वाले को सन्त पुरुष के बारे में बताना चाहते हैं और इसी प्रकार उनकी अन्य विरोधी बातें भी। कबीर बिलकुल इसी प्रणाली का अनुसरण कर काबा को काशी बना देते हैं राम को रहीम और मोटे आटे को मैदा और फिर स्वभावतः अद्वैत के आनन्द में लीन हो जाते हैं। "काबा फिर कासी भया राम भया रहीम। मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम।" यह सार्थक है कि इन विरोधी जोड़ों का उपयोग कबीर ने 'मधि को अंग' में ही किया है मध्यम-मार्ग की स्थापना के लिए ही। बिलकुल समान उद्देश्य!

ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में जितनी उलटबाँसियाँ भरी पड़ी हैं, उनका दस हजारवाँ हिस्सा भी पूरे सन्त-साहित्य में नहीं मिलेगा। और कितनी तेजस्वी और प्रभावशाली हैं वे उलटबाँसियाँ! हम देख ही चुके हैं (पहले परिच्छेद में) कि कितनी उल्टी-उल्टी बातें करके बोधिधर्म ने चीनी सम्राट् को फटकार दिया और उल्टी बातें कर-कर के ही तत्कालीन चीन के विचारशील जगत् को हिला दिया, ताओवादियों और कन्फ्यूशसवादियों को भी, जिनका दार्शनिक धरातल स्वयं अति उच्च था। फिर सन्तों की उलटबाँसियों में विरोधी कथन ही प्राय: अधिक हैं इन्हीं के परे जाने के लिए भी वहाँ विरोधी भाषा का प्रयोग है, जो दोनों बातें जैसा हम देख चुके हैं ध्यान-साहित्य में भी भरपूर मिलती हैं।

परन्तु ध्यानी सन्तों की उलटवाँसियों का एक रूप यह भी है कि वे कहीं-कहीं प्रश्न की ही पुनरावृत्ति कर देते हैं, या कहीं-कहीं विस्मयसूचक सम्बोधनों का प्रयोग मात्र कर देते हैं। यही उनका उत्तर होता है। ये बातें सन्त-साहित्य में नहीं मिलतीं। उलटवाँसियों से भी जहाँ काम नहीं चलता दिखता वहाँ ध्यानी सन्त 'सीधी कार्यवाही' तक कर देते हैं, धक्का देते हैं, छड़ी से मारते हैं या गाली देते हैं। हमारे सन्तों के जीवन के अध्ययन से यह पता नहीं चलता कि वे किस मात्रा में इन बातों को करते थे और न इस प्रकार व्यवहार पाने वाले शिष्यों के कृतज्ञता के उद्गार ही उनके साहित्य में पाये जाते हैं। कुछ भी हो उलटवाँसियों की दोनों साहित्यों में हजारों तक पहुँचने वाली संख्या के होने के कारण दोनों का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है और यह केवल अभिव्यक्ति का ही प्रश्न नहीं है। इससे सम्पूर्ण पूर्वेशिया, जिसमें चीन जापान और कोरिया सम्मिलित हैं, और भारत के जो सोचने के ढंग हैं उनके जो विभिन्न मनोविज्ञान हैं उन पर भी प्रकाश पड़ता है। परन्तु यहाँ केवल बहुत संक्षिप्त संकेत ही इस विषय की ओर किया जा सकता है।

कबीर की "नैया बिच नदिया डूबी जाय" वाली उलटवाँसी प्रसिद्ध है। अब ध्यानी सन्त फु-ताइशी (४९७-५६९ ई०) की यह गाथा देखिये—

मैं खाली हाथ चला जा रहा हूँ, फिर भी
देखो मेरे हाथ में एक फावड़ा है।
मैं पैदल चल रहा हूँ, परन्तु
फिर भी एक बैल की पीठ पर मैं सवार हूँ।
जब मैं पुल से पार हो रहा हूँ
तो देखो पानी बहता नहीं
पर पुल बहा जा रहा है।

इस प्रकार की उलटवाँसियाँ चीन और जापान के ध्यान के साहित्य में भरी पड़ी हैं। 'धूल का बादल समुद्र से उठ रहा है' "जब दोनों हाथों से ताली बजाते हैं तो शब्द होता है, एक हाथ की ताली का शब्द सुनो" "यदि तुमने एक हाथ का शब्द सुना है, तो क्या उसे मुझे सुना सकते हो?" लगता है कि 'एक हाथ का शब्द' जिसे ध्यानी साधक सुनना चाहता है सम्भवतः वह एकान्त आत्म-चिन्तन का आनन्द ही है जिसके सम्बन्ध में कबीर कहते हैं 'जब अपनें आपु विचारै, तब कित्ता होइ आनन्द रे।' या उसे अद्वैत का प्रतीक

भी माना जा सकता है। इस प्रकार की उलटी भाषा केवल यह दिखाने के लिए प्रयुक्त की गई है कि साधारण मानवीय तर्क मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और उसके लिए विरोधात्मक भाषा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य को उसके पोषित मिथ्या विश्वासों से चौंकाने के लिए, विचार के लिए उसे असाधारण प्रेरणा देने के लिए, इस प्रकार के विरोधात्मक कथनों का प्रयोग ध्यानी सन्तों ने किया है। परम सत्य को वे अनिर्वचनीय मानते हैं। 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियों में उसे नहीं बांधा जा सकता। वह उनसे अतीत है। एक ध्यानी सन्त का कहना है "जब मैं कहता हूं 'यह नहीं है' तो इसका अर्थ निषेध करना नहीं है इसी प्रकार जब मैं कहता हूं कि यह है तो इसका अर्थ 'हां' कहना नहीं है। पूर्व की ओर मुड़ो और वहीं पश्चिम देश को देखो दक्षिण की ओर मुंह करो और वहीं तुम्हें उत्तरी ध्रुव दिखाया जा रहा है।" ध्यान-सम्प्रदाय के एक गुरु ने अपने दो शिष्यों को एक घड़ा दिखाकर कहा कि "इसे घड़ा कहकर मत पुकारो परन्तु मुझे बताओ कि यह क्या है?" एक शिष्य ने कहा "यह लकड़ी का टुकड़ा नहीं कहा जा सकता।" यह उत्तर गुरु को नहीं जंचा। दूसरे शिष्य ने हल्के से धक्का देकर घड़े को नीचे गिरा दिया और चुपचाप चल दिया। यही उत्तर ध्यान-सम्प्रदाय की भावना के अनुसार ठीक था। वस्तु की अनुभूति उसकी दार्शनिक व्याख्या से बड़ी वस्तु है यही तत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय मनुष्य को सिखाना चाहता है। एक अन्य गुरु ने अपने शिष्यों को एक लकड़ी दिखाई और कहा "यदि तुम इसे लकड़ी कहो तो तुम 'अस्ति' कहते हो यदि तुम इसे लकड़ी न कहो तो 'नास्ति' कहते हो। मत अस्ति कहो मत 'नास्ति' कहो। अब बताओ यह क्या है? बोलो! बोलो!" शिष्यों में निस्तब्धता थी। वस्तुएं निस्स्वभाव और अव्यपदेश्य हैं। बौद्धिक विश्लेषण पर जोर न देकर हमें अपरोक्षानुभूति प्राप्त करनी चाहिये। एक शिष्य (शिन् शिन् ८४५-९११ ई०) ने अपने गुरु (शुइ-बी) से पूछा,—"बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त क्या है?" गुरु ने कहा,—"ठहर, जब आसपास कोई नहीं होगा, तब मैं तुझे अकेले में बताऊंगा।" कुछ देर बाद शिष्य ने गुरु को फिर याद दिलाई "भन्ते! अब यहां कोई नहीं है। मुझे बताइये।" अपने आसन से उठकर गुरु शिष्य को बांसों के वन में ले गया और कुछ न बोला। जब शिष्य ने उत्तर के लिए आग्रह किया तो गुरु ने उसके कान में कहा "देख ये बांस कितने लम्बे हैं! और देख वहां वे कितने छोटे हैं!" इस प्रकार पहेलियों में उपदेश देने की ध्यान-सम्प्रदाय के गुरुओं की एक प्रथा-सी रही है। इसी विरोधात्मक शैली का एक और उदाहरण लीजिये।

एक शिष्य अपने गुरु से विदाई लेने गया। गुरु ने पूछा "कहाँ जाना चाहते हो?" शिष्य ने उत्तर दिया, "मैं बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आपके पास आकर भिक्षु बना हूँ परन्तु आपने मुझे कभी अपने उपदेश से लाभान्वित नहीं किया। अब मैं आपको छोड़कर कहीं और जगह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए जाना चाहता हूँ।" गुरु ने उत्तर दिया "यदि बौद्ध धर्म को सिखाने की बात है तो मैं कुछ अंश तुम्हें सिखा सकता हूँ।" जब शिष्य ने उसे बताने के लिए कहा तो गुरु ने अपने चोगे में से एक बाल निकाला और उसे फूंक मार कर उड़ा दिया। शिष्य को तत्काल अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई। एक जापानी धर्म-गुरु से जब उसके शिष्य ने पूछा कि 'गुरु क्या है?' तो इसका पहेली में उत्तर देते हुए गुरु ने कहा था "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकड़े हुए है।" तू और मैं दोनों अज्ञानी हैं यही समझाना गुरु को कहना था। चीनी सम्राट् वू ने ध्यान-सम्प्रदाय के गुरु फु-ता-शिह् (४९७-५६९) से किसी बौद्ध सूत्र पर प्रवचन करने की प्रार्थना की। गुरु महाराज गम्भीरतापूर्वक आसन पर विराजमान हो गये परन्तु एक शब्द भी उन्होंने उच्चारण नहीं किया। सम्राट ने कहा "भन्ते! मैंने आपसे प्रवचन करने की प्रार्थना की थी आप बोलना आरम्भ क्यों नहीं करते?" शिह् जो सम्राट का ही एक सेवक था और ध्यान बौद्ध धर्म को समझता था बोला "गुरु महाराज उपदेश समाप्त कर चुके हैं।" क्या प्रवचन था जो इस मौनी धर्म-गुरु ने दिया इसकी व्याख्या करते हुए ध्यान-सम्प्रदाय के एक दूसरे आचार्य ने कहा है, "कितना वक्तृतापूर्ण था यह प्रवचन!" गूँगे की बोली को गूँगा समझे या उसके घर वाले, यही यहाँ कहा जा सकता है। "जाग जाने जग ही की माया।" हाँ यदि हम चाहें तो इस प्रसंग को बाष्कलि और बाध्व के औपनिषद संवाद से मिला सकते हैं। बाध्व ने भी उपनिषद् का उपदेश अपने शिष्य बाष्कलि को मौन रहकर ही दिया था। कबीर भी जब परम सत्य को प्राप्त कर लेते हैं तो कहते हैं, 'अब किछु कहना नाहिं।'

संधा भाषा

ध्यान-सम्प्रदाय में कहा गया है कि सत्य प्राप्त गुरु का उपदेश शिष्य के लिए केवल 'चन्द्रमा की ओर अंगुली करने' जैसा हो सकता है। गुरु केवल इशारा भर कर सकता है, अपने अनुभव से उसे समझना शिष्य का काम है। गुरु गोरखनाथ ने कहा है, 'सिध संकेत भी गोरख कही।' बिलकुल यही बात निर्गुण-परम्परा में है। 'सैना-बैना' करके उसे निर्गुणिये गुरु समझाते हैं।

समझने का काम स्वयं साधक को किया है। कबीर साहब हमें बतलाते हैं कि किस प्रकार मूल (शब्द) का उपदेश गुरु ने उन्हें दिया जिसे बाद में उन्होंने अपने अनुभव से विस्तृत किया। "मूल गह्यो पाछे विस्तार।" ध्यान-सम्प्रदाय में सत्य के साक्षात्कार की बिलकुल यही प्रक्रिया है। उभय दोनों के कथन प्रकारों में अनेक प्रकार की समानताएं पाई जाती हैं जिनमें पहेलियों के रूप में अधूरे इशारे करने की प्रवृत्ति मुख्य है। बोधिधर्म ने स्वयं ऐसा इशारा चीनी साधकों के लिए किया था जिसका विकास उन्होंने बाद में अपने लिए किया। बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों में गूढ़ सत्य सम्बन्धी उपदेश के लिए 'सन्ध्या भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसे ठीक ही स्वर्गीय आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'सन्धा भाषा' के रूप में संशोधित किया, जिसका अर्थ है अभिसन्धि पर आश्रित वाणी अभिप्राय युक्त वाणी, किसी विशेष उद्देश्य से कही हुई वाणी। इस प्रकार की वाणी कोई छुटपुटे रूप में बौद्ध सिद्धों के साहित्य में ही नहीं मिलती बल्कि पूरे बौद्ध धर्म की परम्परा में काफी प्राचीन काल से उसकी एक अटूट परम्परा है। पालि तिपिटक में इस प्रकार के वाक्य हम अनेक बार पढ़ते हैं, "एवं सन्धाय वुत्तं" ('इसके सम्बन्ध में या इसको अभिप्राय कर कहा गया है')। मज्झिम निकाय के मागन्दिय-सुत्त में भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में एक लोक-प्रचलित बात कही गई है—"भगवान् बुद्ध भ्रूणहा (भूनहु) है।" बाद में इसे एक गूढ़ अर्थ देते हुए और उस अर्थ में इसे सन्धा बताते हुए कहा गया है 'एवं सन्धाय भासितं भोतो भूनहु समणो ति।' अर्थात् इसी प्रयोजन के लिए कहा गया है कि 'गौतम भ्रूणहा श्रमण है।' इसी प्रकार तथागत अ रसरूप अ-क्रियावादी या उच्छेदवादी हैं, इन आरोपों के सम्बन्ध में (सन्धाय) गूढ़ अभिप्राय युक्त उपदेश भगवान् ने विनय-पिटक (पाराजिक) में वेरंजा के निवासी एक ब्राह्मण को दिया था। वस्तुतः यही सन्ध्या भाषा या सन्धा-भाषा का मूल रूप है। प्रसिद्ध पालि ग्रन्थ 'मिलिन्दपञ्हो' के चतुर्थ परिच्छेद (मेण्डक-पञ्हो) में भी कहा गया है कि धर्मराज बुद्ध के शासन में कुछ बातें तो ऐसी हैं जो पर्याय रूप से कही गई हैं, कुछ एक विशेष प्रयोजन को सामने रखकर और कुछ केवल स्वभाव अथवा साधारण बातों को समझाने के लिए। "परियायभासितं अत्थि अत्थि सन्धाय भासितं। सभावभासितं अत्थि धम्मराजस्स सासने।" महायान में तो इस 'सन्धाय भासित' के प्रयोगों की एक पूरी परम्परा ही है। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' कम से कम तीसरी शताब्दी ईस्वी की रचना है। उसमें अनेक जगह बुद्ध के सन्धा भाषित का उल्लेख पाया है। 'दुर्विज्ञेयं शारद्वत तथागतानामर्हतां

सम्यकसम्बुद्धानां सन्ध्याभाषितमिति' १ ("हे काश्यप ! तथागत भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का सन्ध्याभाषित दुर्विज्ञेय है।) इसी प्रकार 'परमसन्ध्याभाषित-विसरणो ह्ययं धर्मपर्यायस्तथागतैरर्हद्भिः सम्यक्सम्बुद्धैर्धर्मनिर्मूरस्थान माख्यातम्।'२ ('परम सन्ध्या भाषित के रूप में विसृत यह धर्मोपदेश भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा धर्म का निगूढ़ स्थान कहा गया है)। हमने देखा है कि पांचवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व के रचित लंकावतार-सूत्र में, जो ध्यान-सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है विरोधात्मक कथन भरे पड़े हैं, जैसे "अवचनं बुद्ध-वचनमिति' ("अ-वचन है बुद्ध-वचन।") आदि। इस ग्रन्थ के तृतीय परिवर्त में ऐसे अनेक विरोधी वचन पाये जाते हैं। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र का अनुवाद चीनी भाषा में सन् ४०२-४१२ ई० में हुआ था और उसमें भी विरोधी भाषा है। प्रज्ञापारमिता प्रज्ञापारमिता नहीं है इसीलिये वह प्रज्ञा पारमिता कहलाती है। इस प्रकार के हजारों विरोधी कथन प्रज्ञापारमिता सूत्रों में मिलेंगे जिसके आकार के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है कि चीनी भाषा में वे ९०० जिल्दों में अनुवादित हैं। इस प्रकार विरोधी भाषा की एक पूरी परम्परा बौद्ध साहित्य में है जिसकी विरासत एक ओर ध्यान-योगियों को मिली है और दूसरी ओर सिद्धों की 'सन्ध्या' या ठीक कहें तो 'सन्धा' भाषा में होती हुई नाथ-योगियों के माध्यम से हमारे सन्तों को मिली है। अभिप्राय-युक्त विरोधी वाणियों की अटूट परम्परा को ही बौद्ध साहित्य में देखकर स्वर्गीय आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य को (जो पाठानुसन्धान के मर्मों के जानकार थे) यह साहस हुआ था कि सिद्धों की वाणियों में स्पष्टतः 'सन्ध्या' (न कि 'सन्धा') पाठ होने पर भी उन्होंने उसे पालि संस्कृत तिब्बती, बौद्ध धर्म की परम्परा के आधार पर ही 'सन्धा' के रूप में संशोधित कर दिया था। अतः इस प्रकार की परम्परा, जो नाथ-साहित्य और सन्त-साहित्य में है स्पष्टतः अपने स्रोतों के लिए बौद्ध साहित्य की ऋणी है और इस सम्बन्ध में ध्यान-साहित्य के साथ उसकी समानता इसी तथ्य का और साक्ष्य देती है।

हम पहले (तीसरे परिच्छेद में) ध्यानी सन्त चोशू (७७८-८९७ ई०) का उल्लेख कर चुके हैं जो आगन्तुकों से प्रायः कहा करता था, "इसे चाय दो।" यह एक 'को-आन्' है, तात्त्विक समस्या है। इसका हल सन्त-साहित्य में ढूंढ़ें-

१ पृष्ठ ४१ (डा० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित संस्करण, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता १९५३)

२ वही पृष्ठ १२४-१२५।

ढूंढ़ते मुझे अनायास कबीर का एक शब्द मिला जिसे उन्होंने (बोधि के करीब ६००-७०० वर्ष बाद) रैदास के लिए सम्बोधित किया है। मैं उसे ही ध्यानी सन्तों या विशेषतः बोधि के प्रति सम्बोधित मान कर इस प्रकार पढ़ता हूं। "करम ही डारि दे, करम ही डारि दे डारि दे बीज की दुबध्याई। आत्मराम करो विश्रामा, इम तुम दोन्यूं गुरभाई।" मैं समझता हूं 'इसे डाल दो' की ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार भी सर्वोत्तम व्याख्या नहीं हो सकती है। अब कर्मकाण्ड और 'बीज की दुबध्याई' को डाल देने पर और 'मन के द्वार' में विश्राम करने पर ध्यान सम्प्रदाय में कितना जोर है इसे यहां बताने की आवश्यकता नहीं। मेरा विश्वास है कि यदि किसी 'ध्यानी' सन्त का बोधि की उक्ति की याद दिलाते हुए यह कहा जाय कि 'करम ही डारि दे, करम ही डारि दे, डारि दे बीज की दुबध्याई' तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहेगा और तब उससे भारतीय सन्त-साधना के प्रतिनिधि बन कर कहा जा सकता है "इम तुम दोन्यूं गुरभाई!

दोनों साधनाओं में कुछ-एक सूक्ष्म भिन्नताएं भी द्रष्टव्य हैं। भारतीय मनीषा तात्त्विक उड़ानों में दिलचस्पी लेने वाली है, जबकि चीनी प्रतिभा व्यावहारिक अधिक है। उच्च तात्त्विक धरातल पर, जहां कल्पना से ही जाया जाय, भारतीय विचारक अनायास चले जाते हैं, परन्तु चीनी चिन्तक प्रायः उतनी दूर ही जाना पसन्द करते हैं जहां तक व्यावहारिकता उनका साथ न छोड़े। कबीर ने बड़ी तात्त्विक उड़ानें ली हैं पहेलियों जैसे विरोधी कथनों के द्वारा। "अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, तामैं भई पुरिष थैं नारी। ना हूं परनी ना हूं क्वारी, पूत जन्यूं ध्यौ हारी। पीहर जाऊं न रहूं सासुरै, पुरुषहि अंग न लाऊं।" "अवधू सो जोगी गुर मेरा जो यहु पद का करै निबेरा। तरवर एक पेड़ बिना ठाढ़ा बिन फूला फल लागा।" "बैल बियाहि गाइ भई बांझ।" "चींटी मजरिया मैन रचावी ठीपा ताल बजावै। पहरि चोलना गादह नाचै भैंसा निरति करावै।" ऐसी बातें आपको ध्यान-साहित्य में बिलकुल नहीं मिलेंगी। वहां अभ्यास और विचार पर जोर है और इनको साथ लेकर ही तात्त्विक चिन्तन है अधिक परिकल्पनाएं नहीं हैं। अतः आपको वहां 'द्वारहीन द्वार' मिलेगा "बिना द्वार का दरवाजा नहीं" मिलेगा, जिस सम्बन्धी बाधा को हम तृतीय परिच्छेद में उद्धृत कर चुके हैं। साधना की दृष्टि से ही ध्यानी सन्त यह कहते मिलेंगे कि "एक खिड़की में होकर गाय निकल जाती है। उसके सींग, सिर, चारों पैर आसानी से निकल जाते हैं, परन्तु केवल पूंछ ही बाहर नहीं निकल पाती क्यों?" या कि "तुम सिर्फ चीते की गर्दन को पकड़ सकते हो, परन्तु

समान हमें 'ध्यान' साहित्य में यह कथन मिलेगा कि "खरगोश और घोड़े के सींग हैं, गाय और भैंस के सींग नहीं हैं", या कि "बांझ एक हाथी के बच्चे को जन्म देती है" या कि कबीर के "उलटी गंग समुद्रहिं सोखै" और "बीज मध्य क्यों बिरछा बरसै" के समान ध्यानी सन्त रिंझाई की यह वाणी कि "एक बाल महासागर को निगल जाता है और पोस्त के एक बीज में सुमेरु पर्वत रक्खा हुआ है।" अब हम 'ध्यान' और निर्गुण-साधना के रहस्यवाद के कुछ तुलनात्मक विचार पर आते हैं।

रहस्यवाद

मूल बुद्ध-धर्म में हमें रहस्यवाद जैसी कोई चीज नहीं मिलती। रहस्य के लिए बुद्ध के उपदेशों में कोई स्थान नहीं है। प्राचीन काल में ऐसी परम्परा थी कि आचार्य लोग कुछ रहस्यात्मक ज्ञान अपने पास बचा लेते थे जिसे वे या तो किसी को देते ही नहीं थे या फिर देते भी थे तो अपने किसी अत्यन्त प्रिय शिष्य या अपने ज्येष्ठ पुत्र को। बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व अपने शिष्यों को बुलवाकर उनसे कह दिया था कि उनके पास 'आचार्य-मुष्टि' जैसी कोई चीज नहीं है और उन्होंने बिना बाहर (प्रकट) और भीतर (गुप्त) का भेद किये अपने धर्म का उपदेश दिया है। "देसितो, आनन्द मया धम्मो अनन्तरं अबाहिरं करित्वा। नत्थि आनन्द तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि।" छिपाने की भावना को बुद्ध मिथ्या सिद्धान्तों का पहला लक्षण मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र खुले चमकते हैं ढके हुए नहीं उसी प्रकार बुद्ध-शासन खुला चमकने वाला है छिपकर नहीं। रहस्यात्मकता का प्रवेश बुद्ध ने अपने उपदेशों में कभी नहीं होने दिया।

दुनिया के सभी रहस्यवादियों में एक ऐसी विशेषता एक विशेष प्रकार की स्वप्नशीलता पाई जाती है जिससे वे अन्य साधारण व्यक्तियों से भिन्न माने जाते हैं। 'गीता' में यह कहा गया है कि 'सब प्राणियों के लिए जो रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें प्राणी जागते हैं वह देखने वाले (तत्त्वज्ञानी) मुनि की रात है।' गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी का भावानुवाद-सा करते हुए कहा है 'मोह निशा सब सोवन हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा। एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।' इन वाणियों के मूल अर्थ परमार्थतः सत्य हैं इस प्रपंचमय व्यवहार में ज्ञानी निष्प्रपंच रहते हैं। परन्तु इनका दुरुपयोग समाज विशेषतः साधु-समाज में हुआ है। अपने को रहस्यवादी महात्मा दिखाने के लिए कुछ साधु या योगी ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि

मानो उन्हें ऐसा अनुभव प्राप्त हो जिससे वे रात होने पर भी उसे दिन अनुभव करते हैं। और दिन होने पर भी उसे रात अनुभव करते हैं। मध्ययुगीन भारत में ऐसे अनेक मूर्खों या उन्माद जैसी अवस्था में रहने वाले साधु थे और साधारण जनता उन्हें सिद्ध या रहस्यवादी योगी मानती थी। बुद्ध के काल में भी ऐसे श्रमण-ब्राह्मण थे जो ऐसे ही अनुभव का दावा करते थे। बुद्ध भगवान् ने इसे उन साधुओं का संमोह विहार ही कहा है और अपने सम्बन्ध में कहा है कि "मैं तो रात होने पर उसे रात ही अनुभव करता हूं, और दिन होने पर उसे दिन ही अनुभव करता हूं।"[1] यह मिथ्या रहस्यवाद पर एक तीव्र कुठाराघात है।

परन्तु बुद्ध के उपदेशों में भी कुछ बातें ऐसी थीं जिनसे रहस्यात्मक वृत्ति को उभार मिला। उन्होंने अपने द्वारा उपदिष्ट धर्म को 'अतर्कावचर अर्थात् 'तर्क से न प्राप्त करने योग्य' बतलाया। उन्होंने अपने आपको सम्यक् सम्बुद्ध कहा जीवन और जगत् के रहस्यों का ज्ञाता बतलाया परन्तु जब उनसे पूछा गया कि मरने के बाद जीव रहता है या नहीं यह लोक शान्त और अशाश्वत है या अनन्त और शाश्वत, जीव और शरीर एक ही हैं या भिन्न भिन्न, तो उन्होंने इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया। जब बहुत जोर दिया गया तो केवल इतना कहा कि "ये बातें तो तथागत के द्वारा बे-कही ही रहेंगी।" यदि अपने को अज्ञेयतावादी घोषित कर देते तो भी कुछ स्थिति सुलझ जाती परन्तु बुद्ध ने यह भी नहीं किया। एक बार वे एक बने शीशम के वन में शिष्यों के सहित विहार कर रहे थे। बुद्ध ने शीशम के पेड़ की कुछ पत्तियों को अपने हाथ में लेकर शिष्यों से पूछा "ये जो पत्तियां मेरे हाथ में देखते हो वे अधिक हैं या इस वन के सारे पेड़ों की पत्तियां।" शिष्यों ने जब यह उत्तर दिया कि उस वन की सारी पत्तियां ही अधिक हैं बुद्ध के हाथ में तो थोड़ी-सी पत्तियां ही हैं तो उन्होंने उनसे कहा कि इसी प्रकार तथागत जो जानते हैं वह इस वन की सारी पत्तियों के समान है और जितना उन्होंने प्रकट किया है बतलाया है, वह केवल हाथ में रखी पत्तियों के समान है। इससे अधिक रहस्य को प्रश्रय देने वाली और क्या बात होगी ?

मध्यम-मार्ग और चार आर्य-सत्यों के नैतिक मार्ग के उपदेश के अलावा बुद्ध ने गम्भीर तत्त्व सम्बन्धी उपदेश भी दिये। परमार्थ स्थिति की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में वे कहते हैं, "भिक्षुओ! ऐसा आयतन है जहां न पृथ्वी है न जल है, न अग्नि है, न वायु है न आकाश-आयतन है न यह लोक है न परलोक

---

[1] भयभेरव-सुत्त (मज्झिम १।१।४)

है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है। इसे न तो मैं आगति कहता हूं, न गति। न वहां ठहरना होता है, न च्युत होना होता है, न उत्पन्न होना होता है। यह आधार रहित है, प्रवर्तन-रहित है, आलम्बन रहित है।[1] कात्यायनगोत्र नामक अपने एक शिष्य को 'अस्ति' और 'नास्ति' से परे सत्य का उपदेश करते हुए भगवान् तथागत कहते हैं, "हे कात्यायन! यह संसार द्वैत पर आधारित है—'यह है' और 'यह नहीं है' के द्वैत पर। परन्तु कात्यायन! जो सम्यक् ज्ञानी इस संसार की उत्पत्ति का यथार्थतः देखता है, उसके लिए 'यह नहीं है' ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार कात्यायन! जो इस संसार की वस्तुओं के निरोध को सम्यक् प्रज्ञा से देखता है, उसके लिए 'यह है' ऐसा नहीं होता। कात्यायन! 'सब है' यह एक अति है। 'सब नहीं है' यह दूसरी अति है। कात्यायन! इन दोनों अतियों में न पड़कर तथागत मध्यम-मार्ग से धर्म का उपदेश करते हैं।[2]

एक अन्य उपदेश में भगवान् ने कहा, "भिक्षुओ! अ-जात है, अ-भूत है"। यदि भिक्षुओ! अ-जात अ-भूत न होता तो जात भूत से निःसरण नहीं हो सकता था। यह अ-जात अ-भूत ही तो सम्पूर्ण रहस्यवाद की जड़ है ऐसा कहा जा सकता है।

तथागत के उपर्युक्त प्रकार के मन्तव्यों को महायान ने पकड़ा और उन्हें विकसित किया। इसके लिए महायानिकों ने नये सूत्रों और शास्त्रों की उद्भावना की और उन्हें बुद्धोपदिष्ट बताया। उन्होंने माना कि बुद्ध के पास एक गुह्य उपदेश था जिसे उन्होंने अपने कुछ चुने हुए शिष्यों को ही दिया और महायान की परम्परा में वही गुह्य ज्ञान विद्यमान है। प्रज्ञापारमिता-साहित्य में बुद्धोपदिष्ट अद्वय तत्त्व और मायावाद के विस्तृत विवरण हैं। 'सर्वमिदमद्वयम्', 'नामरूपमेव माया मायैव नामरूपम्', 'मायामात्रं सर्वं न विद्यते', जैसे सिद्धान्तों की यहां सूक्ष्म और विस्तृत व्याख्या की गई है। एक प्रज्ञापारमिता-सूत्र का अनुवाद सन् १७९ ई० में चीनी भाषा में किया गया था। अतः प्रज्ञापारमिता-सूत्र कम से कम

---

[1] 'अत्थि भिक्खवे तदायतनं यत्थ नेव पथवी, न आपो न तेजो न वायो न आकासानञ्चायतनं ... नायं लोको न परो लोको न उभो चन्दिमसूरिया' 'तत्रापहं भिक्खवे नेव आगतिं वदामि न गतिं न ठितिं न चुतिं न उपपत्तिं, अप्पतिट्ठं अप्पवत्तं अनारम्मणमेवेतं।' (उदान)

[2] 'द्वयनिस्सितो खायं कच्चान लोको अत्थितं चेव नत्थितं च। लोकसमुदयं खो कच्चान यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके नत्थिता सा न होति। लोकनिरोधं खो कच्चान यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके अत्थिता सा न होति। सब्बमत्थीति खो कच्चान अयमेको अन्तो। सब्बं नत्थीति अयं दुतियो अन्तो। एते ते कच्चान उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।

१०० ७०० वर्ष शंकर से पूर्व के हैं। प्रज्ञापारमिताओं के दर्शन का ही बाद में विस्तृत विवेचन नागार्जुन (दूसरी शताब्दी ईसवी), आर्यदेव (तीसरी शताब्दी ईसवी), वसुबन्धु (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) और चन्द्रकीर्ति (छठी शताब्दी ईसवी) द्वारा किया गया, जो सब शंकर से २०० से लेकर १०० वर्ष तक पहले के हैं। गन्धर्व-नगर, मृगमरीचिका और स्वप्न आदि की सब उपमाएँ जो शंकर या अद्वैत वेदान्त की अपनी सम्पत्ति मानी जाती हैं नागार्जुन ने दूसरी शताब्दी ईसवी में दे दी थीं। "गन्धर्वनगराकारा मरीचि-स्वप्न-सम्भवा" (माध्यमिक कारिका १७।३३)। इसी प्रकार लंकावतार-सूत्र में, जिसका सन् ४४३ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद हो गया था मायावाद और सहज सत्य सम्बन्धी सूक्ष्म परिष्ट सिद्धान्तों का विवेचन है जिनके उद्धरण हम तृतीय परिच्छेद में दे चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि अमरसिंह ने 'अमरकोष' में बुद्ध को अद्वयवादी कहा है। "षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।" यह अद्वैतवाद आरम्भ काल से ही बुद्ध-धर्म की एक विशेषता रहा है ऐसा कहा जा सकता है।

कुछ भी हो महायान ने बौद्ध धर्म के उन तत्वों को प्रधानता दी जिनमें रहस्य के बीज विद्यमान थे। उसने बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक का निषेध कर दिया और उसे केवल बुद्ध का मायाकृत रूप बतलाया। अनेक रहस्यवादी सम्प्रदाय भी भारत और तिब्बत में महायान में प्रवर्तित हुए, जैसे सुखावती सम्प्रदाय मन्त्र-सम्प्रदाय आदि। इन सबका हिन्दी साहित्य में उद्भासित मध्ययुगीन निर्गुण साधना-धारा से कुछ न कुछ ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध अवश्य है। परन्तु इनका विवरण यहाँ न देकर हम केवल ध्यान-सम्प्रदाय तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

ध्यान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति जिस रहस्यात्मक ढंग से बुद्ध के द्वारा अपने गूढ़ अनुभव को महाकाश्यप को संप्रेषण के रूप में हुई, उसे हम देख चुके हैं। इसी प्रकार महाकाश्यप और उनके बाद अन्य ध्यान-पुरुषों द्वारा जिन अभिप्राययुक्त वाणियों के द्वारा अपने अनुभवों को दूसरों को प्रेषित किया गया, उन्हें भी हमने देखा है। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण रहस्यवादी सम्प्रदाय है। उसमें रहस्य या गूढ़ सत्य के विषय में जो कुछ कहा है उससे जब हम प्रभावित होने लगते हैं तो वह हमें सावधान करते हुए, हुइ-नेंग् (छठे धर्मनायक) के शब्दों में हमसे कहने लगता है "जो कुछ तुम्हें मैंने दिखाया है उसमें रहस्य कुछ भी नहीं है। यदि तुम अपने ही अन्दर विचार करो और अपने मूल चेहरे को पहचान सको जो तुम्हारे जन्म से पहले तुम्हारा था तो

बुद्धत्व तुम्हारे अन्दर ही है।' यह ध्यान-सम्प्रदाय के रहस्यवाद की कुंजी है और इसकी सिंहनाद-जैसी अनुभूति-वाणी ही बता रही है कि इसके पीछे ऐसा आत्म-गोचर ज्ञान छिपा है जो किसी भी प्रकार अभिव्यक्ति नहीं पा रहा और उपदेष्टा साधक से शिष्य के प्रति कहलवा रहा है "यदि तू अपने अन्दर विचार करे तो बुद्धत्व तेरे अन्दर ही है। विश्व में अनेक रहस्यवादी सन्त और महात्मा हुए हैं और उन सबको हमारे प्रणाम अर्पित हैं। परन्तु इस उपसंहार तक इस अन्तिम वाणी तक कोई गया हो ऐसा हमें नहीं लगता। "जो मैं तुम्हें बता सकता हूँ वह बुद्ध नहीं है। बुद्धवाद यहाँ स्वयं अपना निराकरण कर विसर्जित हो गया है। यह उसका चरम अवसान है। वस्तुतः धर्मनायक ने यहाँ हमें एक झटका दिया है। एक ऐसा झटका जो सम्पूर्ण बाहर से जिसमें स्वयं रहस्य-वाणियाँ भी सम्मिलित हैं जिनमें अभिनिवेश अन्तिम समय तक साधक का बना रहता है हमारा चित्त हटा कर, एकदम हमें स्वयं अपने अन्दर विद्यमान रहस्य 'रहस्यों के रहस्य' को देखने की प्रेरणा देता है। यही सच्चा रहस्यवाद है जो हमारे किसी काम आ सकता है, हमारी साधना का प्रस्थान बिन्दु बनता है और इसी की अभिव्यक्ति ध्यान-सम्प्रदाय में हुई है। कवियों के रहस्यवाद इसकी सोलहवीं कला या महिमा को भी प्राप्त नहीं कर सकते।

वज्रयानी बौद्ध सिद्धों के रहस्यवाद में कुछ ऐसी विकृतियाँ हैं और तांत्रिक अभिव्यक्तियाँ हैं कि उनकी तुलना पूरी तरह ध्यानाचार्यों के विमल अनुभवों से नहीं की जा सकती यद्यपि दोनों बौद्ध सम्प्रदाय हैं। भारतीय धर्म-साधना में ध्यान-सम्प्रदाय के रहस्यवादी अभिप्रायों से यदि किसी साधक के अनुभवों की तुलना की जा सकती है, तो वह सर्वप्रथम कबीर साहब हैं और उनके बाद गुरु गोरखनाथ। काल-क्रम की दृष्टि से गोरखनाथ कबीर से पहले आते हैं, इसका ध्यान रखते हुए हम यहाँ तात्त्विक दृष्टि से ही कुछ कहेंगे।

गूढ़ सत्ता के सम्बन्ध में गुरु गोरखनाथ और कबीर को जो अनुभव प्राप्त हुए, उनके निष्कर्ष प्रायः ध्यान-सम्प्रदाय के समान ही हैं और उन्हें प्रायः समान ही एक शब्द में व्यक्त किया जा सकता है—शून्य, सुन्न या सुन्नि। नाथ-पन्थ और कबीर-पन्थ दोनों की साधनाएँ अन्त में शून्य की ओर जाने वाली हैं। कबीर ने एक प्रसंग में कहा है 'सहज सुन्नि एक बिरवा उपजा।" अर्थात् 'सहज शून्य में एक पौधा उपजा है। पूरी सन्त-साधना के सम्बन्ध में ही हम कह सकते हैं कि वह 'सहज शून्य की भूमि पर उपजा एक पौधा है। साधना मार्गों में अन्तर है परन्तु लक्ष्य है एक ही—निर्वाण-पद की प्राप्ति। कबीर के पैर वैष्णव-मार्ग में चल रहे हैं, राम नाम की निरन्तर रट लग रही है परन्तु

पाते हैं सभी है बौद्ध निर्वाण की ओर। इस प्रकार साधक वैष्णव और साध्य बौद्ध ऐसी इस विलक्षण साधक की स्थिति है और इसीलिए भक्ति-भावना के साथ-साथ प्रबुद्ध विचार की शक्ति उसकी वाणियों में प्रकट हुई है। और यह शक्ति भी भूमिका से तुरन्त ज्ञान की स्थिति पर आने में समर्थ है। गुरु गोरख में भक्ति भावना नहीं है और उनका हठमार्ग भी ध्यान-सम्प्रदाय के समान नहीं है, परन्तु लक्ष्य उनका भी शून्य है, निर्वाण है। इस प्रकार की विचित्र स्थिति इन साधकों की है। शून्य का जो रूप ध्यान-सम्प्रदाय में गृहीत हुआ है वह विचार की पूरी गरिमा लिए हुए है परन्तु सब कुछ होने पर भी एक बात अन्त में कही जाती है कि वह एक दार्शनिक सिद्धान्त मात्र है तात्त्विक क्षेत्र का विचार मात्र है बौद्धिक समाधान का एक अन्तिम साधन है परन्तु उसके अन्दर ऐसा कुछ नहीं जिससे मनुष्य के हृदय का संयोग हो सके उसे ठहराने के लिए निश्चित जगह मिल सके। यह काम गुरु गोरखनाथ ने पहले कुछ क्षीण रूप में किया बाद में वैष्णव साधक कबीर ने उसे पूर्णता दी। वैष्णव साधना ही इस काम को कर सकती थी और उसके प्रतिनिधि बनकर कबीर ने यह काम किया है।

हमारा अभिप्राय यह है कि गुरु गोरखनाथ और कबीर ने 'शून्य' को एक व्यक्तित्व प्रदान किया एक साकार रूप दिया और इस प्रकार भक्ति के आलम्बन के साथ उसे मिला दिया। इसे ज्ञानवादी ध्यान सम्प्रदाय नहीं कर सकता था और न बौद्ध धर्म का कोई अन्य सम्प्रदाय ही। विशेषतः कबीर ने यह काम पूर्णता के साथ किया, जिसे ध्यान-सम्प्रदाय और अन्य बौद्ध धर्म-सम्प्रदायों के 'शून्य' के ऊपर एक विकास माना जा सकता है। कबीर बौद्धों में वैष्णव हैं और वैष्णवों में बौद्ध। शून्य को राम के साथ मिलाकर एक ओर उसे आलम्बनत्व या व्यक्तित्व देने का उन्होंने प्रयत्न किया और दूसरी ओर राम को शून्य की ओर बढ़ाकर उन्होंने उसे अधिक सच्चा और विचारशील साधकों के लिए अधिक ग्रहण करने योग्य बना दिया।

शून्य और ब्रह्म

वस्तुतः शून्यवाद और ब्रह्मवाद इतने गहन दार्शनिक सिद्धान्त हैं कि इनको लेकर सिर्फ इनकी और बौद्ध साधनाओं के सम्बन्ध में यहाँ बहुत अल्प ही कहा जा सकता है। समस्त भारतीय दर्शन का चरम निष्कर्ष है जिसकी अभिव्यक्ति बौद्ध साधना में शून्याद्वैत के रूप में और वेदान्त में ब्रह्माद्वैत के रूप में हुई है। शंकर ने बौद्धों के शून्य को अभाव रूप समझ कर दो-तीन पंक्तियों में ही उसका

निराकरण 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में कर दिया था और उसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' बताकर उसके विस्तृत विवेचन के प्रति भी आदर उन्होंने नहीं दिखाया था। यदि कबीर की 'शून्य' के सम्बन्ध में वही धारणा होती जो शंकर की थी तो उनकी वाणियों में शून्य का इतने आदर के साथ विस्तृत उल्लेख नहीं हो सकता था और न वे शून्य में स्नान कर तपन मिटाने की बात ही कह सकते थे। बौद्धों के शून्य को कबीर ने अधिक सहानुभूति के साथ समझा है। समझा ही नहीं, उन्होंने उसे आध्यात्मिक अनुभव की उच्चतम स्थिति के रूप में भी रखा है। कबीर मूलतः वैष्णव भक्त थे यह हम अच्छी तरह जानते हैं परन्तु उनकी वाणियों को उनके उच्चतम अनुभव की खोज की दृष्टि से हम पढ़ें तो यह पता लगे बिना नहीं रहता कि कबीर साधना की दृष्टि से ही वैष्णव भक्त हैं और इसी रूप में अन्य भावनाएं भी सूफी मत के प्रेमवाद आदि उन्हें स्वीकृत हैं परन्तु सत्य के सम्बन्ध में तो उनकी दृष्टि निर्वाण पद की ओर ही लगी हुई है। "यह पद तो निरबाना है" ऐसा कहकर अनेक बार उन्होंने इसकी ओर इंगित किया है। 'सुन्न में धुआ ठहराई" से स्पष्ट है कि उनके उपदेश की ध्वजा शून्यवाद में ठहरी हुई है। 'अवधू गगन मण्डल घर कीजै" से भी स्पष्ट है कि वे योगी के लिए शून्य को ही सर्वोच्च निवास मानते हैं। अपनी भी 'बैठक' वहीं बनाने की बात भी कबीर कहते हैं। कबीर की साधना का उच्चतम बिन्दु वही है जहाँ कबीर अपने मन को शून्य में विलीन कर देते हैं। 'सुंनि समान मन। यदि कबीर पूरे अर्थों में वैष्णव भक्त हैं तो 'तद्विष्णोः परमं पदम्' की प्राप्ति-कामना उनके पदों में क्यों नहीं मिलती? क्यों उनका मन 'गगन-मण्डल' की ओर बार-बार दौड़ता है? क्यों वे लोक और वेद से बाहर होकर शून्य में समा जाने की ही बात कहते हैं? "ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुंनिहि मांहि समांहिंगे।" क्यों वे स्वयं उस स्थिति पर पहुंचने का दावा करते हैं जहां राम और अल्लाह तक की गम नहीं है "अलह राम की गम नहीं तह घर किया कबीर।" यदि जगत् के 'कर्ता' के सुमिरन में ही वे जीवन की अन्तिम सफलता देखते हैं, तो वे उसे एक ही फूंक में उड़ाकर क्यों इस भूमिका पर आ जाते हैं कि "किवस मुख सुख कारने कहिये सिरजनहार। सिरजनहार' को ही इस प्रकार मला कबीर क्यों विसर्जित कर डालते हैं? यदि निर्गुण रूप को ही कबीर मानने वाले हैं, तो वे अपने राम को "वह तो इन दोउन तें न्यारा जाने जानन हारा" क्यों कहते हैं? निर्गुन निरंकार के पार' उसे क्यों बताते हैं? सगुण और निर्गुण से परे कोई न्यारा रूप वैदिक परम्परा में कहां है? वास्तव में बात कुछ दूसरी ही है। बौद्धों का शून्य निरालम्ब और अप्रतिष्ठ है। वहां न जाने का मार्ग है

और न माने का। न वह यति है, न अमति है। कबीर का राम इतना अगम क्यों है कि वह न सगुण की परिधि में आता है और न निर्गुण की? इसका कारण यही है कि उसे उन्होंने गगन मण्डल के, शून्य शिखर के एक कोने में बैठा दिया है। उसे 'अलख' और 'निरंजन' का पर्याय बना दिया है। 'अलख निरंजन राम।' और 'सबद निरंजन राम नाम सांचा।' इसीलिए कबीर का राम इतना सच्चा और बुद्धिवादी साधकों के लिए इतना ग्राह्य और आकर्षक भी बन गया है। कबीर से पहले यह काम गोरखनाथ ने अधूरे रूप से किया था। शून्यवादी आचार्य नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' की एक पंक्ति ('न सत् नासत् न सद्-सत् न चाप्यनुभयात्मकम्') के भाव को हूबहू रखते हुए पहले तो वे कहते हैं 'बसती न शून्यं शून्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा' और फिर इस 'अगम अगोचर' में स्वयं ही एक बालक को बैठाकर दूसरों से पूछते हैं 'गगन सिखर मंह बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा?" नाम उसका कौन रख सकता था सिवा उस जुलाहे के जिसने बहुत सोच-समझकर और भारतीय साधना के सम्पूर्ण तत्व को निचोड़कर शून्य-शिखर में बोलते हुए गोरखनाथ के इस बालक का नाम 'राम' रख ही तो दिया! कबीर का यह राम ब्रह्म-लोक या विष्णु-लोक का वासी नहीं वह शून्य-मण्डल का निवासी है जिसमें ही उसकी लौ लग रही है। "सुनि मण्डल में पुरिस एक ताहि रहौ ल्यौ लाइ।" शून्य मण्डल में बैठा हुआ है इसीलिए यह 'एक पुरुष' निर्गुण निराकार से भी परे है और उसी का नाम उन्होंने 'राम' रखा है। "निर्गुण निरंकार के पार परब्रह्म है तासु कोई नाम रकार जानी।" इस प्रकार कबीर ने वह काम किया है जिसे न शंकर कर सके और न अन्य कोई विचारक या साधक इतने प्रभावशाली रूप से कर सका है। शून्य में राम की स्थापना कर उन्होंने राम को तो सच्चा बना ही दिया साथ ही राम भक्तों के लिए बौद्ध साधना के चरम निष्पत्ति स्वरूप शून्यानुभूति के मार्ग को भी समानान्तर रूप से खोल दिया। निश्चयतः ध्यान-सम्प्रदाय की साधना के ऊपर यह एक विकास है जिसे कबीर जैसा वैष्णव साधक ही कर सकता था। शून्यता को बुद्धता के साथ मिलाने के प्रयत्न ध्यान-सम्प्रदाय में भी हुए, बुद्ध शून्यरूप हुए परन्तु कबीर के आराध्य की-सी शक्ति उनमें नहीं आ सकी यह असन्दिग्ध है। शून्य या 'अभेद' या निरंजन का कितना ही स्वरूप-विवेचन नागार्जुन, हुइ-नेंग या अन्य बौद्ध-आचार्यों ने किया हो उसे 'दोस्त' बनाने की बात किसी ने नहीं कही है। उसे कबीर—केवल कबीर—कह सके हैं। 'सो दोसत किया अलेख।' हमें यहां यह अवश्य कह देना चाहिए कि कबीर से पूर्व गुरु गोरखनाथ ने निरंजन-निराकार को पिता कह दिया था ('पिता बोलिये

निरंजन निराकार') और शून्य को भी उन्होंने माई-बाप कहा था ('सुंनि च माई सुंनि च बाप'), परन्तु उसके साथ ही वे एक निर्मम योगी थे और उस भावुकता के दर्शन उनमें नहीं होते जो परम सत्य को तादात्म्य भगवान् के रूप में प्रतिष्ठित कर उसमें मनुष्य के नाना सम्बन्धों की अनुभूति कराती है जैसे दास्य, वात्सल्य, सख्य आदि। शून्य को मनुष्य की भावात्मक सत्ता के साथ पूर्णतः मिलाने का यह काम वैष्णव साधना में ही सम्भव था और उसके प्रतिनिधि बनकर कबीर ने ही यह काम किया है।

कबीर का मार्ग वैष्णव लक्ष्य बौद्ध

इस प्रकार कबीर का मार्ग वैष्णव परन्तु लक्ष्य बौद्ध है। बुद्ध भगवान् ने निर्वाण को परम शान्ति स्वरूप बतलाया था। जितने भी उनके शिष्य शिष्याओं के उद्गार हैं उनमें निर्वाण के 'शीतलता' स्वरूप पर बार-बार जोर दिया गया है।[1] यह भव आदीप्त है, जल रहा है और निर्वाण इस जलन का शान्त हो जाना है। कबीर की साधना का लक्ष्य यह निर्वाण ही था और इसके 'शीतलता' स्वरूप पर उन्होंने समान रूप से ही जोर दिया है। 'यह सीतल वह तपति है।' 'यह (निर्वाण) शीतल है वह (संसार) तप्त है।" इसी प्रकार "तपनि गई सीतल भया जब किया सुंनि असनान।" "ज्वाला में फिरि जल भया बुझी बलंती लाइ।" ब्रह्म ज्ञान में भी वे इस शीतलता को ही प्राप्त करते हैं। 'कबीर सीतलता भई पाया ब्रह्म गियान।" इस प्रकार अ-बौद्ध बोलों में भी कबीर अज्ञात रूप से बौद्ध तथ्यों को बोलते-से जान पड़ते हैं।

विस्मयकारी साधक हैं कबीर! उनके ही द्वारा गाते हुए बौद्ध भावों को पकड़कर जब हम उनकी ओर बढ़ते हैं तो हम उन्हें वैष्णव बैठक में बैठे देखते हैं और जब उनके वैष्णव ताने-बाने को लेकर हम आगे बढ़ते हैं तो उन्हें शून्य में बैठक लगाये देखते हैं। बहुत मुश्किल है। "एक जुलाहे सों मैं हारा" जायसी भी कह गये हैं। तब फिर अन्य की बात ही क्या है! शून्य की चरम स्थिति पर पहुंचने वाले कबीर हद को छोड़कर बेहद में जाने वाले और शून्य में स्नान करने वाले सिद्ध कबीर, साधना में नये प्राणी के लिए एकदम शून्य की ओर आकर्षण हितकारी नहीं मानते। राम भी साथ चलें तो शून्य का स्नेह ठीक है, अन्यथा साधक अपने मानसिक सन्तुलन को खो सकता है अपने आपको ही खो

---

१ देखिए विशेषतः 'थेरी-गाथा' में अनेक भिक्षुणियों के 'सीतिभूतम्हि निब्बुता' (निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गई हूँ") जैसे उद्गार।

बैठ सकता है। "सुन्न सनेहू राम बिनु चले अपनपौ खोय।" इसलिए दार्शनिक दृष्टि से शून्य को चरम स्थिति मानते हुए भी कबीर साधना-पक्ष में राम भक्ति के साथ ही साथ उसे चलाने के पक्षपाती जान पड़ते हैं राम को छोड़ने में उन्हें खतरा दिखाई पड़ता है इसलिए अनुभव ज्ञानी होने के नाते हम सावधान कर देते हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण है। केवल शून्य में ठहराव नहीं है। खालीपन-सा यह प्रारम्भिक साधक को लगता है या लग सकता है। वह बिना बुनियाद का देवालय है। "नींव बिहूणा देहुरा।" ध्यान-सम्प्रदाय के गुरुओं को भी इसकी अनुभूति रही है और इससे उन्होंने अपने शिष्यों को आगाह भी किया है यह हम पहले देख चुके हैं। हुइ-नेंग् तो इस विषय में बहुत ही सतर्क थे। परन्तु कबीर का आगाह करना अधिक महत्वशाली है क्योंकि शून्य के पर्याय 'राम' को वे साधक के बचाव के लिए दे देते हैं और फिर कोई भय नहीं देखते। इसलिए साधन की दृष्टि से यह कहना बिलकुल ठीक है कि कबीर नाम-जप को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और इस साधना में कोई भय नहीं देखते। शून्य का साधक अजपा का जपी अनहद नाद को सुनने वाला योगी ये सब मर सकते हैं परन्तु नाम-सनेही नहीं मरता, ऐसा कबीर का विश्वास है। "सुन्न मरै अजपा मरै अनहद हू मरि जाय। नाम-सनेही ना मरै कह कबीर समुझाय।" शून्य-साधना में सबसे बड़ा भय यही है कि उसमें बुद्धि कहीं ठहरती नहीं, सम्पूर्ण नाम-रूप जगत् विशीर्ण होता चला जाता है साधक की कहीं निष्ठा नहीं हो पाती मन खालीपन में चला जाता है उसे अपने आपका ही पता नहीं रहता। यह स्थिति बड़ी भयावह है। कबीर साहब इसीलिए भक्ति की साधना को श्रेष्ठता देते हैं क्योंकि वहाँ मति ठहर जाती है। उनका विश्वास है कि संसार में और चाहे जो कुछ विनष्ट हो जाय परन्तु ऐसा भक्त नष्ट नहीं होता जिसकी मति अपने मार्ग में नाम-साधन में, ठहर गई है

चन्दा झ जै है सूरज झ जैहै जैहै पवनो पानी।
कह कबीर हम भक्त न जैहैं जिनकी मति ठहरानी।।

परन्तु राम या कृष्ण को (आदिकालीन बौद्ध-वैष्णव सहजिया और बंगला कवियों ने कृष्ण को भी शून्य रूप माना है) अन्ततः शून्यरूप मानने वाला भक्त इस बात में स्पष्टतर होता है कि वह आसानी से ज्ञान-मार्ग में प्रविष्ट हो जाता है उसकी प्रार्थना आसानी से समाधि या ध्यान बन जाती है या उसकी भूमिका में चली जाती है। इसके साथ ही एक बड़ी बात यह होती है कि भक्ति

के साथ अनिवार्य रूप से जो राग-रूप आसक्ति लगी हुई है (भक्ति तत्वतः रागात्मक साधना है आसक्ति पर जीवित है इसीलिए भावुक प्रकृति के लोगों के लिए अधिक उपयोगी है) वह अनायास ही छूट जाती है। परन्तु निष्ठा में कमी हो जाती हो ऐसी बात भी नहीं कही जा सकती। "स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहीं" जैसी अनुभूति सगुण भक्त के समान वह साधक भी कर सकता है जो राम या कृष्ण को शून्य रूप मानता हो। विशेषतः उड़िया वैष्णव कवि और महात्मा कबीरदास इसमें प्रमाण हैं।

कबीर में रतिमूलक रहस्यवाद भी है, माधुर्य भाव पर आश्रित रहस्य भावना भी है और इस पर उन लोगों ने विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है जिन्होंने कबीर की साधना को ईसाई और सूफी साधनाओं से मिलाया है यहां तक कि उन्होंने प्रेम और विरह को ही रहस्यवाद का सब कुछ मान लिया है और उसकी क्रमिक अवस्थाओं तक का विवेचन कर दिया है। परन्तु इन लोगों को यह नहीं मालूम कि जिसमें वे उत्तरोत्तर अवस्थाओं को निरूपित कर सकते हैं और उन्हें गिना सकते हैं उसमें रहस्य या रहस्यवाद क्या है? वह और कुछ भले ही हो रहस्यवाद नहीं है। सच्चा रहस्यवाद तो 'युगपद्' ज्ञान-साधना ही है जो एक क्षण में मन के रहस्य का साक्षात्कार कराती है जन्म-जन्म के क्लेशों को एक क्षण में धो डालती है और सहसा एक अज्ञानी जीव को बुद्ध की बराबरी का बना देती है। वासना के शब्दों में आत्मा-परमात्मा के कल्पित सम्बन्धों की मिथ्या अभिव्यक्ति भी क्या कोई रहस्यवाद है? ज्ञान-साधनात्मक रहस्यवाद को रूखा बताकर उसकी तुलना में इस मधुरआरोपोपनिबद्ध उपोक्त रहस्यवाद को रसात्मक बताने वालों की मानसिक भूमिका पर तो और भी तरस आता है। ऐसे लोग कबीर को काव्य-क्षेत्र में निम्न स्थान पर रखना चाहते हैं। परन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि यदि वे काव्य-क्षेत्र से कबीर को बिलकुल निकाल भी दें तो भी कबीर का कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। वह तथा में कबीर सत्य के जिज्ञासुओं के लिए और चमकेंगे। अस्तु, ध्यान-सम्प्रदाय को ध्यान में रखते हुए हमें यहां यह देखना है कि कबीर की इस मधुर-साधना का अभिप्राय क्या है? यहां संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि मधुर भावना की भक्ति कबीर की साधना का प्रकृत अंग नहीं है और ध्यान-साधना में तो वह बिलकुल ही अनुपस्थित है। प्रकृत रहस्यवाद के लिए न तो उपोक्त आस्तिकता की आवश्यकता है और न मधुर भावना की ही। भीतर और बाहर की गहन जिज्ञासा होनी चाहिये और उस पर भावात्मक प्रतिक्रिया हो सकती है। कबीर पहले ज्ञानी महात्मा थे बाद में भावुक भक्त। भावुकता के प्रति उनमें उतना

उतना भाव तो नहीं है जितना गोरखनाथ और ध्यान-सम्प्रदाय के सन्तों में परन्तु विचार और विवेक की ही उनमें प्रेम और भावुकता की अपेक्षा अधिकता है। आध्यात्मिक विरह के सम्बन्ध में कबीर ने बहुत कुछ कहा है, 'विरह को अंग' और 'रस को अंग' इन शीर्षकों से उनकी साखियों के दो अंग विरह और प्रेम की साधना पर ही हैं। परन्तु फिर भी प्रेम कबीर की साधना का आदि और अन्त नहीं है। वह बीच में आई हुई एक चीज है। यह सम्भव है कि जीवन की एक पूर्वावस्था में कबीर ने प्रेम की साधना की हो और उसकी सच्चाई का साक्ष्य उन्होंने दिया हो। कबीर का जीवन साधनाओं की प्रयोग भूमि जैसा था और अनेक साधनाओं को उन्होंने अपने जीवन में अनुभूत किया और उनकी सच्चाई का साक्ष्य दिया। प्रेम भी ऐसी ही एक साधना है परन्तु अन्ततः कबीर ज्ञानी थे और ज्ञानी होकर कोई रोता नहीं, किसी के भी विरह में ईश्वर के भी विरह में नहीं। मिलन और विरह ज्ञान के क्षेत्र में मिथ्या द्वन्द्वात्मक विचार हैं। ऐसा लगता है कि ज्ञानियों के प्रति अपने विरह-वर्णन के लिए कबीर साहब कुछ विनोद रूप में क्षमाप्रार्थी से भी हैं। उन्हें पता है कि विवेक और विरति के उपासक इस विरह के वर्णन को उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे। ज्ञान के क्षेत्र में ऐसे ज्ञानी पुरुषों को ही लक्ष्य करके वे विरह की वकालत-सी करते हैं

बिरहा बुरहा जिन कहौ बिरहा है सुलतान।

कबीर साहब ने विरह की वकालत तो कर दी, उसे साधना का सुलतान भी बना दिया और यह भी कह दिया कि उसे बुरा मत कहो, परन्तु इस बात से ही यह प्रकट हो जाता है कि वे इस साधना का समर्थन ही कर रहे हैं विरह को 'सुलतान' भी कुछ विनोद भाव के साथ बता रहे हैं और उन लोगों के प्रति उनमें आदर और उच्चता की भावना है जो उसे बुरा बताते हैं। कहने के ढंग से ही यह बात विदित हो जाती है। 'विरह को अंग' लिखने के बाद भी अलग से उन्होंने 'ज्ञान और विरह को अंग' लिखा इससे यह विदित होता है कि विरह को ज्ञान के साथ मिलाकर किसी प्रकार खपाने के लिए कबीर तैयार हैं।

यहाँ एक बात और याद आती है। 'ध्यानी' साधक बड़े विनोदी होते हैं। यदि किसी भी धर्म-साधना में हास्य भावना को इतना अधिक महत्व मिला है, तो केवल ध्यान-सम्प्रदाय में ही। कबीर में भी हास्य-भावना प्रचुर मात्रा में थी। मध्यकालीन भक्त साधकों में वे इस बात में सबसे अकेले हैं। कबीर जो

हास्य-भावना की ओर अभी विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे-जैसे मैं इस ज्ञानी साधक के माधुर्य भाव और दाम्पत्य रति सम्बन्धी वचनों को पढ़ता हूं मुझे उनमें एक अत्यन्त विमल और आध्यात्मिक पुरुष के विनोद के दर्शन होते हैं। माधुर्य या दाम्पत्य-रति की भक्ति रूपगोस्वामी के लिए गम्भीर थी, मीरा के लिए भी गम्भीर थी और सूफी साधकों के लिए तो वह थी ही। परन्तु कबीर की स्थिति भिन्न जान पड़ती है। उदाहरण के लिए देखिये कबीर साहब कहते हैं—"मैंने रो रोकर अपनी आँखें लाल कर ली हैं। यह लालिमा मेरे प्रियतम के प्रेम की प्रतीक है परन्तु संसार के लोग समझते हैं कि कबीर की आँखें दुखने आ गई हैं"—

आंखड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जाणे दुखड़ियां।
साईं अपने कारणै, रोइ रोइ रातड़ियां॥

इसे मैं एक पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष का विनोद कहता हूं। जो हद को छोड़कर बेहद में आ चुका शून्य में समाधि लगा चुका वैराग्य की तुरीयावस्था से आगे जाने का जिसने दावा किया, वह किसके लिए अपनी आँखें लाल करेगा? निश्चयतः एक परिपक्व ज्ञानी पुरुष मौज में आकर उद्गार कर रहा है अपनी मूल साधना या अभ्यास के विषय में नहीं बल्कि उसकी एक लहर या तरंग के सम्बन्ध में ही। कबीर ने दाम्पत्य रति को लेकर मन की मौज में जो कुछ कहा

उसकी एक भारी विशेषता यह है कि विनोद की भावना के साथ उसका प्रभाव गहरी विरति का है, यद्यपि शब्दावली 'रति' की है। एक पहुँचा हुआ ज्ञानी पुरुष ही ऐसा कर सकता था, जिसके जीवन में अध्यात्म और वैराग्य पूरी तरह रम रहा हो। "भाई मनवा की बारी। अभी उमरिया मोरी बारी।" इस 'झीने' की विदा में वही भाव हृदय पर आच्छादित हो जाता है जिसे कबीर देना चाहते हैं और व्यावहारिक 'झीना' तिरोहित रहता है। इसी प्रकार "नइहरवा हम को नहीं भावै" "नैहर से जियरा फाटे रे," "बालम आओ हमारे गेह रे", "कौन रंगरेजवा रंगे मोर चुनरी" "नैहर में दाग लगाय आई चुनरी", "ए सखियां अलसानी पिय हो सेज चलो" "अब मोहि ले चल ननद के बीर अपने देस।" हर जगह आपको एक ज्ञानी पुरुष के निर्दोष हास्य और विनोद के साक्ष्य मिलेंगे, जिसे आध्यात्मिक प्रयोजन में युक्त कर दिया गया है। प्रेम-तत्त्व के इसी रूप का बोध मुझे तो कबीर के रति-परक रहस्यवाद में होता है। हां, जहां वह 'प्रेम-पियाला' की बात कहते हैं वहां कबीर गम्भीर हैं। वस्तुतः प्रेम के इस

विचार' पक्ष पर ही हमें कबीर के सम्बन्ध में जोर देना चाहिये, जो अब तक नहीं दिया गया है। यदि हम ऐसा करें तो हम ध्यान-सम्प्रदाय के समीप ही हैं। अन्यथा सत्यानुभव को स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के रूप में व्यक्त करना हास्यास्पद ही है। यह मन का रोग है, सम्मोहावस्था है मिथ्या रहस्यवाद है। सच्चा रहस्यवाद वही है जो कहता है "यदि तू अपने अन्दर विचार करे तो बुद्धता तेरे अन्दर ही है। बाहर रहस्य खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है।" ध्यानियों के लिए मन का सार ही भगवान् है। "यदि हम ऐसे भाग्यवान् हो सकें कि इस जीवन में हमें 'सुचरह' शाखा के अनुगामी होने का अवसर मिले तो अचानक ही हम अपने मन के सार के भगवान् को देखेंगे।" शिव-योग की दीक्षा जीवन की पावनता के लिए अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है और न काम की भाषा में इसे व्यक्त ही किया जा सकता है। हम उस हानि का अनुमान नहीं लगा सकते जो साहित्य और काव्य के क्षेत्र में काम और अध्यात्म को पारस्परिक गड़बड़ी में डाल देने से हुई है। माधुर्य भाव की (निर्गुण या सगुण) भक्ति और दाम्पत्य-रति के प्रतीक जीवन की कठोर सादगी और निर्मम विचार के साथ मेल नहीं खाते, यह तो हमें याद रखना ही चाहिये।

कबीर की भक्ति-साधना में ध्यान-योग उसके साथ अभिन्न रूप से मिला हुआ है। यह बात उतनी हद तक हमें सगुण साधकों में नहीं मिलेगी। कबीर अहर्निश हरि-स्मरण के पक्षपाती हैं और उसी से वे 'दुर्लभ जोग' की प्राप्ति सम्भव मानते हैं। "अहनिस हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुर्लभ जोग।" भक्ति यहां दुर्लभ योग की सहायक है। इस प्रकार भक्ति का संयोग यहां ध्यान से है और यह अद्भुत सार्थक बात है। कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण इसी से हुआ है। एक ओर वे राम रस पीते हैं दूसरी ओर विचार करते हैं। "पिवत राम-रस करै विचारा।" पूर्वार्द्ध वैष्णव है उत्तरार्द्ध बौद्ध। पूरे कबीर दोनों हैं। कबीर का 'राम-रस' या 'हरि-रस' अन्ततः सत्य रस ही है। इसीलिये राम-नाम और सत-नाम कबीर-साधना में अत्यन्त सार्थक रूप से एक हो गये हैं।

विवेचनों का अन्त नहीं है। नाथ-पन्थ और कबीर-पन्थ के ऊपर बहुत कुछ कहा गया और पुराना कहा जा सकता है और उसे ध्यान-सम्प्रदाय के साथ मिलाया भी जा सकता है। परन्तु यह पुस्तक अधिकतर ध्यान-सम्प्रदाय के परिचय के रूप में ही लिखी गई है और अधिक विवेचन करना इसके लक्ष्य के विपरीत होगा। साधक-मन अधिक विस्तार चाहता भी नहीं। मूल बात यही है कि हमें वस्तुओं के चाहने और न चाहने को छोड़ देना चाहिये और अपने मन को जानना चाहिये। जिसने अपने मन को नहीं जाना उसके लिए न ध्यान-

सम्प्रदाय को जानने का कोई अर्थ है न योग-मत को, न निर्गुण-पन्थ को। मन ही बुद्ध है मन ही राम, मन ही निर्गुण, मन ही सगुण। न-वाद शून्य, निरंजन, सब मन के ही नाम हैं। अपने इस मन का, बृहत् मन का शुद्ध-स्वभाव का, हमें साक्षात्कार करना चाहिये। सारे रहस्यवाद यहीं रुक्ते हैं। सारे बुद्ध और सन्त यहीं समाधि लगा रहे हैं। बड़ी देर हुई! देखो, यह ध्यान-योगी (योका देदी) हमें किस भूले कर्तव्य की याद दिला रहा है

> "बहुत समय से तुमने अपने दर्पण के मैल को साफ नहीं किया है
> अब समय है कि तुम इसे ठीक प्रकार से साफ होते देखो।"

परिशिष्ट

ध्यान-सम्प्रदाय पर पठनीय साहित्य

ध्यान-सम्प्रदाय का मूल साहित्य चीनी और जापानी भाषाओं में है। केवल लंकावतार-सूत्र जो ध्यान-सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है संस्कृत में उपलब्ध है। उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह खेद की बात है कि इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद तो हो चुका है परन्तु हिन्दी अनुवाद अभी कोई प्रकाशित नहीं हुआ। इधर यूरोपीय विद्वानों और विचारकों का परिचय और सम्पर्क ध्यान-सम्प्रदाय के साथ बढ़ा है। फलतः अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं में ध्यान-सम्प्रदाय पर ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। स्वयं चीनी और जापानी विद्वानों ने भी अंग्रेजी (और अन्य यूरोपीय भाषाओं) में ध्यान-सम्प्रदाय पर परिचयात्मक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे हैं जो प्रामाणिकता और मौलिकता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यहां मैं कुछ मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त विशेषतः अंग्रेजी में लिखे ध्यान-सम्प्रदाय सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों का उल्लेख कर रहा हूं, जिससे मुझे आशा है ध्यान-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में पाठकों को कुछ अधिक जानकारी मिल सकेगी।

मूल ग्रन्थ और उनके अनुवाद

लंकावतार (-सूत्र)	बुनयु नंजियो द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित। ओटानी यूनिवर्सिटी प्रेस क्योटो (जापान) १९२३। द्वितीय संस्करण यहीं से सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ है।
दि लंकावतार सूत्र	लंकावतार-सूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद, डी०टी० सुजुकी द्वारा। रटलैज एण्ड केगन पॉल, लन्दन पुनर्मुद्रित, १९५६।
वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र	एफ० मैक्समूलर द्वारा सम्पादित, बुद्धिस्ट टैक्सट्स् फ्रोम जापान, एनेक्डोटा ओक्सनिय-

सिया आर्यन सीरीज प्रथम भाग मेक्समूलर द्वारा ही सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ४९ भाग द्वितीय, पृष्ठ १०९ १४४ में अंग्रेजी में अनुवादित। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद ए० एफ० प्राइस ने भी किया है जिसे 'दि ज्वैल ऑफ ट्रांसेन्डेन्टल विज्डम' (दि डायमण्ड सूत्र) शीर्षक से बुद्धिस्ट सोसायटी, लन्दन ने सन् १९४७ में प्रकाशित किया है। विलियम गैमेल ने भी 'दि डायमण्ड सूत्र' (चिन्-कंग्-चिंग्) शीर्षक से इस सूत्र का अनुवाद किया था जिसे कैगन पॉल, ट्रेंच ट्रूबनर एण्ड कम्पनी लन्दन ने सन् १९१२ में प्रकाशित किया। इसी प्रकार एस० बील ने भी इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में किया था। अभी हाल में ई० कॉञ्ज ने इसे सम्पादित और अंग्रेजी में अनुवादित किया है। रोम १९५७। अंग्रेजी में इतने संस्करण और अनुवाद हिन्दी में अभी कोई नहीं। परन्तु यह प्रसन्नता की बात है कि सन् १९६१ में मिथिला विद्यापीठ दरभंगा से बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, १७ के रूप में डा० प० ल० वैद्य के सम्पादकत्व में जो महायान सूत्र संग्रह प्रथम खण्ड निकला है उसके पृष्ठ ७५-८९ में वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र सम्पादित है। प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र भी यहां सम्पादित है। पृष्ठ ९७-९९। अनुवाद की आवश्यकता तो अभी बनी ही हुई है।

छठे धर्मनायक वे-लॅग् (हुइ नेंग्) द्वारा भाषित सूत्र (मञ्च सूत्र)

अंग्रेजी अनुवाद 'दि सूत्र स्पोकन बाई दि सिक्स्थ पेट्रियार्क वे-लॅग् (हुइ-नेंग्)' शीर्षक

से । अनुवादक—वोंग् मो-लम्; प्रकाशक—यु चिंग् प्रस, शंघाई १९३० । इसी अनुवाद का नया संस्करण क्रिसमस हम्फ्रेज ने अल्प भाषात्मक संशोधनों के साथ प्रस्तुत किया है जिसे 'दि सूत्र ऑव वे-लंग् (या हुइ-नेंग्)' शीर्षक से बुद्धिस्ट सोसायटी लन्दन के लिए लुज़ाक एण्ड कम्पनी लन्दन ने सन् १९४४ में प्रकाशित किया है । इसी का संशोधित संस्करण सन् १९५३ में लुज़ाक एण्ड कम्पनी ने ही निकाला है ।

दि ज़ेन् टीचिंग ऑव हुआङ् पो ऑन् दि ट्रांसमिशन ऑव माइण्ड

हुआङ्-पो के प्रवचनों संवादों और जीवन प्रसंगों का अंग्रेजी अनुवाद । अनुवादक जोह्न ब्लोफ़ेल्ड (चु-चन्) प्रकाशक राइडर एण्ड कम्पनी लन्दन १९५८ । इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का अनुवाद पहले (सन् १९४७ में) 'दि हुआङ्-पो डॉक्ट्रिन ऑव यूनिवर्सल माइण्ड' शीर्षक से निकला था जो भी इसी अनुवादक का किया हुआ था । प्रस्तुत अनुवाद हुआङ्-पो के सम्पूर्ण प्रवचनों, संवादों और जीवन-प्रसंगों का है ।

दि पाथ टु सडन अटेनमेण्ट

हुइ-हाइ के प्रवचनों का संग्रह । अंग्रेजी अनुवादक जोह्न ब्लोफ़ेल्ड (चु-चन्) बुद्धिस्ट सोसायटी लन्दन के लिए सिडविक एण्ड जैक्सन १९४८ ।

दि ज़ेन् टीचिंग्स ऑव हुइ-हाइ ऑन सडन अटेनमेण्ट

विषय पूर्ववत् । अनुवादक भी जोह्न ब्लोफ़ेल्ड । प्रकाशक राइडर एण्ड कम्पनी लन्दन ।

दि सूत्र ऑव ४२ सेक्शन्स एण्ड टु अदर स्क्रिप्चर्स ऑव दि महायान स्कूल

अंग्रेजी अनुवादक जोह्न ब्लोफ़ेल्ड (चु-चन्) । बुद्धिस्ट सोसायटी लन्दन १९४७ ।

१०१ चेन् स्टोरीज	ग्योजेन सेंजाकि तथा पॉल रैप्स द्वारा अनुवादित डेविड मेके कम्पनी फिलेडलफिया, १९४०।
	अध्ययन-ग्रन्थ
कैतन नुकारिया	दि रिलिजन ऑफ दि समुराई लुजाक एण्ड कम्पनी लन्दन १९१३।
डी० टी० सुजूकी	स्टडीज इन दि लंकावतार-सूत्र रटलेज एण्ड केगन पॉल लन्दन पुनर्मुद्रित १९५६।
	एसेज इन चेन् बुद्धिज्म फर्स्ट सीरीज राइडर, लन्दन १९५८।
	एसेज इन चेन् बुद्धिज्म, सैकिण्ड सीरीज, राइडर, लन्दन, १९५८।
	एसेज इन चेन् बुद्धिज्म थर्ड सीरीज राइडर, लन्दन १९५३।
	एन इन्ट्रोडक्शन टु चेन् बुद्धिज्म राइडर लन्दन १९४८।
	मैनुअल ऑफ जेन् बुद्धिज्म, राइडर, लन्दन, १९५०।
	स्टडीज इन जेन्, राइडर, लन्दन, १९५०।
	दि ट्रेनिंग ऑफ दि चेन् बुद्धिस्ट मौंक दि ईस्टर्न बुद्धिस्ट सोसायटी क्योतो (जापान), १९३४।
	जेन् एण्ड जापानीज बुद्धिज्म, जापान ट्रेविल ब्यूरो टोक्यो, जापान प्रथम संस्करण, १९५८।
	लिविंग बाई जेन् सेन्सीडो पब्लिशिंग कम्पनी, टोक्यो १९४९।
	दि जेन् डॉक्ट्रिन ऑफ नो-माइण्ड राइडर, लन्दन १९४९।
रैहो मसुनगा	दि सोतो अप्रोच टु जेन् लेमैन बुद्धिस्ट सोसायटी प्रेस टोक्यो।
एलन डब्ल्यू वाट्स	दि स्पिरिट ऑफ जेन् (विज़्डम ऑफ दि ईस्ट सीरीज) जोह्न मरे, लन्दन पुनर्मुद्रित १९४८।

दि वे ऑव बोध् टेम्स एण्ड हडसन लन्दन, द्वितीय आवृत्ति १९५८।

क्रिसमस हम्फ्रेज़ : बौद्ध बुद्धिज्म पेलीकन लन्दन, १९५१। इसी का 'पेनगिन बुक्स' में भी संस्करण निकला है लन्दन १९६१।
बौद्ध कम्स वैस्ट जार्ज एलिन एण्ड अनविन लन्दन १९६०।

न्योजेन सेंजाकि और आर० एस० मैकेण्डलेस : बुद्धिज्म एण्ड जन् फिलोसोफीकल लाइब्रेरी न्यूयार्क १९५३।

फुंग-यू ली (अंग्रेजी अनुवाद चाउ-हू स्यांग्-कुआंग् द्वारा) : बुद्धिज्म एण्ड दि थाट् स्कूल ऑव चाइना इण्डो चाइनीज लिटरेचर पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, १९५६।

चाउ-हू स्यांग्-कुआंग : ध्यान बुद्धिज्म इन चाइना इण्डो-चाइनीज लिटरेचर पब्लिकेशन्स इलाहाबाद १९६०।

वे-वु-वे : फिंगर्स पोइंटिंग टु दि मून रटलेज एण्ड केगन पॉल लन्दन १९५८।

मूल जर्मन लेखक कार्लफ्रीड ग्राफ वॉन डर्कहीम अंग्रेजी अनुवादक ईडा ओ' शील : दि जापानीज कल्ट ऑव ट्रॅंक्विलिटी राइडर एण्ड कम्पनी लन्दन।

ओकाकुरा ककुजो : दि बुक ऑव टी; फोलिस एडिनबरा, १९१९।

आर० एच० ब्लाइथ : जैन् इन इंगलिश लिटरेचर एण्ड ओरियण्टल क्लासिक्स होकुसीडो प्रेस टोक्यो १९४२।

युंजिरो तकाकुसु : दि एसेन्शियल्स ऑव बुद्धिस्ट फिलासफी; एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई, १९५६ (प्रथम भारतीय संस्करण) पृष्ठ १६० १७१।

आनन्द कुमारस्वामी : बुद्ध एण्ड दि गोस्पल ऑव बुद्धिज्म एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई १९५६। पृष्ठ २२४ २२६।

ई० स्टीनिलबर-ओबरलिन — दि बुद्धिस्ट सैक्ट्स् ऑव जापान; जार्ज एलिन एण्ड अनविन लन्दन, १९३८। पृष्ठ १२१ १८४

सर चार्ल्स इलियट — जापानीज बुद्धिज्म; एडवर्ड आर्नोल्ड एण्ड कं० लन्दन १९३५। पृष्ठ १९० १७२-२८२ २८८, ३९६ ४१५।

आर० सी० आर्मस्ट्रांग — एन इन्ट्रोडक्शन टु जापानीज बुद्धिस्ट सैक्ट्स् कनाडा, १९५०। पृष्ठ २९२-२९५।

क्लार्क गोडर्ड (सम्पादक) — ए बुद्धिस्ट बाइबिल, परिवर्धित संस्करण; ई० पी० डटन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क १९५२। पृष्ठ ८१ १५६।

अनुक्रमणिका